POETICS AND AESTHETICS-(II)

M.A. (SANSKRIT) I Semester Paper -V

Director

Dr.Nagaraju Battu

M.H.R.M., M.B.A., L.L.M., M.A. (Psy), M.A., (Soc), M.Ed., M.Phil., Ph.D.

Centre for Distance Education

Acharya Nagarjuna University

Nagarjuna Nagar-522510

Phone No.0863-2346208, 0863-2346222, Cell No.9848477441

0863-2346259 (Study Material)

Website: www.anucde.info

e-mail: anucdedirector@gmail.com

	पृष्ठ
३. बीभत्स रस	३३९
४. रौद्ररस	३४१
५. हास्य रस	३४२
६. अद्‌भुत रस	३४४
७. भयानक रस	३४५
८. करुण रस	३४७
उक्त रसों में ही अन्य भावों का अन्तर्भाव	३४८
नाट्य-लक्षण एवं नाट्यालङ्कारों का अन्तर्भाव	३४८
ग्रन्थोपसंहार	३४९

	पृष्ठ
परिशिष्टम् १.	
दशरूपावलोके प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थ-काराणां च नामानि	३५१,३५२
परिशिष्टम् २.	
पारिभाषिक-शब्दानुक्रमणिक।	३५३
परिशिष्टम् ३.	
उदाहृतपद्यानुक्रमणिका	३५६-३६७
परिशिष्टम् ४.	
उद्धरणानुक्रमणिका	३६८

■

भूमिका

संस्कृत नाटकों का उद्‌भव एवं विकास

नाट्यशास्त्र में उक्त **भारतीय परम्परा** के अनुसार नाटक की उत्पत्ति त्रेतायुग में ब्रह्मा के द्वारा की गई थी। भरत के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर मनोविनोदनार्थ ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीति, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्य-वेद' रूप पञ्चम वेद की रचना की।[1] ब्रह्मा ने अभिनय-संकेत भी भरतमुनि को प्रदान किए। नटराज भगवान् शङ्कर ने ताण्डव और जगदम्बा पार्वती ने लास्य नृत्य से नाट्य को अनुगृहीत किया, और भारत भू-पर इन्द्रध्वज महोत्सव पर नाट्य का सर्वप्रथम अभिनय हुआ। इस तरह भारतीय परम्परा नाटकोत्पत्ति को दैवी परम्परागत मानती है।

नाट्य में संवाद और अभिनय का ही प्राधान्य होता है। भारत के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में संवाद के अनेक स्थल हैं, जिन्हें संस्कृत नाटकों का मूल कहा जा सकता है। इन संवादों में यम-यमी संवाद[2], पुरुरवा-उर्वशी संवाद[3], सरमा-पणि संवाद[4], इन्द्र-इन्द्राणी व वृषकपि संवाद[5], इन्द्र-मरुत् संवाद[6], विश्वामित्र-नदी संवाद[7] तथा अगस्त्य एवं उनकी पत्नी लोपामुद्रा का संवाद[8] प्रमुख है। इस प्रकार ऋग्वेद में लगभग १५ ऐसे सूक्त हैं जिनमें दो या अधिक वक्ताओं के बीच सम्भाषण प्रस्तुत किया गया है। संवाद ही नाट्यसाहित्य का प्राथमिक रूप है और बाद में उसको अभिनय का पुट दिया गया। (i) **मैक्समूलर** का मत है कि कथित संवाद सूक्त इन्द्र, मरुत तथा अन्य देवताओं की स्तुति में उनके अनुयायियों द्वारा यज्ञ के समय गाये जाते थे। (ii) **सिलवाँ लेवी** का कथन है कि सामवेद काल में गान-कला अपने विकास की चरम सीमा पर थी और ऋग्वेद में सुन्दर परिधान पहनकर स्त्रियों द्वारा अपने प्रेमियों को आकृष्ट करने का उल्लेख भी है। अतः उनका मत है कि यज्ञादि के अवसर पर नाट्याभिनय अवश्य होता होगा।[9] (iii) जर्मन विद्वान् **डा० हर्टल** ने इन सूक्तों को गेय मानकर यह निरूपित किया कि इन गेय सूक्तों को एक से अधिक व्यक्ति मिलकर गाते थे। इस प्रकार वक्ताओं की विभिन्नता हो जाती थी, जिसने नाट्याभिनय को

---

१. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ ना० शा० १।

२. ऋ० १०.१०। ३. ऋ० १०.९५। ४. ऋ० १०.१०८ ५. ऋ० १०.८६। ६. ऋ० १.१६५, १७०। ७. ऋ० ३.३३। ८. ऋ० १.७९। ९. कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० १५-१६

प्रेरित किया (iv) **प्रो० वान् श्रोडर** ने इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए बतलाया कि इन संवाद सूक्तों के गान के साथ नृत्य भी होता होगा क्योंकि मानव विज्ञान के अनुसार संगीत और नृत्य का अभिन्न सम्बन्ध होता है। गेय और अभिनय दोनों तत्त्व यहाँ मिल जाते हैं जो नाट्य का बीज है। (v) **डा० विडिश, ओल्डेनबर्ग** एवं **पिशेल** का अनुमान है कि ये सूक्त पहले गद्य-पद्यात्मक थे। ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेप का आख्यान और शतपथ ब्राह्मण का पुरुरवा-उर्वशी-आख्यान इस प्रकार के अंश के प्रमाण हैं। अतः इन्हीं से नाट्य का उद्भव हुआ है। (vi) **डा० ए० बी० कीथ** इन दोनों मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेद के इन सूक्तों का न तो गायन होता था और न अभिनय ही; क्योंकि गायन और अभिनय तो क्रमशः साम और यजुः के तत्त्व हैं, जिनमें संवाद-सूक्तों का सर्वथा अभाव है। इनका मात्र 'शंसन' ही होता था। वस्तुतः नाट्य की तात्त्विक स्थिति वेद में अवश्य है किन्तु यह बीज रूप में है।

(क) **डा० पिशेल** भारतीय नाट्याभिनय की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानते हैं। भारत में इसका प्रचार अत्यन्त प्राचीन है; क्योंकि महाभारत और कथासरित्सागर में उनका वर्णन मिलता है। वस्तुतः पुत्तलियों को नचाने वाला उनके सूत्रों को पकड़े रहता है यही सूत्रधार शब्द की संज्ञा का मूल आधार है। (ख) **डा० रिजवे** के अनुसार सूत्रधार नाटक की कथावस्तु आदि का संक्षेप से सूत्ररूप में वर्णन कर देता है इसी कारण इसकी 'सूत्रधार' संज्ञा है,[1] यह किसी डोरी को धारण करने के कारण नहीं है। इस प्रकार पिशेल के मत का खण्डन करते हुए उसे भ्रमात्मक बतलाया; और नाटक को उद्गम वीर पूजा से सम्बन्धित बतलाया। इनके अनुसार नाटक का उद्भव मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखाने की भावना से हुआ। (ग) **डॉ० पिशेल** का दूसरा मत-छाया-नाटक से नाट्य के उद्भव का भी है। **डा० स्टेन कोनो** ने इनके मत का समर्थन किया। संस्कृत में कुछ छाया नाटक प्राप्त होते हैं जैसे सुभट कवि का 'दूताङ्गद'। इनमें पर्दे के पीछे से दीपक की सहायता से छाया द्वारा नाटक दिखलाया जाता है। अभिनेताओं की छाया ही सामाजिकों को दिखाई पड़ती है। 'दूताङ्गद' आदि इने-गिने परवर्ती छाया नाटकों से भारतीय नाटक का उद्गम मानना उचित नहीं है। फिर नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों में इनके स्वरूप की भी प्राप्ति हमें नहीं होती।

(i) कुछ पाश्चात्य विद्वान् नाट्यशास्त्र में वर्णित इन्द्रमहोत्सव से नाटक का उद्भव मानकर योरोप के मे-पोल डान्स को इसके अनुरूप मानते हैं। इस डान्स में एक युवती को सजाकर मई की रानी बनाया जाता है और मई मास के प्रतिरूप एक बांस के चारों ओर लोग नृत्य करते हैं। नाट्यशास्त्र में 'जर्जर' इसका प्रतीक है। किन्तु यह मत

---

१. सूत्रयन् काव्य निक्षिप्त वस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नान्दन्ते सूत्रधार इति स्मृतः॥ भावप्रकाशनम् १०.४५।

कल्पित आधारों के कारण अशक्त है। (ii) **डा० वेबर** भारतीय नाटकों को यूनानी (ग्रीक) नाटकों की देन मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृत नाटकों में पर्दे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द 'यवन' से बना है। डा० कीथ ने इसका खण्डन कर दिया। यूनानी नाटक खुले मैदान में होते थे, अतः 'यवन' शब्द से सम्बन्ध बताकर इससे भारतीय नाटकों की उत्पत्ति बताना उचित नहीं है। (iii) **मैकडानल** ने नाट्य के उद्गम को इसकी प्रारम्भिक अवस्था 'नृत्त' से माना है।

रामायण और महाभारत-काल में आकर नाटक का कुछ और स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण के आरम्भ में अयोध्या-वर्णन के प्रसङ्ग में महर्षि वाल्मीकि ने वहाँ पर नाटक मण्डलियों और वाराङ्गनाओं का उल्लेख किया है।[1] राम के अभि-षेक के समय भी नटों, नर्तकों व गायकों आदि की उपस्थिति और अपने कला कौशल से लोगों को आनन्दित करने का भी वर्णन प्राप्त होता है।[2] महाभारत के विराट पर्व में रङ्गशाला का उल्लेख है। इसी प्रकार नट व शैलूष [= अभिनेता] आदि शब्दों का भी प्रयोग है। हरिवंश के ९१ से ९७ अध्याय के बीच दो नाटक के अभिनय का भी उल्लेख है। दैत्य वज्रनाभ के वधार्थ भगवान् श्रीकृष्ण और यादवों ने कपट-नटों के रूप में रामायण का नाटक उसकी पुरी में किया। इसके अतिरिक्त 'कौबेररम्भाभिसार' नाटक भी किया। नाटक इतना सुन्दर था कि उपहार में दैत्य-पत्नियों ने अपने आभू-षण दे डाले। डा० कीथ हरिवंश को महाभारत के बाद (दूसरी-तीसरी शती) की रचना मानते हैं। अतः हरिवंश के इन उल्लेखों का महत्त्व कम समझा जाता है।

पाणिनि (४ थी शती ई० पू०) की अष्टाध्यायी में शिलाली एवं कृशाश्व के नटसूत्रों (= नाट्यशास्त्र) का उल्लेख है।[3] हिलेब्रान्ड के अनुसार भारतीय नाट्य साहित्य की ये प्राचीनतम कृति होनी चाहिए। किन्तु कीथ और सिलवाँ लेवी इन्हें नाट्याचार्यों का नाम न मानकर 'शिलाली' का अर्थ 'जिसके पास शिला की शय्या है और अन्य कुछ-भी सोने को नहीं है' तथा कृशाश्व का अर्थ कृश-गात घोड़ों से लेते हैं। **पातञ्जल महाभाष्य** (दूसरी शती ई० पू०) में 'कंसवध' और 'बलिबन्धन' सम्बन्धी दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख है।[4] पाश्चात्य विद्वान् वेबर और ल्यूडर्स इस स्पष्ट उल्लेख

---

१. वधूनाटकसङ्घैश्च संयुक्ताम्—वा० रा० १-।
२. नट-नर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥ वा० रा०—
३. पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (पा० सू० ४.३.११०); कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (पा० सू० ४.३.१११)।
४. 'इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति……प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।' (महाभाष्य ३.१.२६) अर्थात् जब कंस पहले ही मर चुका और बलि का बन्धन भी अतीत काल में हो चुका तो ये नट कैसे वर्तमान काल में प्रत्यक्ष रूप से कंस को मारते हैं अथवा बलि को बाँधते हैं।

की व्याख्या भी इधर-उधर कर देते हैं। वेबर इस उल्लेख का सम्बन्ध पुत्तलिका से मानते हैं। ल्यूडर्स के अनुसार नट बिना संवाद के कंसवध या बलिबन्धन दिखाते थे, इसका प्रमाण 'शोभनिकाः' शब्द है। जो कुछ भी हो, किन्तु पतञ्जलि की इन पंक्तियों में नाट्याभिनय का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है। वात्स्यायन के कामसूत्र (दूसरी शती ई० पू०) में भी नाटक एवं नटों का उल्लेख है।[१]

इस प्रकार नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। फिर भी हमें यह मानना ही होगा कि किसी न किसी रूप में नाट्य के उद्भव का मूल वेदों में विद्यमान है। जिसका निरूपण आख्यान के रूप में नाट्यशास्त्र में हुआ है। संस्कृत नाटक ने अपने क्रमिक विकास में कुछ तत्त्व वेदों से और कुछ इतिहास-पुराण से लिए हैं; जिनकी अक्षुण्ण-परम्परा भास से लेकर आजतक विद्यमान है। संस्कृत के नाटककारों में कालिदास, शूद्रक एवं भवभूति का प्राधान्य है। इनमें भी कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को समस्त नाटक-साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त है। आज तक लगभग २०० भाषाओं में इस नाटक का अनुवाद हुआ। इस नाटक का चौथा अङ्क और इसमें भी चार श्लोक प्रमुख माने जाते हैं।[२] किन्तु नाटकीय सिद्धान्त और प्रक्रिया में खरे उतरने वाले नाटक 'रत्नावली' और 'वेणीसंहार' को ही आचार्यों ने मान्यता दी है। धनिक ने इन्हीं दो नाटकों से बहुत अधिक उद्धरण लिए हैं।

नाट्यशास्त्र और नाट्यकला विषयक ग्रन्थों का इतिहास

नाट्यकला विषयक दो ग्रन्थों का सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनि (३०० ई० पू०) ने अष्टाध्यायी में किया है।[३] ये शिलालिन् और कृशाश्व द्वारा संग्रहीत नटसूत्र थे। हिलब्रान्ड के अनुसार ये कृतियाँ भारतीय नाटक की प्राचीनतम कृति होनी चाहिए।[४] यह कहना कठिन है कि कौन सी रचना प्राचीनतम है फिर भी भरत का नाट्यशास्त्र उपलब्ध-नाट्य विषयक ग्रन्थों में अत्यन्त प्राचीन है।

आचार्य भरत और उनका नाट्यशास्त्र—नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत माने जाते हैं। इनका समय विद्वान् ई० पू० प्रथम-द्वितीय शती से लेकर ईसा की चतुर्थ-पञ्चम शती तक मानते हैं।[५] शारदातनय के अनुसार नाट्यशास्त्र के दो प्रकार

१. कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां.....परस्परस्यैककार्यता ॥ काम० १.४.२८.३१।

२. काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

३. (i) 'पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षनटसूत्रयोः' पा० सू० ४.३.११०; (ii) 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' पा० सू० ४.३. १११।

४. कीथ, सं० ना०, पृ० ३०९।

५. सुशीलकुमार दे, हि० आफ़ सं० पोइटिक्स, पृ० ३१ तथा काणे, सं० सा० का इति. पृ० २८।

के मूल-पाठ थे—एक बारह हजार श्लोकों का 'द्वादशसाहस्री-संहिता' और दूसरा, जो उपलब्ध है, छः हजार श्लोकों का 'षट्साहस्री-संहिता।'[१] सम्प्रति नाट्यशास्त्र के दो संस्करण (१) निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित ३७ अध्याय का और (२) चौखम्बा संस्कृत सीरिज से प्रकाशित ३६ अध्याय का पाया जाता है। प्रथम की अपेक्षा दूसरा संस्करण ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है क्योंकि अभिनवगुप्त ने स्वयं इसे 'षट्-त्रिंशक भरतसूत्रम्' कहा है।[२] अतः विद्वानों के अनुसार इसका ३७ वाँ अध्याय बाद में जोड़ा गया है।

संक्षेपतः नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु इस प्रकार है—'नाट्योत्पत्ति' नामक प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति का विवेचन है। 'मण्डपाध्याय' नामक द्वि० अ० में मण्डप अर्थात् प्रेक्षागृह आदि के रचना का वर्णन है। 'रङ्गदैवतपूजन' नामक तृ० अ० में रङ्गदेवता की पूजा का संविधान है। ४–६ अध्याय में क्रमशः ताण्डवलक्षण, पूर्वरङ्ग विधान और रस का विवेचन है। 'भावव्यञ्जक' नामक सातवें अ० में भावों का तथा 'अङ्गाभिनयाध्याय' नामक आठवें अध्याय में आङ्गिक अभिनयों आदि का वर्णन है। 'उपाङ्गाभिनय' नामक नौवें अध्याय में हाथ-पैर आदि के अभिनयों का प्रतिपादन है। दसवें व ग्यारहवें 'चारी विधान' और 'मण्डलविकल्पनम्' नामक अ० में चारी (=नृत्य की गति के भेद) तथा नृत्य गति की व्याख्या है। 'गतिप्रचार' नामक बारहवें अध्याय में रङ्गभूमि में पात्रों के प्रवेश आदि की विधियों का विवेचन है। 'कक्षाप्रवृत्तिधर्मी' नामक तेरहवें अध्याय में भारती आदि वृत्ति एवं आवन्ती प्रवृत्तियों का वर्णन है। १४-१५ अ० में वाचिक अभिनय और १६ वें अ० में नाट्य लक्षण, छन्द, अलङ्कार, काव्य के दोष व गुण आदि का वर्णन है। सत्रहवें में काकुस्वर विधान एवं भाषाओं की विवेचना है। दशरूपकाध्याय नामक अठ्ठारहवें अध्याय में दस रूपकों के लक्षण और १९-२० अध्याय में वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग व भारती आदि वृत्तियों के अङ्गों का वर्णन है। २१ वें अ० में आहार्य अभिनय और वेशभूषा आदि का विधान है। 'सामान्याभिनय' नामक बाइसवें अ० में हाव-भाव, प्रेम की दस अवस्थाएँ एवं युवतियों के अलङ्कार आदि का वर्णन है। २३ वें अ० में नारी की प्रकृति और २४ वें अ० में नायक-नायिका भेद का वर्णन है। चित्राभिनय नामक २५ वें अ० में अभिनय सम्बन्धी निर्देश एवं नाट्योक्ति वर्णित है। २६-२७ में नाट्य-प्रयोग। २८ वें अ० में आतोद्य-प्रयोग। २९ वें में आतोद्य-

१. एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्थतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥ भावप्रकाशनम् पृ० २८७।

२. षट्त्रिंशकात्मकजगद्गगनावभाससंविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन् वन्दे शिवं श्रुतितदर्थ विवेकधाम ॥अभि० भा० २

विधान, ३० वें में सुषिर-आतोद्य का स्वरूप, ३१-३२ में ताल एवं लय आदि, ३३ वें अध्याय में गायक-वादक का गुण व दोष वर्णित है। ३४ वें अध्याय में मृदङ्ग आदि वाद्यों का वर्णन है। ३५ वाँ अ० 'भूमिका-पात्र-विकल्पाध्याय' है, जहाँ नाट्यमण्डली की विशेषता, सूत्रधार, विट् विदूषक व शकार आदि का विवरण है। ३६ वें अ० में नट्यावतार का वर्णन दो आख्यानों के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो संस्करण ३७ अध्याय का है वहाँ द्वितीय आख्यान (नहुष की कथा) वर्णित है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह भारतीय कलाओं का एक विश्वकोश है।

नाट्यशास्त्र का काल और उसका स्वरूप—वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी एक काल की रचना नहीं मालुम होती; अपितु यह कई शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है। इसका कारण यह है कि इसमें बहुत पाठभेद मिलते हैं और इसका स्वरूप भी आद्योपान्त एक सा नहीं है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में गद्य, सूत्र-रूप, कारिकाएँ और वंशानुगत श्लोक हैं। विद्वानों के अनुसार मूल नाट्यशास्त्र में सूत्र और उसका भाष्य ही था।[1] अतः गद्यभाग, जो सूत्र और भाष्य के रूप में हैं नाट्यशास्त्र का प्राचीनतम रूप है। सूत्र व भाष्यगत अभिप्राय को समझाने के लिए किञ्चित् बाद में कारिकाओं की रचना हुई होगी। इन कारिकाओं की संख्या लगभग पाँच हजार है। इनके अतिरिक्त गुरुशिष्यपरम्परा से प्राप्त आनुवंश्य श्लोकों का संग्रह भी इसमें किया गया है।[2] पूर्वाचार्यों की लगभग सौ कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। ये श्लोक वस्तुतः प्राचीन आचार्यों के हैं। भरतमुनि ने मात्र इन्हें यथास्थान रख दिया है।[3] इस प्रकार वर्त्तमान नाट्यशास्त्र अनेक परम्परागत विद्याओं का समन्वित रूप है जो कई शताब्दियों की देन हैं।

अभिनवगुप्त के ही समय में नाट्यशास्त्र के कर्त्ता के विषय में सन्देह किया जाने लगा था कि इसके रचयिता भरत न होकर भरत के कोई शिष्य हैं।[4] किन्तु अभिनव

१. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। को वा दृष्टान्त इति चेद् उच्यते ॥ ना० शा० ६-३१।
२. अत्रानुवंश्यौ भवतः ना० शा० ६.३५ पर अभि० भा०।
३. (i) भवन्ति चात्र श्लोकाः, (ii) आत्रार्ये भवतः, (iii) ता एता ह्यार्या एक-प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः॥ ना० शा० ६.७० पर अभि० भा०।
४. 'एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयी-सारासारविवेचनपरं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रं, न तु मुनिविर-चितम्' इति यदाहुर्नास्तिक धुर्योपाध्यायास्तत्प्रयुक्तम् ॥ ना० शा० १.६ पर अभि० भा०।

गुप्त ने इसका खण्डन किया; और यह निश्चित किया कि इस ग्रन्थ की रचना स्वयं प्रश्नोत्तर करके भरत ने ही की थी।[1]

नाट्यशास्त्र के समय के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं—म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वि० शती में, प्रो० सिलवाँ लेवी क्षत्रपों के शासन के समय में, डी० सी० सरकार द्वि० शती में और मनमोहन घोष प्रथम से द्वि० शती के बीच में नाट्यशास्त्र की रचना का समय मानते हैं। किन्तु इन मतों का खण्डन करते हुए पी० वी० काणे ने सिद्ध किया है कि यह तृतीय शती से पूर्व की रचना नहीं है।[2]

भरत के पूर्ववर्ती आचार्य—नाट्यशास्त्र के अन्त में भरत ने अपने पूर्ववर्ती चार आचार्यों कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और दत्तिल का उल्लेख किया है।[3] **कोहल** का उल्लेख अभिनवगुप्त ने भी अनेक बार किया है।[4] छठें अध्याय में अभिनवगुप्त द्वारा 'अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते' कहते हुए नाट्य के रस भाव आदि ग्यारह अङ्गों के विषय में भरत से कोहल के मत की भिन्नता दिखाई गई है। आगे भी अभिनवगुप्त ने अन्य छः स्थलों पर कोहल के श्लोक आदि प्रस्तुत किए हैं।[5] आचार्य दत्तिल का अभिनवगुप्त ने संगीताध्याय में तथा अन्यत्र १५ से भी अधिक बार स्मरण किया है।[6] किन्तु **वात्स्य** और **शाण्डिल्य** का उन्होंने कहीं नाम भी नहीं लिया है। नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों में **नखकुट्ट** और **अश्मकुट्ट** का भी उल्लेख मिलता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने तथा सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश' में क्रमशः नखकुट्ट और अश्मकुट्ट के मतों की चर्चा की है। वैसे नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत के सौ पुत्रों में कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल के अतिरिक्त इन दोनों आचार्यों की भी गणना है। इसी प्रकार **बादरायण** का भी भरत-पुत्रों में उल्लेख है। सागरनन्दी ने भी इनका बादरायण व बादरि नाम से दो बार

१. एवं भरतमुनिः परवदात्मानं प्रकल्प्येयन्तं ग्रन्थमभिहितवान् ॥ ना० शा० १.६ पर अभि० भा०।
२. द्र० हि० आफ सं० पो०, पृ० ४०-४२।
३. कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम् ॥
४. इत्येषा कोहलप्रदर्शिता नान्दी उपपन्नाभवति ॥ ना० शा० १ पर अभि भा०।
५. बाद के ग्रन्थ भावप्रकाश में भी कोहल के मत अनेक बार उद्धृत हैं।
६. रसार्णवसुधाकर, कामशास्त्र और कुट्टनीमतम् में भी दत्तिल या दत्तकाचार्य का उल्लेख है। रामकृष्ण कवि के अनुसार 'गन्धर्ववेदसार' नामक उन्होंने एक ग्रन्थ भी रचा था (जे० आन्ध्र० एच० आर० एस० भाग ३, पृ० २४)। नृत्तकला के विषय में 'दत्तिल-कोहलीयम्' नामक एक Ms. तञ्जौर में है।

स्मरण किया है। अभिनवभारती आदि[1] के आधार पर **विशाखिल** का भी उल्लेख
पी०वी० काणे ने पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों में किया है। रेचक, करण, अङ्गहार तथा संगीत
के प्रसङ्ग में **तुम्बुरु** का भी उल्लेख नाट्यशास्त्र में है। **शातकर्णी** का भरत-पुत्रों में
शातकर्णी नाम मिलता है। शिलालेखों में भी शातकर्णी का नाम पाया जाता है।
रुचिपति उपाध्याय की अनर्घराघव की व्याख्या में शातकर्णी का उद्धरण मिलता है।
सागरनन्दी ने भी इनका उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त कात्यायन, राहुल, गर्ग
शकली गर्भ और घण्टक के मतों का भी उल्लेख अभिनवभारती में मिलता है।

नाट्यशास्त्र की टीकाएँ—भरत के नाट्यशास्त्र पर कई टीकाएँ लिखी गईं,
जिनमें से कई अनुपलब्ध हैं। भरत टीका, हर्षकृत वार्तिक, शाक्याचार्य राहुल कृत
कारिकाएँ, मातृगुप्त कृत टीका और कीर्तिधर कृत टीका का हमें केवल नाम या संकेत
भर मिलता है या कुछ उद्धरण प्राप्त होते हैं। भरत के रस सूत्र 'विभावानुभावव्यभि-
चारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या के प्रसङ्ग में लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और
अभिनवगुप्त प्रसिद्ध आचार्य माने गए हैं। अभिनवगुप्त ने इनके मतों का उल्लेख
अभिनवभारती में किया है।

भट्ट लोल्लट—अभिनवभारती में लोल्लट के मतों का उल्लेख ग्यारह बार हुआ
है। सम्भवतः इन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी होगी जो सम्प्रति उपलब्ध
नहीं है। सर्वप्रथम लोल्लट ने ही रस सूत्र की व्याख्या की और 'संयोगात्' से कार्यकारण-
भाव-रूप सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' पद से 'उत्पत्ति' अर्थ लिया। ये मीमांसक थे, और
अभिधा को ही समस्त काव्यार्थ का साधन मानते थे। उनके अनुसार शब्द के प्रत्येक
अर्थ की प्रतीति उसी प्रकार होती है जैसे कोई बाण अकेला ही कवच को भेदकर,
शरीर में प्रविष्ट हो प्राणों का अपहरण कर लेता है।[2] लोल्लट काश्मीरी थे। इनके मत
का प्रभाव भी हमें दशरूपक पर दिखाई पड़ता है। विद्वानों के अनुसार इनका समय
ईसा की नवीं शती है।

शङ्कुक—कल्हण ने राजतरङ्गिणी में काश्मीर के शासक अजितापीड़ (८-१३-५०
ई०) के आश्रित विद्वानों मे शङ्कुक का भी उल्लेख किया है।[3] इन्होंने भुवनाभ्युदय काव्य
भी लिखा था। अभिनवभारती में ३–२९ अध्याय तक लगभग पन्द्रह बार इन्हें उद्धृत
किया गया है। ये काश्मीर के नैयायिक थे। शार्ङ्गधरपद्धति में एवं सूक्तमुक्तावली में इनको

१. ना० शा० ४ पर अभि० भा०; काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.३.७ और कुट्टनीमतम् ५.१२३।

२. सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः—काव्यप्रकाश।

३. राजतरंगिणी– ८.४.७०३.४।

मयूर का पुत्र बताया गया है। यदि 'सूर्यशतक' के रचयिता ही यह मयूर थे तो इनका समय सातवी शती० के लगभग मानना चाहिए। किन्तु विद्वानों ने इसमें आपत्ति की है और इन्हें नवीं शती का मानते हैं। अभि० भा० में इन्हें पन्द्रह बार उद्धृत किया गया है। इनके द्वारा की गई भरत के रस सूत्र की व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से अभिहित की जाती है। इनके अनुसार रस अनुमितिगम्य है, और विभावादि साधनों व रसरूप साध्य में अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त वे 'चित्रतुरगादि-न्याय' की कल्पना करके अनुकर्ता नट को सच्चे राम आदि नहीं स्वीकार करते हैं। वे तो मात्र 'चित्र में लिखे घोड़े के समान' ही हैं। इस कल्पना का प्रभाव दशरूपक पर भी पड़ा। इस प्रकार लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' की इन्होंने सर्वप्रथम अलोचना की और सहृदयों में रसानुभूति न मानकर सामाजिकों में रस की स्थिति स्वीकार की है।

भट्टनायक—ये ध्वनिविरोधो आचार्य थे। अभि० भा० में इनका छः बार उल्लेख हुआ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में 'ध्वन्यालोक' के सिद्धान्तों का खण्डन किया था जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का उल्लेख जयरथ, महिमभट्ट व रुय्यक ने भी किया है। अभिनवगुप्त ने इनके सिद्धान्तों की बाद में आलोचना की। अतः इनका समय दसवीं शती का पूर्वार्ध मानना चाहिए। लोल्लट व शङ्कुक की ही भाँति भट्टनायक भी अभिधावादी ही थे। इनका रस सूत्र का व्याख्यान 'भुक्तिवाद' के नाम से अभिहित होता है। इन्होंने 'संयोगात्' का अर्थ भाव्यभावक-सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य भुक्ति अर्थात् आस्वाद स्वीकार किया है। इनके अनुसार रस की स्थिति सहृदय में होती है। इनके सिद्धान्त का भी प्रभाव दशरूपक पर पूर्णरूपेण पड़ा। इन्होंने ही सर्वप्रथम 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया का निदर्शन किया।

अभिनवगुप्त—ये शैव दर्शन के आचार्य थे। इन्होंने लगभग चालिस ग्रन्थों की रचना की। किन्तु मुख्य रूप से आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' और नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती टीका साहित्य जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये ध्वनिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य के रूप में माने जाते हैं। इन्होंने तन्त्रशास्त्र और शैवागम पर भी ग्रन्थ लिखें हैं। इन्होंने अपनी अन्तिम रचना १०१५ ई० में की थी।[1] इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त (उप नाम चुखुलक) था।[2] इनके गुरु भट्टेन्दुराज और भट्टतौत थे।[3]

भारत के रस सूत्र के व्याख्यान में ये 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से अभिहित किये जाते हैं। ये रस को व्यङ्ग्य मानते हैं। इनके अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'व्यङ्ग्य-

१. इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्ते युगांशे …(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी)।

२. तस्यात्मजश्चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः। तन्त्रालोक ३७।

३. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोहम् (लोचन०)।

व्यञ्जकभावरूपात्' है और निष्पत्ति का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है । इनके अनुसार रस की स्थिति सहृदय में होती है । यह कहना कठिन है कि अभिनवगुप्त के विचारों से धनञ्जय व 'धनिक परिचित थे या नहीं । किन्तु आनन्दवर्धन से तो पूर्णरूपेण परिचित थे ही, जैसा कि दशरूपक में उनकी कारिका व श्लोक आदि के उद्धरणों से स्पष्ट ही है ।

जिस प्रकार साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त ने ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना की उसी प्रकार नाट्यशास्त्र में उन्होंने 'शान्त रस' की स्थापना भी की । किन्तु दशरूपक में इस नवम रस को स्थान नहीं दिया गया है । फिर भी साहित्यशास्त्र व नाट्यशास्त्र में अभिनवगुप्त ने अमूल्य-देन दी है जिसका सम्पूर्ण साहित्यजगत् सर्वदा ऋणी रहेगा ।

नाट्यकला विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ

१. आचार्य नन्दिकेश्वर का 'अभिनयदर्पण'—इनके मतों का उल्लेख 'संगीत-रत्नाकर' में किया गया है ।[१] रामकृष्ण कवि के मत से 'नन्दीश्वर-संहिता' और 'अभिनयदर्पण' दोनों एक ही लेखक का है । संगीत के प्रसङ्ग में आचार्य मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर को उद्धृत किया है । मतङ्ग का समय चतुर्थ शती है । अतः नन्दिकेश्वर का समय तृतीय शती है । इनका दूसरा ग्रन्थ 'भरतार्णव' भी है । इसमें नृत्य का विवेचन है । अभिनयदर्पण में अध्याय आदि नहीं हैं । इसमें कुल ३८४ श्लोक हैं; जिनमें मङ्गलाचरण, नाट्योत्पत्ति और पूर्वरङ्ग आदि का निरूपण करके आङ्गिक अभिनय का विशद विवेचन किया गया है ।

२. आचार्य सागरनन्दी का 'नाटकलक्षणरत्नकोश'—इस ग्रन्थ में नाट्य का विवेचन दशरूपक के ही अनुसार है, किन्तु व्यवस्थित नहीं है । कहीं-कहीं तो नाट्य-शास्त्र की सामग्री को तो उसी रूप में रख दिया गया है । सिलवाँ लेवी ने सर्वप्रथम नेपाल से इसका हस्तलेख प्राप्त किया और इसका सम्पादन १९३७ में प्रो० एम० डिल्लन ने लन्दन से किया । सम्प्रति चौखम्बा से हिन्दी के साथ प्राप्त है । धनञ्जय एवं भोज के बाद में सागरनन्दी का स्थितिकाल होने के कारण इनका समय ११ वीं शती का उत्तरार्ध ठहरता है । सागरनन्दी के इस ग्रन्थ से ही हमें नाट्यशास्त्र के अनेक अनेक अज्ञात आचार्यों के नाम और उनके नाट्यविषयों पर स्वतन्त्र मन्तव्यों का परिज्ञान होता है ।

३. आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण'—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे । इनकी सम्मिलित रचना है 'नाट्यदर्पण' सूत्र । मूलग्रन्थ कारिका रूप में है जिसकी वृत्ति भी उन्होंने ही लिखी है । इसमें अभिनव-

१. संगीत रत्ना० १.४.९ ।

भारती का पर्याप्त उपयोग किया गया है; और प्रधानतः नाट्यशास्त्र के अट्ठारहवें अध्याय के आधार पर ही रूपकों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सम्भवतः दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता में यह ग्रन्थ लिखा गया था क्योंकि नाट्यशास्त्र के अनेक व्याख्याकारों और प्रकरण ग्रन्थों की इसमें आलोचना की गई है जिनमें धनञ्जय भी है । इसके अतिरिक्त भरत कोहल तथा वृद्धभरत आदि के उद्धरण भी इसमें दिए गए हैं । अनेक अलभ्य नाटकों से उद्धरण उनका नाम निर्देश करके किया गया है । हेमचन्द्र के समसामयिक होने के कारण इनका समय भी बारहवीं शती माना जाता है ।

४. आचार्य शारदातनय का 'भावप्रकाशनम्'—शारदातनय के पिता का नाम गोपालभट्ट और पितामह का नाम लक्ष्मणभट्ट था जो काशी के निवासी थे । इनके पिता ने इन्हें देवी के वरदान स्वरूप प्राप्त किया था । शारदातनय ने आचार्य दिवाकर से नाट्यविद्या की शिक्षा पाई थी । आचार्य दिवाकर के नाट्यशास्त्र विषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख मेघदूत की पूर्णसरस्वती कृत व्याख्या में मिलता है । शारदातनय ने मम्मट और भोज को उद्धृत किया है । अतः इनका समय तेरहवीं शती माना जाता है । दशरूपक की अपेक्षा इसमें नाट्यसम्बन्धी विवेचन अधिक विस्तार से किया गया है । इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का पूर्णरूपेण उपयोग किया । कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु आदि अनेक पूर्वाचार्यों के मत देते हुए इन्होंने आनन्दवर्धन, रुद्रट, धनञ्जय अभिनवगुप्त, धनिक, भोज एवं मम्मट के सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है । प्रधानतः इस ग्रन्थ में नायक-नायिका, रस व नाट्यरचना का ही प्रतिपादन है । इसमें रूपक व उपरूपक पर भी विचार किया गया है । दस अधिकारों में विभक्त इस ग्रन्थ के मुख्य वर्ण्यविषय भावनिर्णय, रस, रस के प्रकार, नायक-नायिका का स्वरूप, शब्द वृत्तियाँ, नाट्यलक्षण, वस्तुविभाग, रूपकों के प्रकार तथा अन्य बीस उपरूपकों का वर्णन है और अन्तिम अधिकार में नाट्योत्पत्ति आदि का संक्षिप्त वर्णन है ।

५. आचार्य शिङ्गभूपाल का 'रसार्णवसुधाकर' और 'नाटक परिभाषा'—ये रेचल्ल-वंशीय अनपोत (अनन्त) के पुत्र थे । वंश परम्परागत राजधानी राजाचल में रहकर शासन करते थे । इनका स्थितिकाल १३ वीं शती या १४ वीं शती का प्रारम्भ है । शिङ्गभूपाल विद्वानों के आश्रयदाता और स्वयं बड़े विद्वान् थे । इनका अन्य ग्रन्थ 'कुवलयावली' नाटिका और 'संगीत-रत्नाकर' भी उपलब्ध है । तीन विलासों में विभक्त 'रसार्णवसुधाकर' दशरूपक के ही समान प्रकरण ग्रन्थ है ।

६. आचार्य रूपगोस्वामी की 'नाटक-चन्द्रिका'—रूपगोस्वामी का समय १६ वीं शती है । ये चैतन्य सम्प्रदाय के थे । इनके लगभग १७ ग्रन्थों में 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' मुख्य हैं । इन्होंने लक्षण करके जहाँ भी उदाहरण दिया है वहाँ बहुत से इन्हीं के स्वरचित पद्य हैं जो कृष्ण और राधिका परक है । इसके अतिरिक्त

अधिक उदाहरण वैष्णव ग्रन्थ से ही लिए गए हैं। नाटक चन्द्रिका में नाट्य सम्बन्धी सभी तत्वों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रचना का प्रयोजन विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का निराकरण करना था क्योंकि भरत के सिद्धान्तों की उसमें उपेक्षा की गई थी।

७. आचार्य सुन्दरमिश्र का 'नाट्यप्रदीप'—इनका समय १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। यह ग्रन्थ भी दशरूपक व साहित्यदर्पण की ही आधारभित्ति पर रचित है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य त्र्यम्बक के 'नाटकदीप', रुय्यक के 'नाटक-मीमांसा', पुण्डरीक के 'नाटकलक्षण', त्रिलोचनादित्य के 'नाट्यालोचन' और नन्दि-केश्वर के 'नाट्यार्णव' का भी उल्लेख मिलता है।

अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यविवेचन

उपर्युक्त स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी काव्यशास्त्र के प्रकरण-ग्रन्थ हैं जिनमें नाट्य विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें (१) **भोजराज का 'शृङ्गार-प्रकाश' और सरस्वतीकण्ठाभरण** ११ वीं शती का ग्रन्थ है। ३६ प्रकाश में विभक्त **'शृङ्गारप्रकाश'** के ११ वें और ३६ वें प्रकाश में रस का विवेचन है एवं १२ वें और २१ वें में क्रमशः रूपकों का व नायक-नायिका का प्रतिपादन है। पाँच परिच्छेदों में विभक्त **सरस्वतीकण्ठाभरण** के पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, नायक-नायिका-भेद, सन्धियों और भारती आदि वृत्तियों का विवेचन है। (२) **हेमचन्द्र सूरि** का काव्यानुशासन १२ वीं शती का ग्रन्थ है। आठ अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ मात्र संकलन है। द्वि० अ० में रस व भाव, सप्तम अ० में नायक-नायिका भेद और अष्टम अ० में दृश्य व श्रव्य का विवेचन किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में अनेक पूर्वाचार्यों और उनकी कृतियों का भी उल्लेख है लेकिन धनञ्जय और धनिक का कोई उल्लेख नहीं है। (३) **विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'** चौदहवीं शती का ग्रन्थ है। नौ प्रकरण में विभाजित ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण नायक, तृतीय प्रकरण नाटक व चतुर्थ प्रकरण रस का है। (४) **विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण'** १४ वीं शती का प्रकरण ग्रन्थ है। काव्यप्रकाश के ही समान १० परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रन्थ का षष्ठ परिच्छेद पूर्णरूपेण रूपकों के सम्बन्ध में है। इसके अतिरिक्त तृ० परि० में नायक-नायिका भेद और रस का प्रतिपादन है। दशरूपक से यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रभावित है। अनेक कारिकाओं की पदावली दशरूपक के ही समान है। इन्होंने धनिक को उद्धृत भी किया है। रस विवेचन (३.२०९) के प्रसङ्ग में दशरूपक के सिद्धान्तों का उल्लेख 'अभियुक्ताः' कहकर आदर के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त दशरूपक से कुछ अधिक नाट्यविषयों का निरूपण इसमें किया गया है। विश्वनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त कई काव्य नाटकादि की भी रचना की थी किन्तु इनका मात्र उल्लेख ही प्राप्त है।

इस प्रकार सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के विहंगावलोकन से हमें यह पता चलता है कि भरत के बाद एक भी ग्रन्थ नाट्यशास्त्र पर नहीं लिखा गया। जो ग्रन्थ लिखे भी गए वे या तो भरत के नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप थे अथवा वे दशरूपक की नकल थे। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि आचार्यों ने भरत और अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों को अन्तिम मान लिया, या उन्हीं विवेचनों में उलझे रहे।

धनञ्जय और उनका समय—प्रस्तुत ग्रन्थ 'दशरूपक' के रचयिता आचार्य धनञ्जय हैं। ये विष्णु के पुत्र एवं मालवा के परमारवंशीय-शासक महाराज मुञ्ज [= वाक्पति-राज द्वितीय] के सभा पण्डित थे।[1] बुह्लर के अनुसार मुञ्ज अपने पिता सीयक के बाद ९७४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और ९९५ तक राज्य करते रहे। इण्डियन एन्टी-क्वेरी के अनुसार चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने मुञ्ज को हराया था। तैलप द्वितीय का मृत्युकाल ९९७ से ९९८ ई० है। अतः इनका समय ९७४-९९५ ई० विद्वानों द्वारा माना गया है। मुञ्जराज योद्धा और कवि दोनों ही थे। इनके लिए विविध अभिलेखों में अनेक नामों और उपाधियों का प्रयोग किया गया है[2], जैसे—वाक्पति, वाक्पति-राज, उत्पलराज अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ, श्रीवल्लभ आदि। स्वयं धनिक ने इनके एक ही पद्य को दो नामों से उद्धृत किया है।[3] बाद में अमरुशतक के टीकाकार परमारवंशीय अर्जुनवर्मन् के द्वारा तेरहवीं शती में यह स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि यह पद्य हमारे पूर्वज महाराज मुञ्ज, जिनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था, के द्वारा रचित है।[4] क्षेमेन्द्र (१०३७-१०६६ ई०) ने तीन पद्य श्रीमदुत्पलराज के नाम से उद्धृत किए हैं।[5] धनञ्जय एवं धनिक के अतिरिक्त तिलकमञ्जरी के रचयिता धनपाल भी मुञ्ज के सभा पण्डित थे। कोषकार हलायुध ने पिङ्गल की टीका में इनकी बड़ी प्रशंसा की है। 'नवसाहसाङ्कचरित' के रचयिता पद्मगुप्त को भी इनका संरक्षण प्राप्त था। इन्होंने इन्हें 'कवियों का मित्र' कहा है।[6] इसके अतिरिक्त बल्लाल के भोज-प्रबन्ध और मेरुतुङ्ग के प्रबन्धचिन्तामणि से भी इसके कवि होने और कवियों को प्रोत्साहन देने के प्रमाण प्राप्त हैं। इनके विद्यानुराग की परम्परा बाद में विद्यमान थी। इनके भतीजे स्वयं भोजराज ने शृङ्गारप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि अनेक ग्रन्थों

---

१. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥
अर्थात् श्री विष्णु के पुत्र धनञ्जय द्वारा........॥ दश० ४.८६

२. एपिग्राफिका इण्डिका १.२२६।

३. दश० ४.५८ पर वाक्पतिराजदेव के नाम से और ४.६० पर श्रीमुञ्ज के नाम से।

४. द्र० अमरुशतक, पृ० २३, अस्मत् पूर्वजस्य वाक्पतिराजापरनाम्नो मुञ्जदेवस्य।

५. सुवृत्ततिलक २.६, कविकण्ठाभरण २.१, औचित्यविचारचर्चा १६।

६. नवसाह० १.८ 'कविबान्धव', ११.९३ 'कविमित्र'।

का प्रणयन किया और १३ वीं शती में इन्हीं के वंशज अर्जुनवर्मन् ने अमरुशतक पर रसिक-संजीवनी' नामक टीका लिखी। इस प्रकार के विद्यानुरागी महाराज मुञ्ज के विद्वत् गोष्ठी में धनञ्जय ने भी वैदग्ध्यता को प्राप्त किया था जिसे स्वयं इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में बड़े गर्व के साथ कहा है।

दशरूपावलोक में उद्धृत अन्य पंक्तियों से भी इनका समय दसवीं शती का उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है। धनिक ने रुद्रट की एक कारिका पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत की है।[1] धनञ्जय ने भी दशरूपक ४.३६ में रुद्रट के ही विचारों की ओर संकेत किया है। अवलोक में ध्वन्यालोक की कारिका और आनन्दवर्धन के श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। काणे ने रुद्रट का समय ८५० ई० से पूर्व, तथा आनन्दवर्धन का समय ८६० से ८९० ई० के बीच माना है। अतः दशरूपक की रचना इनके बाद दसवीं शती में होना औचित्यपूर्ण है। धनञ्जय ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त किसी और ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु संगीतराज[2] में धनञ्जय का मत उद्धृत है। अतः सम्भवतः इन्होंने कोई संगीत का ग्रन्थ रचा हो।

दशरूपक का आधार और उसका नामकरण—'दशरूपक' का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों को इसमें संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है। ९ वीं शती में अलङ्कार शास्त्र को स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत करने की धारा प्रचलित हो गयी थी। नाट्यशास्त्र पर भी अनेक प्रकरण ग्रन्थ लिखे जा रहे थे। दशरूपक भी उन्हीं की परम्परा में उल्लिखित हुआ। इसमें रूपक के दस मुख्य भेदों का वर्णन है। इसीलिए इसका नाम 'दशरूपक' है। हाल के अनुसार इसका नाम 'दशरूप' होगा क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में 'दशरूपमेतत्' कहकर धनञ्जय ने स्वयं इसे कहा है।[3] धनिक की टीका का नाम 'दशरूपावलोक' होना भी इस बात का प्रमाण है। किन्तु 'दशरूप' या 'दशरूपक' दोनों ही ठीक हैं; क्योंकि धनञ्जय के मूल से ही यह प्रमाणित हो जाता है, जैसे दश० १ २, ३.७६ और ४.८६ में क्रमशः 'दशरूप' 'दशरूपक' और 'दशरूप' शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार टीका की पुष्पिका में भी 'दशरूपावलोक' 'दशरूपकावलोक' दोनों ही मिलता है। वस्तुतः छन्द के ही कारण कहीं 'दशरूपक' का प्रयोग है और कहीं 'दशरूप' का। इसी प्रकार बहुरूप मिश्र की टीका का नाम 'दशरूपक-टीका' है। किन्तु देवपाणि की टीका का नाम 'दशरूप-टीका' है और कुविराम की टीका का नाम 'दशरूप-पद्धति' है। अतः दोनों ही ठीक हैं; किन्तु 'दशरूपक' नाम ही अधिक प्रचलित है।

धनञ्जय ने नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को उन्हीं के शब्दों में ही संक्षेप से किन्तु

१. दश० ४.३५ पर (रसनाद्रसत्वम् आदि कारिका काव्यालङ्कार १२.४)
३. द्र० हाल, पृ० ४ नोट। २ संगीतराज, पृ० ५६३। मात्रानन्दावती प्राह धनञ्जय मतानुगः ॥ १५० ॥

सरल रीति से प्रस्तुत किया है।[1] उनका प्रमुख लक्ष्य भी नाट्य सम्बन्धी नाट्यशास्त्र की यत्र तत्र बिखरी हुई सामग्री को संक्षेप से किन्तु कुछ नवीनीकरण के साथ प्रस्तुत करना था जैसा कि उन्होंने स्वयं ही आरम्भ में कहा है।[2] वस्तुतः नाट्यशास्त्र में नाट्य-विषयक सामग्री का प्रतिपादन यत्र-तत्र हुआ है। इनका एक जगह पर होना आवश्यक था। नाट्यशास्त्र का विषय-विवेचन बड़ा उलझा-सा और अत्यन्त विस्तृत था। उसका संक्षेप होना और मन्दबुद्धि वाले लोगों के लिए सरलता से प्रस्तुत करना आवश्यक था। जिसे सम्भवतः सर्वप्रथम धनञ्जय ने ही बड़ी सफलता के साथ किया।

धनिक एवं उनका 'अवलोक'—मात्र तीन सौ कारिकाओं में ही प्रतिपादित धनञ्जय का 'दशरूपक' नाट्यशास्त्र के ठीक बाद संक्षेप से लिखे जाने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इस लोकप्रियता में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान धनञ्जय के ही छोटे भाई धनिक का है[3], जिन्होंने अभिनवगुप्त की ही भाँति धनञ्जय के कारिकाभाग की व्याख्या की। ध्वन्यालोक के लिए जैसे अभिनवगुप्त ने लोचन टीका लिखकर उसे 'लोचन' (=आँख) प्रदान किया, उसी तरह धनिक ने भी दशरूपक को 'अवलोक' से अवलोकित किया। धनिक के पिता का नाम विष्णु था।[4] धनञ्जय के पिता का नाम भी विष्णु था। अतः दोनो भाई थे। किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार दशरूपक की कारिका और वृत्ति दोनों ही एक-ही व्यक्ति की रचना है, क्योंकि दशरूपक की कारिकाओं को विश्वनाथ के साहित्यदर्पण[5] में और विद्यानाथ के एकावली में धनिक के नाम से उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी तर्क है कि कारिकाओं से पृथक् वृत्ति में कोई मङ्गलाचरण नहीं है अतः दोनों के कर्ता एक हैं, फिर अवलोक के बिना दशरूपक स्वयं में अधूरा है। अतः वृत्ति को तो कारिकाओं का अभिन्न अङ्ग ही मानना ठीक होगा।

किन्तु अधिकांश विद्वान् इन्हें भिन्न व्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार कारिका व वृत्ति में अनेक स्थलों पर मतभेद होना ही भिन्नता का प्रमाण है; जैसे दश० २.२२ की वृत्ति में 'सुखार्थः' का अर्थ 'अप्रयासावाप्तधनः' या 'सुखप्रयोजनः' करके कोई

१. तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥ दश० .१५।
२. नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥ दश० १.४।
३. द्र० (i) विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन... दश० ४.८६, और
 (ii) इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ....समाप्तः ॥
४. इति श्री विष्णु-सूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः— दश० पर अवलोक की पुष्पिका।
५. यदुक्तं धनिकेन—'न चातिरसतो....लक्षणैः'—सा०द० ६.६४ [=दश० ३.३२-३३]

निर्णय नहीं दिया गया है। अतः कारिकाकार से वृत्तिकार अलग व्यक्ति हैं। इसी प्रकार ३.३६ के 'त्याज्यमावश्यकं न च' का अर्थ 'न तो आवश्यक कथावस्तु का त्याग ही करना चाहिए' यह कारिकाकार को अभिप्रेत है। धनिक ने इसे छोड़कर दूसरा ही अर्थ इस प्रकार किया है—'आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित् कुर्यात्' अर्थात् 'आवश्यक हो तो देवपितृ-कार्य आदि का निर्देश अवश्य ही कहीं न कहीं कर देना चाहिए।' इसके अतिरिक्त सभी हस्तलेखों में दोनों की पुष्पिका भी अलग-अलग नाम से प्राप्त होती है।[१] अतः यह स्पष्ट है कि दशरूपक के कर्ता धनञ्जय हैं और वृत्ति के कर्त्ता धनिक हैं।

धनिक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व—धनिक के जीवन के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। फिर भी हाल के अनुसार, जैसा कि उन्हें अवलोक की एक हस्तलिपि से अवगत हुआ कि वे महाराज उत्पलराज के यहाँ महासाध्यपाल [=आफिसर] थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी दशरूपक की भूमिका में विल्सन के ही कथन को दुहराया है।[२] यह उत्पलराज महाराज मुञ्ज ही हैं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। दूसरी तरफ धनिक ने पद्मगुप्त के 'नवसाहसाङ्कचरित' का एक श्लोक उद्धृत किया है।[3] इस काव्य की रचना सिन्धुराज के समय हुई। महाराज मुञ्ज के ही बाद ये सिंहासनारूढ़ हुए थे। इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि धनिक अपने बड़े भाई के साथ मुञ्जराज की सभा में थे और बाद में सिन्धुराज के राज्यकाल उन्होंने 'अवलोक' की रचना की। अतः धनिक का समय दशम शती के उत्तरार्ध से लेकर एकादश शती के प्रारम्भ में ही मानना उचित होगा; क्योंकि भोजराज के द्वारा लिखे गए 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में धनिक को सोलह बार उद्धृत किया गया है; जिसकी रचना १०२५ ई० में हुई थी।[४] इसके अतिरिक्त इण्डियन एन्टीक्वेरी के अनुसार धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को मुञ्ज ने भूमि दान में दी थी।[५] लेखपत्र के धनिक पण्डित और अवलोक के धनिक को यदि एक ही माना जाय तो सामञ्जस्य नहीं बैठ पाएगा। अतः धनिक ने अपनी वृद्धावस्था में अवलोक की रचना

१. (i) धनञ्जयेन····आविष्कृतं····दशरूपमेतत् (दश० ४.८६)।
(ii) धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके····।
२. Wilson, Select specimens of the Theatre of the Hindus, 3d ed. London, 1871, I, xx, xxi.
३. दश० २.४०।
४. द्र० जैकोब, JRAS. 1817, पृ० ३०४।
५. द्र० इन्डि० एन्टी० ६, (१८७७) प्र० ५१-५३, आर्केलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इन्डिया, भाग ३ (बर्जेस), लन्दन १८७८, पृ० १००।

की होगी जो सिन्धुराज के राज्यकाल में ही पूर्ण हुई होगी—यह मान लेने से धनिक को धनञ्जय का अनुज मानने में भी कोई कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार दशरूपक और अवलोक की रचना में थोड़ा अन्तर भी आ जाता है। अतः दसवीं शती के उत्तरार्ध और ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ के बीच ही धनिक का समय रहा होगा।

धनिक की अन्य कृति के बारे में मात्र इतना ही अवगत होता है कि उन्होंने 'काव्यनिर्णय' नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा था, जिसकी सात कारिकाएँ अवलोक में अपने मत की पुष्टि स्वरूप उद्धृत की गई हैं। सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्त है। हमें 'अवलोक' से ही यह भी ज्ञात होता है कि धनिक कवि भी थे क्योंकि उन्होंने अवलोक में ही अपने चौबीस श्लोक उद्धृत किए हैं। जिनमें से चार प्राकृत के भी पद्य हैं। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत दोनों में ही उनकी गति समान थी। वे साहित्य, मीमांसा एवं नाटचशास्त्र के निष्णात विद्वान् थे। जैसा कि अवलोक से ही यह प्रमाणित है कि धनञ्जय की कारिकाएँ स्वतः अपूर्ण हैं। दशरूपक का मन्तव्य हमें 'अवलोक' युक्त दशरूपक से ही ज्ञात हो सकता है। धनिक का पाण्डित्य हमें पूर्णरूपेण चतुर्थ प्रकाश में ही दृष्टिगत होता है जहाँ उन्होंने शान्त-रस, रसों के विरोध व अविरोध तथा काव्य के रस-भाव आदि के साथ सम्बन्ध पर अपना विचार दिया है।

अवलोक की शैली बहुत ही सरल है। अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्वचन करते हुए व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है जैसे धनिक ने धनञ्जय की कारिका की व्याख्या करते हुए मुख्य नाटकों से उद्धरण स्वरूप श्लोक तो दिए ही हैं और नाटकों के गद्य भाग को भी स्थान-स्थान पर अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। कभी-कभी उन्होंने अपने मत की पुष्टि में नाटचशास्त्र के श्लोक और भर्तृहरि की कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। उद्धरणों के सम्बन्ध में धनिक की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि कुछ ही स्थलों को छोड़कर अधिकांश स्थलों में ग्रन्थ या ग्रन्थकार का उल्लेख उन्होंने कर दिया है। इससे संस्कृत साहित्य के इतिहास को बड़ी ही सहायता प्राप्त हुई है। किन्तु बहुत से उद्धरणों में या तो बहुत पाठभेद हैं या तो वह वहाँ प्राप्त ही नहीं हैं; जैसे दश० ३.१३ विक्रमोर्वशीय में नहीं। धनिक की यह शैली है कि अपने पूर्वाचार्यों को जहाँ उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया हैं, वहाँ उनका नामतः उल्लेख उन्होंने नहीं किया। किन्तु कहीं-कहीं अत्यन्त विवादास्पद विषयों के विचार के सन्दर्भ में उद्भट आदि नामोल्लेख भी कर दिया है। इतना होते हुए भी अवलोक को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। उद्धरणों के सम्बन्ध में धनिक की यह बहुत बड़ी कमी है कि उन्होंने अपने बहुत से उदाहरण नाटकों से न लेकर काव्यों आदि से भी ले लिए हैं। दशरूपकों के सन्दर्भ में यह उचित नहीं है। उन्हें सभी उदाहरण नाटकों से ही लेना चाहिए था। इसके अतिरिक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। यही नहीं अपितु बहुत से व्याख्या की अपेक्षा रखने वाले स्थलों को 'स्पष्टम्' कहकर छोड़ दिया गया

है। फिर भी यह वृत्ति दशरूपक के लिए नितान्त उपयोगी और उसे पूर्ण करने वाली है, जिसके बिना दशरूपक अपने में अधूरा ही है।

दशरूपक की प्रतिपादन-शैली और उसका वैशिष्ट्य—दशरूपक का उपजीव्य यद्यपि नाटचशास्त्र है फिर भी इसकी शैली उससे बिलकुल भिन्न है। अनावश्यक विस्तार न करके सूत्र रूप में तथ्यों को कारिकाओं में कह दिया गया है। दशरूपक का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है कि मात्र ३०० श्लोकों में ही नाटच के भेदक तत्त्वों वस्तु, नेता और रस का पूर्णतया विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। नाटचशास्त्र की अपेक्षा अत्यन्त संक्षिप्त और क्रमबद्ध होने के कारण ही यह ख्याति प्राप्त कर सका है। धनञ्जय ने अपने पूर्वाचार्यों उद्भट, रुद्रट व ध्वनिकार के मतों की आलोचना करते हुए अपना स्वतन्त्र मत भी प्रकट किया है, जैसे 'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' आदि। इसी प्रकार नाटचशास्त्र में चार प्रकार के (दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री व गणिका) नायिका के विभाजन को धनञ्जय ने प्रमुख रूप से तीन (स्वीया, परकीया व साधारण स्त्री) में ही विभाजित किया है। रस में भी शृङ्गार के दो भेद सम्भोग और विप्रलम्भ को यहाँ अयोग, विप्रयोग और सम्भोग रूप से तीन भेदों में प्रदर्शित किया गया है।

'दशरूपक' की अधिकतर कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं। किन्तु प्रत्येक प्रकाश के अन्त में और दूसरे स्थलों पर भी कुल अट्ठारह कारिकाएँ अन्य छन्दों में भी निबद्ध हैं। क्रमानुसार इनकी तालिका इस प्रकार है—

		कुलयोग
१. आर्यावृत्त	१.३; ४.१३; ४.३५; ४.७६-७७	५
२. स्रग्धरा	१.४; ४.८; ४.२८.	३
३. इन्द्रवज्रा	१.६; ४.४९ (छः चरणों का) ४.८६	३
४. वसन्ततिलका	१.६८; ३.७६; ४.७२; ४.८५	४
५. उपजाति	२.७२	१
६. शार्दूलविक्रीडित	४.७३; ४.७४	२
		१८

धनञ्जय ने छन्दों के निर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार लघु अक्षरों को दीर्घ व दीर्घ को लघु और छोटे समास का बड़ा समास भी किया हैं। कहीं छन्द की पूर्ति के लिए अपनी ओर से जोड़ा है तो कहीं प्रत्ययों को हटा भी दिया है; जैसे आख्य (१.१८) में तथा 'अथ' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। स्यात्, भवेत्, इष्यते, स्मृतः, मता और परिकीर्तितः आदि शब्दों से छन्द की पूर्ति की गई है। कहीं-कहीं शब्दों के विभिन्न रूप का भी प्रयोग है; जैसे 'सूत्रधार' का 'सूत्रधृत' या 'सूत्रिन्'। इतना ही नहीं अपितु पारिभाषिक शब्दों को भी बदल दिया गया है; जैसे 'निद्रा' के लिए ४.८२ में

स्वाप का एवं 'व्याधि' के लिए ४.७३ में आर्ति आदि शब्दों का प्रयोग है। कहीं समस्त पद का प्रयोग न करके मात्र पद का प्रयोग हुआ है जैसे विरहोत्कण्ठिता के लिए ४.६८ में 'उत्का' का प्रयोग। कहीं मात्र पद के लिए समस्त पद का प्रयोग है जैसे 'शम' के लिए ४.४५ में शम-प्रकर्ष का प्रयोग है। कहीं उपसर्ग जोड़ा गया है तो कहीं हटा भी दिया है जैसे ४.७२ में 'हर्ष' के लिए 'प्रहर्ष' और ४.७४ में आवेग के लिए वेग का प्रयोग है। यहाँ तक कि उपसर्ग को बदल भी दिया गया हैं जैसे ३.६०-६१ में 'अवमर्श' को 'विमर्श'। कहीं-कहीं पर एक अर्थ वाले अनेक प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे ४.८ में आलस्य के लिए अलसता, १.५० में भाषण के लिए भाषा, १.४० में अनुमान के लिए अनुमा और इसी प्रकार उद्घात्यक को उद्घात्य (३.१४) और जनान्तिक को जनान्त (१.६५) करके 'क' प्रत्यय को भी हटा दिया गया।[1] इस प्रकार 'दशरूपक' विषय संक्षेप और दशरूपक के सन्दर्भ में अपने में पूर्णता को प्राप्त एक उत्कृष्ट और अभूतपूर्व रचना है जिसकी परम्परा आज भी विद्यमान है।

दशरूपक में उद्धृत अप्राप्त ग्रन्थ

१. उदात्तराघवम्—'दशरूपक' की वृत्ति में धनिक ने इस नाटक का सर्वप्रथम उल्लेख करते हुए उसे मायुराज की कृति बतलाया है।[2] वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी इस नाटक का उल्लेख किया है।[3] इन दोनों उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि इस नाटक में कवि ने राम-कथा में राम के चरित्र को उदात्त बनाने के लिए नए संशोधन किये थे।[4] धनिक ने इस नाटक से 'अवलोक' में तीन श्लोक भी उद्धृत किए हैं।[5] इतना ही नहीं अपितु इस नाटक के द्वितीय अङ्क का कुछ अंश भी उदधृत किया है।[6] रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में उदात्तराघव का तीन बार उल्लेख किया है।[7] साहित्यदर्पण

---

१. द्र० हास, भूमिका पृ० xxx।

२. यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेन उदात्तराघवे परित्यक्तः॥ दश० ३.२५ पर अवलोक।

३. यथा उदात्तराघवे कविता वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य लक्ष्मणस्य परित्राणार्थं सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्॥ वक्रो० जी०

४. यथा एकस्यामेव दशरथिकथायां रामाभ्युदय-उदात्तराघव वीरचरित बालरामायण कृत्यारावण-मायापुष्पक प्रभृतयः। ते हि प्रबन्ध प्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निरर्गल रसासारगर्भसम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रति प्रकरणं च प्रकाशमानाभिनवभङ्गी ....सम्पादयन्ति सहृदयानाम्॥ वक्रो० जी० पृ० ५३९।

५. दश० ३.५९, ३.३१, ४.२३, २८।   ६. दश० ४.२८, पृ० २६१।

७. ना० द० १.४५, १.६५, ४.२।

3. दश.

में विश्वनाथ ने इस नाटक से कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं।[1] भोज ने श्रृङ्गारप्रकाश में और सरस्वतीकण्ठाभरण में एवं हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की अलङ्कार चूड़ामणि नामक स्वोपज्ञवृत्ति में भी इस नाटक से उदाहरण दिए हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में अनेक स्थल पर इस नाटक का उल्लेख किया है।[2] दुर्भाग्य से यह नाटक अद्यावधि उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु डॉ० राघवन के अनुसार उन्हें इस नाटक का एक हस्तलेख मिल गया है; जिसे वह गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा, के लिए सम्पादन रहे हैं।

२. **छलितरामम्**—धनिक ने तीन स्थलों पर इस नाटक का उल्लेख करते हुए उद्धरण दिए हैं।[3] इसके अतिरिक्त वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक ने, नाट्यदर्पण में रामचन्द्र ने, श्रृङ्गारप्रकाश[4] एवं सरस्वतीकण्ठाभरण[5] में भोज ने और साहित्यदर्पण[6] में विश्वनाथ ने भी इसका उल्लेख किया है। किन्तु इसके कर्ता का पता नही मिलता है।

३. **जामदग्न्यजय**—दशरूपक के मूल[7] और अवलोक में भी व्यायोग के लक्षण के सन्दर्भ में 'अस्त्रीनिमित्तश्च संग्रामो जामदग्न्यजये यथा' लिखकर इस ग्रन्थ का मात्र उल्लेख भर कर दिया गया है। धनिक के अनुसार पिता के वध से क्रुद्ध होकर परशुराम के द्वारा सहस्रार्जुन के वध की कथा इस नाटक में वर्णित है।[8] नाट्यदर्पण में ही व्यायोग के ही लक्षण के प्रसङ्ग में उदाहरण के रूप में इसका उल्लेख है।[9] किन्तु इसके कर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

४. **तरङ्गदत्तम्**—धनिक ने 'प्रकरण' के प्रसङ्ग में इसका उल्लेख किया है।[10] इसी प्रकार नाट्यदर्पण[11] में, भावप्रकाशन[12] में और साहित्यदर्पण[13] में भी मात्र इसका उल्लेख ही मिलता है। न तो इसके कर्ता का पता है, और न तो इसकी कथा का ही कुछ संकेत प्राप्त है।

---

१. सा० द० ६.२७, ५०, १५४। २. ना० शा० ३२.११३ पर अभिनवभारती।
३. दश० १.४१; ३.१३, १७। ४. श्रृ० प्र० ११, पृ० १२३।
५. सर० क० पृ० ३७७, ६४५। ६. सा० द० ६ परि०, पृ० २६१।
७ दश० ३.६१।
८. यथा परशुरामेण पितृवधकोपात् सहस्रार्जुनवधः कृतः॥ दश० ३.६१ पर अवलोक।
९. यथा जामदग्न्यजये परशुरामेण सहस्रार्जुनस्य वधः कृतः॥ ना० द० २.७५, पृ० २२०। १०. यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते॥ दश० ३.४२. पर अवलोक।
११. ना० द० २.३-४। १२. भाव० ८. पृ० २४३।
१३. सा० द० ६. पृ० २२६।

५ **त्रिपुरदाह**—नाट्यशास्त्र का उद्धरण देते हुए धनिक ने 'डिम' के प्रसङ्ग में इसका उल्लेख किया है। सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित 'रूपकशतकम्' के अन्तर्गत १९१८ में यह 'डिम' के ही रूप में गायकवाड ओरि० सी० से प्रकाशित है किन्तु एस० के० डे० के अनुसार इसके मूल ग्रन्थ होने में सन्देह है।[1]

६. **पाण्डवानन्दम्**—धनिक ने एक श्लोक इस नाटक से उद्धृत किया है।[2] सम्भवतः यह 'वीथी' है जैसा कि नाट्यदर्पण में वीथी के 'उद्घात्यक' नामक अङ्ग के उदाहरण में दशरूपक में उद्धृत श्लोक 'का श्लाघ्या' आदि 'का भूषा बलिनां क्षमा' आदि कुछ पाठभेद के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह श्लोक पाण्डवानन्द के सूत्रधार और पारिपार्श्वक के उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप में उद्धृत है।[3] यही पद्य अभिनवभारती[4] और भावप्रकाशनम्[5] में भी उद्धृत है। किन्तु इसके कर्ता के बारे में कोई संकेत नहीं मिलता है।

७. **पुष्पदूषितक**—धनिक ने प्रकरण के प्रसङ्ग में मात्र उल्लेख भर किया है। सम्भवतः इस प्रकरण की नायिका कोई कुलीन नारी होगी।[6] नाट्यदर्पण में 'पुष्पदूतिक' नाम से आठ बार इस प्रकरण का उल्लेख हुआ है। अभिनवभारती में भी इसका उल्लेख है।[7] सम्भवतः समुद्रदत्त नामक वणिक् नायक और कुलस्त्री-रूप नन्दयन्ती नामक नायिका की कथा इसमें वर्णित थी।

८. **रामाभ्युदयम्**—धनिक ने इसका उल्लेख करते हुए इसका एक श्लोक उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन और विश्वनाथ द्वारा भी इस नाटक का उल्लेख किया गया है, जो भवभूति और वाक्पति के हिमायती यशोवर्मन् द्वारा सातवीं शती के उत्तरार्ध में लिखा गया था।

९. **समुद्रमन्थन**—समवकार के प्रसङ्ग में धनिक ने इसका उल्लेख किया है। दलाल सम्पादित **'रूपकशतकम्'** में इस नाम का समवकार प्राप्त है। किन्तु इतिहासकार इसको मूल ग्रन्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते।

दशरूपक की अन्य टीकाएँ और संस्करण—

सम्भवतः संक्षिप्त और सार-ग्रन्थ होने के कारण ही धनञ्जय के दशरूपक की

---

१. हि० आफ सं० लि०, एस् के० डे०, पृ० ४७४।
२. द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—'का श्लाघ्या…'॥ दश० ३.१३।
३. यथा पाण्डवानन्दे—सूत्रधार पारिपार्श्विकयोरुक्ति प्रत्युक्ती॥ ना० द० २।
४. ना० शा० १८, पृ० ४५४ पर अभि० भा०। ५. भाव०, पृ० २३०।
६. यथा कुलजैव पुष्पदूषितके॥ दश० ३.१२।
७. ना० शा० १८. ५०, पृ० ४३२ पर अभि० भा०।

प्रसिद्धि प्राचीन समय में बहुत ही अधिक थी। अतः इसकी अनेक टीकाएँ भी लिखी गई। इनमें बहुरूप मिश्र की टीका बहुत ही उपादेय और प्रमेय बहुल है।[1] इसका नाम 'दशरूपक-दीपिका' है। इसके दो हस्तलेख मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मेनेस्क्रिप्ट लाइब्रेरी और त्रिवेन्द्रम मेनेस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। यद्यपि यह अभी तक अप्रकाशित है किन्तु बड़ी ही प्रसन्नता की बात है कि काशी विद्यापीठ के रीडर डा० अमरनाथ पाण्डेय के सम्पादन में भारतीय विद्या प्रकाशन, काशी से ही यह प्रकाशित हो रही है।

इसके अतिरिक्त भट्टनृसिंह की 'लघुटीका' दशरूपक एवं अवलोक दोनों पर प्राप्त है। यह मद्रास से टी० वेंकटाचार्य के सम्पादन में १९६९ में अडयार से प्रकाशित हुई है।[2] यह टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत संस्करण में बहुत से परिष्कार इसी टीका से लिए गए हैं, जिसके लिए लेखक इस संस्करण के सम्पादक का अत्यन्त आभारी है।

अप्रकाशित टीकाओं में देवपाणि[3] की 'दशरूप-टीका' और कुविराम की 'दशरूप-पद्धति' नामक टीका भी है।[4] हाल ने क्षोणीधर मिश्र की एक और टीका का भी उल्लेख किया है।[5] इसके अतिरिक्त काशी के आधुनिक विद्वान् सुदर्शनाचार्य द्वारा प्रभा टीका १९१४ में गुजराती प्रेस से छपी थी।

संस्करण—दशरूपक का प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के द्वारा संपादित प्रथम संस्करण बिब्लोथिका इन्डिका में १८६३ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। पुनः इसी संस्था के द्वारा १८६५ में एफ० हाल के द्वारा संपादित दूसरा संस्करण, प्रकाशित हुआ। तीसरा संस्करण १८७८ में जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। तृतीय संस्करण पं० काशीनाथ पर्व के सम्पादकत्व में १८९७ में निर्णय सागर से प्रकाशित हुआ। अब तक के संस्करणों में यह बहुत उत्कृष्ट कोटि का था। इसीलिए इसके पाँच संस्करण १९४१ तक छापे गए। १९१२ में हास ने इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया। १९१४ में काशी के ही पंजाबी पंडित सुदर्शनाचार्य शास्त्री कृत 'प्रभा' टीका के साथ एक संस्करण गुजराती प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ। १९५४ में चौखम्बा से एक संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें श्रद्धेय गुरुवर्य डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा इसका प्रथमतः हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। यह संस्करण अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण होने के कारण बड़ा लोकप्रिय हुआ। यही कारण था कि १९७३ तक इसके चार संस्करण छापे गए। १९६२

---

१. डा राघवन्, J. O. R. vol. viii, पृ० ३२१-३३४।
२. The Adyar Library and Research Centre, Adyar, Madras 20, 1669।
३. हि० आफ० सं० लि०, एस० एन० दास गुप्त, पृ० ५५१; कलकत्ता, १९६२।
४. वही।
५. हाल, भूमिका पृ० ४, नोट।

में 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक' नाम से हजारी प्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी कृत हिन्दी टीका के साथ दिल्ली से प्रकाशित हुआ। १९६६ में गोविन्द त्रिगुणायत कृत हिन्दी टीका के साथ एक संस्करण कानपुर से प्रकाशित हुआ। १९६९ में मद्रास से श्री टी० वेंकटार्य सम्पादित 'दशरूपक'—'अवलोक' और भट्टनृसिंह कृत लघु टीका के साथ आडयार से प्रकाशित हुआ। १९६९ में ही डॉ० श्री निवास शास्त्री द्वारा अनूदित और सम्पादित दशरूपक का हिन्दी संस्करण मेरठ से प्रकाशित हुआ। यह संस्करण अब तक के सभी संस्करणों से बहुत अच्छा बन पड़ा था। सम्भवतः इसीलिए इसका दूसरा संस्करण भी १९७३ में छप गया। १९७३ में ही डा० रमाशङ्कर त्रिपाठी कृत हिन्दी व्याख्या के साथ एक संस्करण काशी से भी प्रकाशित हुआ। उपर्युक्त सभी संस्करणों से लेखक ने पर्याप्त सहायता ली है। अतः इन सभी ग्रन्थों के प्रणेता विद्वानों का लेखक हृदय से आभारी है।

पाठसम्बन्धी वक्तव्य—

प्रस्तुत संस्करण में धनिक द्वारा किया गया मङ्गलश्लोक जोड़ दिया गया है। हाल ने संभवतः सभी Mss में न होने के कारण यह कहते हुए इसे नहीं दिया कि यह मिलावटी (Spurious) है, और इसकी शैली भी धनिक के अन्य श्लोकों से भिन्न है। किन्तु कवि धनिक ने क्या बिना मङ्गलाचरण के टीका प्रारम्भ कर दी होगी? यह ठीक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि स्वयं धनिक के अनेक श्लोक इसी टीका में हमें प्राप्त होते हैं। संक्षेप में पाठसम्बन्धी कुछ वक्तव्य इस प्रकार है—

पृ० ६७. 'वृद्धास्ते' आदि श्लोक में 'वन्द्यास्ते' पाठ होना चाहिए जैसा कि हनु० १४.२२ में प्राप्त है' क्योंकि भगवान् राम अभी वयोवृद्ध नहीं हैं। हनु० का 'वर्तताम्' पाठ ठीक है। 'अखण्डयशसः' न होकर 'अकुण्ठयशसः' होना चाहिए; क्योंकि यश कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके भाग (खण्ड) किए जायें। अपितु यह कुण्ठित हो सकता है। उत्तर० और हनु० दोनों में यही पाठ है।

पृष्ठ ७५. 'सकलरिपु' आदि श्लोक वेणी० के अनुसार अर्जुन की उक्ति है और 'चूर्णिताशेष' आदि श्लोक भीम की उक्ति है। किन्तु सभी संस्करणों में दोनों को ही भीम की उक्ति कहा गया है।

पृ० ८५. 'क्वासौ' आदि में 'योपहसति' पाठ समीचीन है।

पृ० ८८. चौसठवीं कारिका के अनुसार ही यहाँ भी 'दृश्यश्रव्य' पाठ न होकर 'दृश्यश्राव्य' होना चाहिए।

पृ० ९८. (i) वृत्तिकार के द्वारा उद्धृत बृहत्कथा के दो श्लोक निर्णयसागर के संस्करण में कुछ पाठभेद के साथ आए हैं। 'सहसा' के लिए 'सप्ताहात्'; 'योगानन्दयशःशेषे' इस समस्त पद के लिए 'योगानन्दे यशः शेषे' पाठ है और 'कृतो राजा' के स्थान

पर 'धृतो राज्ये' पाठ है। (ii) वृत्तिकार ने मुद्राराक्षस की कथा का मूल बृहत्कथा में दिखलाया है। उसी प्रकार महावीरचरित आदि की कथा का मूलस्रोत रामायण में कही गई राम-कथा है और अभिज्ञानशाकुन्तल का मूल महाभारत आदि (आदि अर्थात् पुराणों) में कही गई दुष्यन्त की कथा है। आडयार का यह पाठ बिलकुल संगति बैठा देता है।

पृ० ११७. 'उचितः प्रणयो' आदि मालवि० के श्लोक में 'ननु' के स्थान पर 'न तु' होना चाहिए। रामषारक की टीका में भी 'न तु' ही पाठ है।

पृ० १२७. 'कुलबालि आए' आदि प्राकृत श्लोक में 'पवसिए' की छाया 'प्रवसिते' ठीक नहीं है। 'प्रोषिते' होनी चाहिए।

पृ० १२८. 'हसिअमविआर०' की संस्कृत छाया 'विचार' न होकर 'विकार' होगी।

पृ० १३०. 'प्रथमजनिते' आदि उदा० में 'कितवचरिते' और 'नासज्याङ्के' अलग नहीं रहना चाहिए। 'कितवचरितेनासज्याङ्के' एक में होना चाहिए 'भुजैव' के स्थान पर 'मुखैव' और 'रुदन्त्यपि' के स्थान पर 'रुदत्यपि' समीचीन पाठ है।

पृ० १५३. 'महुएहि' (गाथा० ८७१) आदि प्राकृत पद्य स्वयं ही दूती का कार्य करने वाली नायिका द्वारा कहा गया है। उपलब्ध संस्करणों में अत्यन्त भ्रष्ट पाठ हैं। यह पद्य काव्यानुशासन में भी उद्धृत है। साहित्यमीमांसा के अनुसार इसका पाठ इस प्रकार है—मह एहि किं व पन्थअ जह रहसि णिअस्सणं णिअं वा।

ओद्दो साहेमि कस्स रणे गामो दूरं अहं एक्का॥

पृ० १५८. 'दे आ पसिअ' आदि (गाथा० ९६२) काव्यानुशासन में भी उद्धृत है। आनन्दवर्धन ने प्रतिषेध रूप वाच्य के अनुभय रूप व्यङ्ग्य के प्रसङ्ग में इस गाथा को उद्धृत किया है। 'लोचन' में अभिनवगुप्त द्वारा इसकी छाया भी दी गई है।

पृ० १७५. तृतीय पङ्क्ति में 'सुसंगता' न होकर 'मनोरमा' होना चाहिए। जैसा कि हास ने कहा है कि यह लिपिकार की गल्ती है जो रत्नावली से सदा परिचित रहकर 'प्रियदर्शिका' में पात्र के नाम के बारे में भ्रमित हो गया है।[1]

पृ० १८६. कारिका में 'काव्यम्' के स्थान पर 'काव्यार्थम्' समीचीन पाठ हैं। जैसा कि इसी प्रकाश की चौथी कारिका से स्पष्ट है।

पृ० २३७. 'न्यक्कारो' आदि श्लोक हनु० में प्राप्त है। किन्तु वहाँ बाद के दो चरण पहले हैं अर्थात् 'धिग्धिग्शक्र०' से श्लोक का आरम्भ है।

पृ० २७४. 'एकेनाक्ष्णा' आदि श्लोक हनु० १२.१७ से उद्धृत है। यहाँ का पाठ विसृजति रसौ रुद्रकारुण्यसञ्ज्ञौ' अर्थ की संगति बैठा देता है। अतः 'रचयति रसौ नर्तकीवप्रगल्भा' इस प्रचलित पाठ को इस संस्करण में छोड़ दिया गया है।

१. द्र० जी. सी. हास, पृ० ७०, १९६२।

पृ० २७५. 'मात्सर्यमुत्सार्य' आदि श्लोक में धनिक का यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता है कि चिरकाल से चली आ रही वासना हेय है। वस्तुतः यह शृङ्गार-शतक का श्लोक है। यहाँ शृङ्गार-वर्णन का ही प्राधान्य है न कि शम का।

पृ० २८२. 'क्रियासमन्वयायोगात्' आदि कारिका आडयार संस्करण के आधार पर जोड़ी गई है।

पृ० ३११. 'अङ्गैरन्तर्निहित०' आदि श्लोक में 'हस्तैरन्त०' आदि पाठ समीचीन नहीं है। मालवि० के इस श्लोक पर रामषारक की टीका भी 'अङ्गैः' पाठ पर ही उपलब्ध है।

पृ० ३३०. 'उच्यताम्' आदि श्लोक किरात का है। इसमें नायिका और उसकी सखी का वार्तालाप है। उपलब्ध सभी संस्करणों में इसे उलट-पुलट कर रक्खा गया था जिसे किरात के ही अनुसार यहाँ रक्खा गया है।

दशरूपक के प्रतिपाद्य-विषय—

प्रस्तुत ग्रन्थ दशरूपक में नाट्य विषयों का संक्षिप्त निरूपण है। स्वयं धनञ्जय ने ग्रन्थ का प्रयोजन बतलाते हुए प्रथम प्रकाश की चतुर्थ कारिका में इस प्रकार कहा है—

'ब्रह्मा ने सभी वेदों के सारभाग को ले-लेकर जिस नाट्यवेद की रचना की, और आचार्य भरत ने संसारिकता से मुक्त मुनि होते हुए भी जिस नाट्यवेद को प्रयोग रूप में प्रस्तुत किया, नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर ने जिस नाट्यवेद में ताण्डव रूप उद्धत नृत्य का एवं जगदम्बा पार्वती ने जिसमें लास्य रूप सुकुमार नृत्य का समावेश किया, उस लोकोत्तर नाट्यवेद के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के निरूपण में भला कौन समर्थ हो सकता है? फिर भी प्रकृष्ट गुणों वाली प्रतिपादन-शैली के द्वारा उसके लक्षणों को मैं संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।'[1]

ग्रन्थ का मुख्य विषय दस प्रकार के रूपकों का वर्णन है। इसमें चार प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश **वस्तु-विभाग** नामक प्रकाश है, द्वितीय **नेतृ** प्रकाश है, तृतीय **रूपक-लक्षण** नामक प्रकाश है। और चतुर्थ **रस-विचार** नामक प्रकाश है।

प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के बाद 'दशरूपक' की रचना के उद्देश्य को बतलाकर अनुबन्ध चतुष्टय [विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन] का निर्देश है। 'प्रवृत्ति प्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' के अनुसार 'किसी ज्ञान में प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति के प्रयोजक ज्ञान का विषय 'अनुबन्ध' है। ग्रन्थकार ने ३—६ कारिका में दशरूपक के विषय, उसके अधिकारी कौन है एवं विषय से ग्रन्थ का सम्बन्ध क्या है तथा ग्रन्थ रचना का प्रयोजन आदि बतलाया है। रूपक के विषय में भामह के मत पर कटाक्ष

१ ····नाट्यानां किं तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि॥ दश० १.४।

करते हुए आनन्दानुभूति को ही नाट्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। नाट्य का लक्षण करते हुए सातवीं कारिका में उसके पर्याय 'रूप' एवं 'रूपक' को भी बतलाया है, और इसी प्रसङ्ग में आगे वर्णन इस प्रकार है—

१. रूपक के भेद

धनञ्जय के अनुसार रूपक के दस भेद हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग ॥ १.८ ॥

२. नृत्य और नृत्त

ताल और लय पर आश्रित नाच 'नृत्त' कहलाता है और भाव अर्थात् अभिनय पर आश्रित 'नृत्य'।

इनमें आद्य, अर्थात् नृत्य में पदों से व्यक्त अर्थ का अभिनय होता है जिसके दो प्रकार हैं—१. मार्ग और २. देशी ॥१.९॥

और अन्य अर्थात् नृत्य के दो भेद हैं—लास्य और ताण्डव जो क्रमशः मधुरता और उद्धतता पर आधृत हैं। ये दोनों भेद नाटकादि रूपकों में सहयोगी होते हैं ॥१.१०॥

३. रूपक के तीन आधार

रूपकों का वर्गीकरण तीन तत्त्वों पर आधारित है—वस्तु, नेता और रस।

[क] वस्तु

प्रथम प्रकाश का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रूपक की कथावस्तु है। कथावस्तु दो प्रकार की बतलाई गई है—१. आधिकारिक और २. प्रासंगिक। प्रधान कथावस्तु आधिकारिक कही गई है और रूपक में आदि से अन्त तक चलने वाली उस प्रधान वस्तु की सहायक वस्तु को 'प्रासंगिक' कहा गया है। प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की है—(i) पताका, और (ii) प्रकरी। प्रधान कथावस्तु का दूर तक साथ देने वाली प्रासंगिक कथा पताका कहलाती है, जैसे रामायण की कथा में सुग्रीव की कथा। प्रधान कथा के साथ कुछ ही दूर तक चलने वाली कथा प्रकरी कही गई है, जैसे रामायण में ही शबरी अथवा जटायु की कथा है।[1] पताका के ही प्रसंग में ग्रन्थकार ने 'पताका स्थानक' का भी उल्लेख किया है। आगन्तुक प्रसंगप्राप्त कथावस्तु की सूचना जहाँ अन्योक्ति के द्वारा की जाय उसे 'पताकास्थानक' कहते हैं।[2] यह अन्योक्तिरूप और

१. दश० १.१३-१४।

२. दश, १.१४। द्र० भावप्रकाशन जहाँ शारदातनय ने इसे तीसरे प्रकार की प्रासंगिक कथावस्तु बतलाया है।

समासोक्तिरूप से दो प्रकार माना गया है। धनिक ने रत्नावली से उदाहरण इस प्रकार दिया हैं—१. महाराज उदयन के रत्नावली से विदा लेते समय नेपथ्य से **'प्राप्तोऽस्मि पद्मनयने'** आदि पद्य के माध्यम से उदयन के द्वारा सागरिका के भावी मिलन की सूचना कवि द्वारा दी गई है। यहाँ अन्योक्ति से भावी इतिवृत्ति की सूचना दी गई है। इस प्रकार अन्योक्ति वाले पताकास्थानक में प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों का इतिवृत्त एक सा होता है अर्थात् वे 'तुल्येतिवृत्त' होते हैं। यहाँ उदयन-सागरिका-व्यापार रूप प्रस्तुत की व्यञ्जना दिनकर-पद्मिनी-व्यापार रूप अप्रस्तुत के द्वारा कराई गई है। २. रत्नावली से ही धनिक ने समासोक्ति का भी उदाहरण दिया है—कलियों से भरी उद्यानलता को देखते समय 'उद्दामोत्कलिकाम्' आदि इस उयन की उक्ति के द्वारा सागरिका-दर्शन-जन्य देवी वासदत्ता के कोप रूप भावी घटना की व्यञ्जना कराई गई है। इस प्रकार समासोक्ति वाले पताकास्थानक में प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों में विशेषणों की समानता होती हैं अर्थात् वे 'तुल्यविशेषण' होते हैं। यहाँ लता रूप प्रस्तुत के और कामविदग्धा रूप अप्रस्तुत नायिका के समान विशेषणों के द्वारा भावी घटना का संकेत दिया गया है। किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार यह गलत उदाहरण है।[1] यह कथा भी दो प्रकार की बतलाई गई है। आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रासंगिक कथा भी तीन-तीन प्रकार की होती है—१. प्रख्यात, २. उत्पाद्य [= कविकल्पित] तथा ३. मिश्रित। प्रासंगिक-इतिवृत्त प्रधान-इतिवृत्त के विकास में सहायक होता है।

वस्तु-योजना की दृष्टि से कथावस्तु को पुनः तीन प्रकार से विभाजित किया गया है—१. अर्थप्रकृति २. अवस्थाएँ और ३. सन्धियाँ। रूपक में इतिवृत्त के नायक का कुछ न कुछ लक्ष्य होता है। यही रूपक का फल है। उस फल की सिद्धि की उपायभूत अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। ये अर्थ-प्रकृतियाँ पाच हैं—१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी तथा ५. कार्य।[2]

फल के उद्देश्य से किए गए नायक के व्यापार [= कार्य] की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हो कार्यावस्थाएँ कहलाती हैं। यह भी पाँच हैं— १. आरम्भ, २. प्रयत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति तथा ५. फलागम।[3]

अर्थप्रकृतियों का कार्यावस्थाओं के साथ सम्बन्ध होने पर सन्धियाँ उद्भूत होती हैं, ये सन्धियाँ पाच हैं—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्श, और ५. उपसंहार या निर्वहण।[4] इस प्रकाश की ५४ कारिका तक आचार्य द्वारा चौंसठ अंगों से समन्वित

१. 'उद्दामोत्कलिकाम्' इति तु नोदाहरणम् द्व्यर्थत्ताप्रतिपत्तावपि हि नात्रार्थेन सहकारिता कुत्रचिदाचरिता। तस्मादेतद् वीथ्यङ्गस्य व्याहारस्यैवोदाहरणं युक्तम्।' इस प्रकार अभिनवभारती में इसे 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण माना है। अभि० भा०, ३ भाग, पृ० २१-२२

२. दश० १.१८। ३. दश० १.२०-२२। ४. दश० १.२३-५४।

पञ्चसन्धियों का प्रतिपादन किया गया है। इन ६४ सन्धियों के अंगों के ६ प्रकार के प्रयोजन बतलाए गए हैं।[1]

समस्त कथावस्तु का पुनः दो प्रकार का विभाजन विन्यास की दृष्टि से करते हैं— १. सूच्य कथावस्तु और २. असूच्य कथावस्तु [दृश्य एवं श्रव्य]। नाटक का मुख्य उद्देश्य रसास्वादन कराना है। सभी घटनाओं का रङ्गमञ्च पर मञ्चन करना ठीक नहीं होता। अतः ऐसी घटना जो अनुचित या नीरस है किन्तु उसकी सूचना कथावस्तु के प्रवाह में आवश्यक हैं उसे 'सूच्य' कहते हैं। जो घटना रोचक होती हैं उनका अभिनय या विशद वर्णन रसास्वाद का पोषक होने के कारण 'दृश्य' अथवा 'श्रव्य' होता है। सूच्य कथावस्तु की सूचना के लिए पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग होता है। ये हैं— १. विष्कम्भक, २. चूलिका, ३. अङ्कास्य, ४. अङ्कावतार और ५. प्रवेशक।[2]

कथोपकथन की दृष्टि से पुनः कथावस्तु के तीन भेद बतलाए गए हैं १. सर्वश्राव्य २. नियतश्राव्य और ३. अश्राव्य। नाटकों में 'प्रकाशम्' शब्द से प्रकट किया गया संवाद सर्वश्राव्य हैं। नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है १. जनान्तिक और २. अपवारित। 'स्वगत' उक्ति अश्राव्य है। इन तीन प्रकार के कथोपकथन के अतिरिक्त 'आकाशभाषित' नामक एक और नाट्योक्ति होती है।[3]

इस प्रकार प्रथम प्रकाश में कथावस्तु का पाँच प्रकार का विभाजन किया गया है; जिनका विहंगावलोकन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. स्वरूप की दृष्टि से कथावस्तु (Plot) का विभाजन—

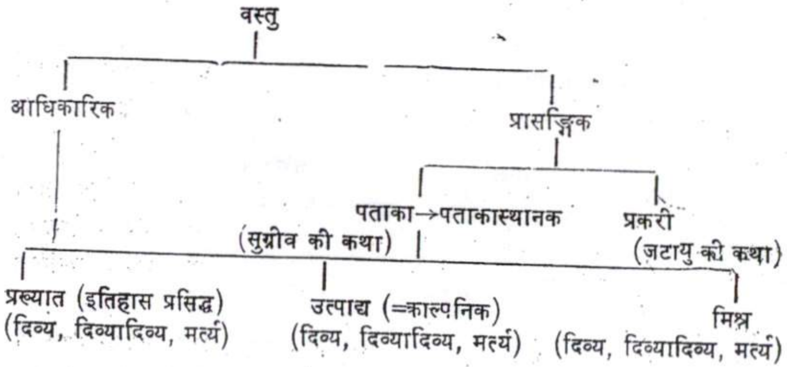

---

1. कीथ के अनुसार 'इन सन्ध्यङ्गों के बँटवारे का कोई वास्तविक मूल्य नहीं हैं, सं० नाटक, पृ० ३२०।
2. दश० १. ५८-६२।
3. दश० १. ६३-६७।

२. फल की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

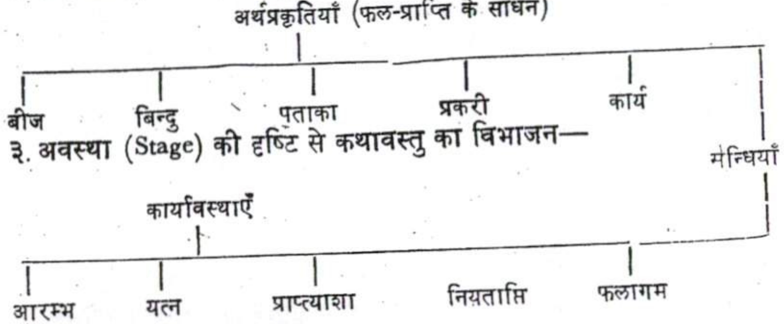

३. अवस्था (Stage) की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

३. विन्यास की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

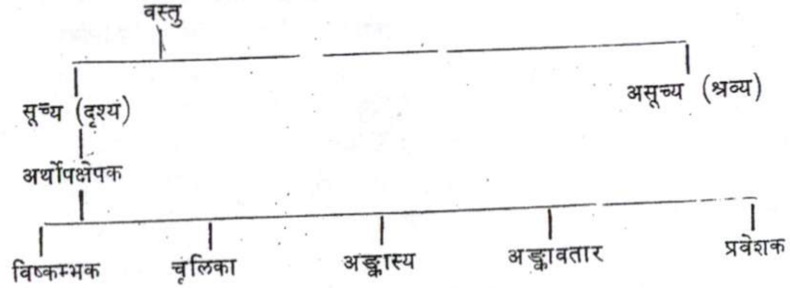

५. कथोपकथन की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

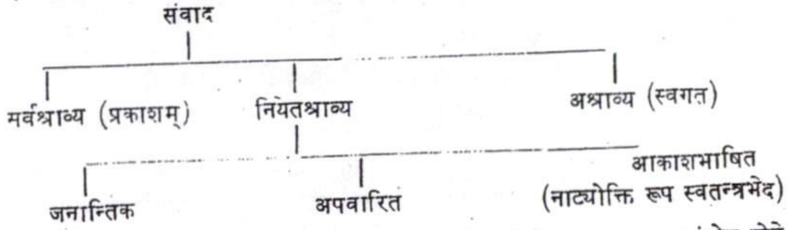

दशरूपक के अनुसार 'अर्थप्रकृतियों का कार्यावस्थाओं के साथ क्रमशः संयोग होने पर सन्धि का उद्भव होता है। इनका स्वरूप इस प्रकार होगा—

१. बीज + आरम्भ = मुखसन्धि
२. बिन्दु + प्रयत्न = प्रतिमुखसन्धि
३. पताका + प्राप्त्याशा = गर्भसन्धि
४. प्रकरी + नियताप्ति = अवमर्शसन्धि
५. कार्य + फलागम = उपसंहृति

सन्धि के उपर्युक्त लक्षण में तीन प्रकार की विप्रतिपत्ति सम्भावित है—१. प्रथमतः प्रश्न यह है कि अर्थप्रकृतियों में पताका के पश्चात् प्रकरी का क्रम है। राम-कथा में सुग्रीव की कथा 'पताका' है और शबरी या जटायु की कथा 'प्रकरी' है। किन्तु सुग्रीव-कथा रूप पताका का वर्णन जटायु-कथा रूप प्रकरी के वर्णन के बाद किया गया है। तब अर्थप्रकृति और अवस्थाओं का क्रमशः सम्बन्ध कैसे सम्भावित है ? २. दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि ना० शा० १.२८ के अनुसार पताका में भी सन्धियाँ होती हैं जिन्हें 'अनु-सन्धि' कहते हैं। तब अर्थप्रकृति एवं अवस्थाओं के योग से सन्धि का समुद्भूत होना कैसे सम्भव होगा ?

इन प्रश्नों का समाधान यही होगा कि वस्तुगत स्थिति यह है कि सन्धियाँ कार्यावस्थाओं का अनुगमन करती हैं।[१] अर्थप्रकृतियों के साथ सन्धियों का सम्बन्ध नहीं बन सकता। मात्र बीज, बिन्दु और कार्य जो किसी भी रूपक के लिए अनिवार्य अर्थप्रकृतियाँ हैं और जो समस्त कथावस्तु में व्याप्त सी रहती हैं उनकी अवस्थाओं का पाँचों सन्धियों से संयोग अवश्य ही रहता है। इस प्रकार दशरूपक के सन्धि लक्षण में **'यथासंख्येन जायन्ते'** यह कहना युक्तियुक्त नहीं हो पाता है। फिर भी कीथ का यह कहना कि 'अर्थप्रकृतियों का विभाजन व्यर्थ हो जाता है' यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थप्रकृतियाँ कार्यसिद्धि की उपायभूत हैं; जिनका कथावस्तु के संघटन में अथवा उसके विकास में अपना अलग अलग अस्तित्व है। फिर दशरूपक में सम्भवतः उपर्युक्त विप्रतिपत्तियों के कारण ही सन्धि का लक्षण और सन्धि-सामान्य का अलग लक्षण किया गया है। सन्धि शब्द का अर्थ है सन्धान, मिश्रण या ठीक ढंग से मिलाना। यहाँ पर किसी रूपक की कथा-वस्तु की सुव्यवस्थित योजना का नाम सन्धि है—यही मोटे रूप से समझना चाहिए। इस प्रकार यह कहना ठीक होगा कि अर्थप्रकृति और अवस्था के समन्वित रूप से इतिवृत्तों की योजना करनी चाहिए।

वस्तु के अनन्तर रूपक के भेदक तत्त्वों में नेता [=नायक] का स्थान है।

[ख] नेता

द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद-प्रभेदों का विवेचन किया गया है। **'नायक'** का अर्थ है नाटक का **मुख्य-पात्र**। इसे विनीत, मधुर, त्यागी आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।[२] इसके चार भेद धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत तथा उनके लक्षणों का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में शृङ्गारी नायक की चार अवस्था—दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल का वर्णन है।[३] इसके बाद पताका-नायक पीठमर्द तथा अन्य नेतृ-सहचरों का वर्णन है। राम-कथा में सुग्रीव पताकानायक हैं। शृंगारी नायक विट और विदूषक बताए गये हैं।[४] मन्त्री आदि कार्यसिद्धि में

१. ना० शा० १९. ३७-४३। ना० द० १. ३७।
२. दश० २. १-२।   ३. दश० २. ६-७।   ४. दश० २. ८-९।

नायक के सहायक होते हैं। इसी प्रकार पुरोहित आदि धर्म में, सामन्त व सैनिक आदि दण्ड में तथा वर्षवर आदि अन्तःपुर में नायक के सहायक हुआ करते हैं।[१] किन्तु इनके मध्य कहीं भी कञ्चुकी का उल्लेख नहीं किया गया है। आगे नायक के चरित्र को उभारने के लिए प्रतिनायक की योजना करने का और उसके स्वरूप का वर्णन करके नायक के शोभा इत्यादि आठ सात्त्विक गुणों का वर्णन किया गया है।[२]

नायिका को भी सामान्यतः नायक के ही गुणों से युक्त होना चाहिए। मुख्य रूप से नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री (वेश्या)। स्वकीया भी मुग्धा, मध्या व प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार की होती है। इस प्रकार नायिका के सोलह भेदों का वर्णन लक्षण के साथ किया गया है। इसके बाद उसके अवस्थानुरूप स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों का विवेचन है।[३] नायक के ही समान नायिका की दासी, सखी आदि सहायिकाओं का वर्णन है। इसके बाद नायिका के बीस अलङ्कार—शारीरिक, अयत्नज, और स्वभावज अलङ्कारों का वर्णन है। हाव, भाव आदि अलङ्कार इसलिए कहे गये हैं क्योंकि यह युवतियों के शरीर की शोभा बढ़ाते हैं।[४]

इसके बाद नायक के परिच्छद का वर्णन कर उसके व्यापार रूप चार नाट्यवृत्तियों कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी, और भारती का निर्देश किया गया है। यहीं पर प्रथम तीन वृत्तियों के अङ्गों का भी लक्षण के सहित प्रतिपादन है।[५] इसके बाद पात्रों के बीच किस भाषा का प्रयोग हो और कौन पात्र किसे किस-तरह सम्बोधित करें—यह भी बताया गया है।

इस प्रकार द्वितीय प्रकाश में किए गए नायक विवेचन का विहंगावलोकन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

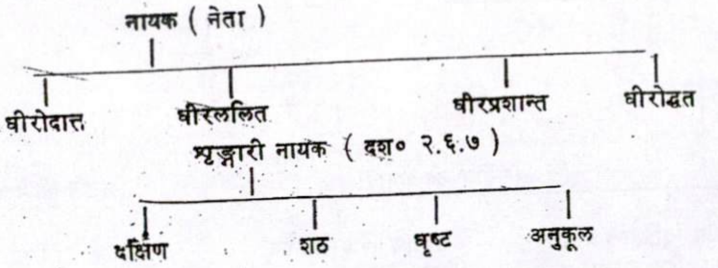

१. दश० २. ४२-४६।   २. दश० २. १०-१४।
३. दश० २. २३; २८।   ४. दश० २. ३०-४२।   ५. दश० २. ४३-६२।

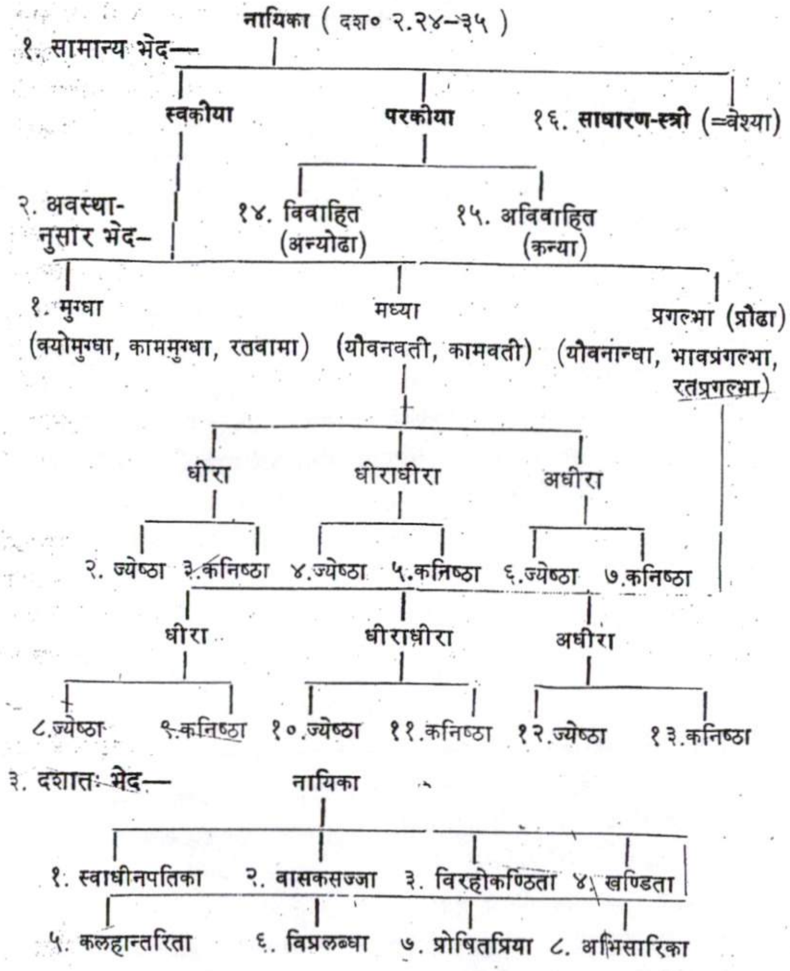

तृतीय प्रकाश में दशरूपकों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दस रूपकों में नाटक ही प्रमुख है; इसीलिए इसका विवेचन प्रथमतः किया गया है। ग्रन्थकार समय समय पर नाटक की स्थापना आदि नाट्य-प्रयोगों का भी प्रतिपादन करते आए हैं। किन्तु पूर्वरङ्ग और नान्दीपाठ का उल्लेख नहीं किया गया है। सम्भवतः ग्रन्थकार का उद्देश्य मात्र रूपक के रचना-विधान का विवेचन करना है; नाट्य-प्रयोगों का प्रतिपादन नहीं।

धनञ्जय ने कथावस्तु, नायक और रस को ही रूपकों के भेदक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है और उन्हीं रूपकों के दस प्रकारों का विवेचन किया है जिनका सम्भवतः उनके समय में प्रचलन था। इन दस रूपकों को एक दृष्टि में हम इस प्रकार स्पष्टतः देख सकते हैं—

दशरूपक

(एक विहंगावलोकन)

क्रम	रूपकों के नाम	वस्तु	नेता	रस	सन्धियाँ	वृत्तियाँ	अङ्क	सम्बद्ध कारिकाएं
१.	नाटक	प्रख्यात वस्तु(ऐतिहासिक या पौराणिक)	धीरोदात्त नायक (नृप या दिव्य)	अङ्गी रस वीर या शृङ्गार तथा अन्य सभी रस अङ्ग हो सकते हैं।	पाँचों सन्धियाँ (मुख,प्रतिमुख, गर्भ अवमर्श, निर्वहण)	चारों वृत्तियाँ (कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती एवं भारती)	पाँच से दस	३.१-३८
२.	प्रकरण	कल्पित (=उत्पाद्य) वस्तु	धीरप्रशांत (अमात्य विप्र, वणिक्) नायक	,,	,,	,,	,,	३.३९-४२
	[नाटिका] प्रकरण का संकीर्ण रूप	,,	धीरललित (प्रख्यात नृप)	शृङ्गार रस	पाँचों संधियाँ (किंतु अवमर्श सन्धि अल्प)	विशेष रूप से कैशिकी वृत्ति	चार	३.४३-४८
३.	भाण	कल्पित वस्तु धूर्त चरित विषयक	कुशल एवं बुद्धिमान विट नायक	वीर या शृङ्गार की मात्र सूचना	दो सन्धियाँ (मुख एवं निर्वहण)	कैशिकी से भिन्न तीन वृत्तियाँ अधिकतर भारतीवृत्ति	एक	३.४९-५३
४.	प्रहसन	कल्पित वस्तु	पाखण्डी, विप्रकामुक आदि	अङ्गीरस हास्य	,,	अधिकतर भारती वृत्ति	एक	३.५४-५६
५.	डिम	प्रख्यात वस्तु	पिशाच आदि १६ उद्धत पात्र	अङ्गीरस-रौद्र,अङ्गरस-वीर बीभत्स, अद्भुत, करुण, भयानक	चार सन्धियाँ (मुख,प्रतिमुख गर्भ, निर्वहण)	कैशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ	चार	३.५७-६०

६.	व्यायोग	,,	उद्धत-प्रख्यात (अधिक पुरुष पात्र)	हास्य एवं शृङ्गार को छोड़कर ६ रस	तीन सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख निर्वहण)	,,	एक	३.६०-६२
७.	समवकार	प्रख्यात वस्तु (देव-तथा असुरों से सम्बद्ध)	विख्यात एवं उदात्त प्रकृति वाले (देव और दानव बारह नायक)	वीर रस की प्रधानता (अन्य सभी रस अङ्ग रूप में विशेषतः शृङ्गार)	विमर्श से भिन्न चार सन्धियाँ	चारों वृत्तियाँ (कैशिकी की अल्पता के साथ)	तीन	३.६२-६८
८.	वीथी	कल्पित वस्तु	एक या दो पात्र	प्रधानतः सूच्यरस शृङ्गार; अन्य रसों का स्पर्श मात्र	दो सन्धियाँ (मुख एवं निर्वहण)	कैशिकी वृत्ति	एक	३.६८-७०
९.	अङ्क (उत्सृष्टि-काङ्क)	प्रख्यात वस्तु	साधारण जन नायक	अङ्गी रस-करुण	,,	अधिकतर भारती वृत्ति (भाणवत्)	,,	३.८०-७२
१०.	ईहामृग	मिश्रित वस्तु	धीरोद्धत प्रख्यात (देव तथा नर)	शृङ्गार रस	तीन सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख निर्वहण)	सभी वृत्तियाँ (?)	चार	३.७२-७५

यहीं भारतीवृत्ति एवं उसके अङ्गों का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया गया है।[1] दशरूपक के मत से 'प्रकरणिका' नाटिका से भिन्न नहीं है।[2] धनिक ने डोम्बी आदि सात अन्य रूपकों का तो उल्लेख किया है किन्तु वे इनको 'नृत्य' मानते हैं। फिर भी ग्रन्थकार को सङ्कीर्ण रूपकों में केवल नाटिका ही अभीष्ट है।

१. दश ३.४–२१।　　२. दश ३.४४–४५।

[ग] रस

विषय-संक्षेप

चतुर्थ प्रकाश में रस की विवेचना की गई है। रस के विषय में दशरूपककार की अपनी कुछ मान्यताओं के कारण उनका रस-सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। प्रथम कारिका में रस का लक्षण करने के बाद उसके साधन-रूप विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके बाद स्थायीभाव के स्वरूप का वर्णन है; जहाँ वृत्तिकार ने रसविरोध एवं भावविरोध के विषय में अपना मत प्रस्तुत किया है। इसके बाद आठ भावों एवं आठ रसों का उल्लेख करते हुए 'शम' नामक स्थायीभाव का नाट्य में खण्डन किया गया है। प्रसङ्गात् रस के व्यंग्यत्व सम्बन्धी ध्वनिवादी सिद्धान्त का भी खण्डन कर दिया गया है। ध्वनिकार के अभिमतों को उद्धृत करते हुए धनिक ने उनके व्यञ्जनावृत्ति विषयक मत का खण्डन करके यही स्थिर किया हैं कि व्यंग्यार्थ जैसी कोई वस्तु हैं ही नहीं। सब कुछ तात्पर्यार्थ ही है। रस के भावना-विषयक सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए विभावादि को भावक एवं रस को भाव्य माना है। अन्त में रस के भेदों के सहित उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

[i] रस का लक्षण

जब स्थायीभाव विभावों, अनुभावों, सात्त्विक-भावों एवं व्यभिचारी-भावों द्वारा स्वाद्य बना दिया जाता है तो वह 'रस' कहलाता है ॥४.१॥

इस प्रकार भाव ही रस का बीज है एवं रस का मूल रूप है। भाव आठ हैं–रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय और शोक। इनके अलावा नौवाँ भाव 'शम' भी हैं; जिसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती। ये भाव ही क्रमशः आठ रसों में परिणत हो जाते हैं–शृङ्गार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक, करुण (एवं नवाँ शान्त रस) है। इन आठ रसों में प्रथम चार प्रधान हैं और चार गौड़ हैं। प्रधान चार रस से ही शेष चार गौड़ रस उद्भूत होते हैं जैसे १. शृङ्गार से हास्य, २. वीर से अद्भुत ३. बीभत्स से भयानक और ४. रौद्र से करुण। इन चार युग्मों का सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से है। मन की ये चार स्थितियाँ रसास्वाद के समय होती हैं। इस समय सहृदय का मन या तो विकसित होता है, या विस्तृत होता है, या क्षुब्ध होता है, अथवा विक्षेप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार १. शृङ्गार व हास्य में मन विकसित होता है २. वीर व अद्भुत में मन का विस्तार होता है, ३. बीभत्स व भयानक में मन क्षुब्ध होता है और ४. रौद्र व करुण में मन विक्षेप-युक्त हो जाता है।

शान्त-रस—आचार्यों ने 'शम' को नवाँ स्थायीभाव मानते हुए शान्त रस की भी सत्ता स्वीकार की है। किन्तु इस **शान्त-रस** के प्रति आचार्यों में अनेक मत विभिन्नता

4. दश.

है। १. कुछ आचार्य कहते हैं कि शान्त नामक रस ही नहीं होता क्योंकि आचार्य भरत ने न तो उसका लक्षण दिया और न तो उसके विभावादिकों का प्रतिपादन ही किया है। २. दूसरे आचार्यों के अनुसार वास्तव में शान्त रस की सत्ता ही नहीं हो सकती, क्योंकि जो राग-द्वेष अनादि काल से अनवरत प्रवाह के रूप में अन्त:करण में चलता चला आ रहा है उसका व्यावहारिक रूप से सर्वथा उच्छेद असम्भव है। ३. अन्य आचार्य तो वीर व वीभत्स आदि रसों में ही शान्त रस का अन्तर्भाव कर देते हैं और वे तो 'शम' की भी सत्ता नहीं मानते। ४. इस सम्बन्ध में दशरूपकार का मत है कि कुछ भी हो किन्तु हम नाट्यशास्त्री तो अभिनयात्मक नाटक आदि में 'शम' के स्थायीभाव होने का सर्वथा निषेध करते हैं[1], क्योंकि उस शम की अवस्था में समस्त व्यापारों का विलय हो जाता है अत: वह क्रिया रहित दशा अभिनय-सम्भाव्य नहीं है।

इसी प्रसंग में धनिक ने इस मत का भी खण्डन कर दिया है कि 'नागानन्द' शान्तरस-प्रधान नाटक है। यह वस्तुत: वीर-रस प्रधान है; और दयावीर का उत्साह ही इसका स्थायीभाव है; क्योंकि सम्पूर्ण नाटक में मलयवती के प्रति जीमूतवाहन का अनुराग वर्णित है और अन्त में 'विद्याधर-चक्रवर्ती'—पद की प्राप्ति भी उसे होती है।

शान्त रस की सत्ता को स्वीकार करते हुए ग्रन्थाकार उसका अन्तर्भाव इन्हीं आठ रस में यह कहकर करते हैं कि शान्तरस अभिनेय नहीं है अत: उसका नाटक में तो अनुप्रवेश नहीं, पर उसके काव्य विषयत्व का निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी सूक्ष्मातीत वस्तुएँ शब्दों से प्रतिपादित हो सकती हैं। अत:उनकी सत्ता भी है ही। उसका लक्षण इस प्रकार है—

'शान्त रस अनिर्वाच्य और शम का प्रकर्ष है तथा मोद उसका स्वरूप है।[2]

अत: उसकी विशेषताएँ ये हैं—

'मुनिराजों ने उस रस को शान्त कहा है जिसमें सुख, दु:ख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छा आदि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावों में शम प्रधान रहता है।'

इन लक्षणों वाले शान्त की निष्पत्ति आत्म-स्वरूप प्राप्त होने की मोक्षावस्था में होने के कारण उसकी अनिर्वचनीयता कही गई है। बृह० श्रुति ने भी उसका वर्णन 'नीति-नेति' कहकर अपोह रूप से किया है। अत: उस प्रकार के अनिर्वचनीय शान्त रस का आस्वाद लेने वाले सांसारिक सहृदय जन भी नहीं हैं। इसलिए उस शम की उपायभूत जो मुदिता, मैत्री, करुणा और उपेक्षादि रूप चित्त की चार वृत्तियाँ हैं और जो क्रमश: विकास, विस्तार, क्षोभ एवं विक्षेप की ही प्रतिरूप है, उनसे शान्त रस का आस्वाद होता है। अत: उन्हीं आठ रसों में इसका भी अन्तर्भाव हो जाता है।

१. शममपि केचित् प्राहु: पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य ॥ दश० ४. ३५

२. दश० ४.४५।

अब प्रश्न यह है कि रस के साधन भाव को रस के रूप में परिणत करने वाले ये विभावादि क्या हैं ?

[ii] विभाग और उसके भेद

ज्ञायमान होने के कारण स्थायीभाव की पुष्टि करने वाले तत्त्व को 'विभाव' कहते हैं। उसके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन ॥ ४.२ ॥

विभाव का तात्पर्य है विशिष्ट (स्पष्ट) ज्ञान । इन विभावों की सत्ता वस्तु-शून्य नहीं होती, क्योंकि उन्हें अपनी व्यञ्जना के लिए किसी बाह्य सत्त्व की आवश्यकता नहीं, तथा वे अपने शब्दों द्वारा ही अपना भाव पूर्ण कर देते हैं तथा सामान्यात्म होने के कारण अपने-अपने सम्बन्ध से नायकादि के प्रति भावक के चित्त में विपरिवर्तमान होते हैं। इसीलिए ये आलम्बनादि कहे जाते हैं। भर्तृहरि ने भी इनको वस्तु-शून्य न मानकर ही कहा है—"शब्दों से उपहित रूप वाले और बुद्धि के विषय बने हुए कंसादिक विभाव साधन-रूप हैं।" षट्साहस्रीकार [=भरत] ने भी कहा है—"इन विभाव आदि से सामान्य गुणों के साथ योग होने पर अर्थात् सभी सहृदयों के हृदय के साथ संवाद होने पर 'रस' निष्पन्न' होते हैं।"[1] जैसे शृंगार-रस का आस्वादकर्ता दुष्यन्त है जो 'रति' भाव का आश्रय है। इस भाव को 'रस' रूप में परिणत करने का प्रमुख-साधन शकुन्तला है, किन्तु इसके साथ ही शकुन्तला की चेष्टाएँ तथा तत्सम्बन्धी देश एवं काल आदि में सहायक हैं अतः ये दोनों ही 'विभाव' कहलाते हैं। शकुन्तला दुष्यन्त के 'रति' भाव का आलम्बन है तथा देश एवं काल आदि इसके उद्दीपक-विभाव हैं। 'रति' भाव की अनुभूति के बाद पैदा होने वाली दुष्यन्त की चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं।

[iii] स्थायीभाव

जो विरुद्ध या अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावों से विच्छिन्न न होते हुए लवणाकर (=समुद्र) के समान अन्य भावों को आत्मभाव में परिणत कर लेता है वह 'स्थायीभाव' कहलाता है ॥ ४.३४ ॥

[iv] व्यभिचारीभाव

शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त में 'रति' भाव उत्पन्न होता है। वह अपने को उसके द्वारा परिणय-योग्य नहीं समझता है अतः निराश होता है। फिर मन में विश्वामित्र की पुत्री होने से आशा होती है। फिर उत्सुकता होती है, आदि-आदि भावानुभूतियाँ होती हैं जो थोड़े समय तक रहती हैं फिर लुप्त हो जाती हैं। ये अस्थायी भाव हैं, अर्थात् एक क्षणिक-भाव उठकर लुप्त होता है, दूसरा भाव उठता और वह भी लुप्त हो जाता

१. ना० शा० ७.६-७।

हैं—इस प्रकार एक स्थायीभाव में अनेक छोटे-छोटे भाव संचरण करते रहते हैं। इनकी स्थिति उसी प्रकार है जैसे समुद्र में तरङ्गों का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। वस्तुतः रति रूप स्थायीभाव ही समुद्र है जिसमें संचारीभाव तरङ्गें हैं। यतः ये भाव क्षणिक और अस्थिर हैं, अतः इन्हें 'संचारी भाव' अथवा 'व्यभिचारी भाव' कहते हैं। एक स्थायीभाव (=रति आदि) को ये क्षणिक-भाव व्यभिचरित कर देते हैं अतः इन्हें व्यभिचारी कहते हैं। ये संख्या में तैंतिस हैं।[१]

रस के विषय में पूर्वाचार्यों के मत—

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई थीं। सम्प्रति केवल 'अभिनवभारती' ही उपलब्ध है जो अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गई है। इसी से नाट्यशास्त्र पर लिखे गए व्याख्यानों, वार्तिकों और स्वतन्त्र नाट्य-रचनाओं के विषय में हमें ज्ञान प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने उद्भट और कीर्तिधर को नाट्यशास्त्र का एक व्याख्याकार माना है। जिसका समर्थन शार्ङ्गदेव ने संगीत-रत्नाकर में किया है। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों के रूप में भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त को प्रमुख रूप से लेते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश में इनके मत उद्धृत किए हैं। ये दशरूपक के पूर्ववर्ती आचार्य हैं; जिन्होंने भरत मुनि के प्रसिद्ध रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या की है। इनमें भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक तथा भट्टनायक तीनों ध्वनि-विरोधी आचार्य हैं। इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोक लोचन' में और मम्मट ने काव्यप्रकाश में जो इनके मतों का उपस्थापन किया है उसी परिप्रेक्ष्य में इनके मतों का एक विहंगावलोक इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. **भट्टलोल्लट**—ये पूर्वमीमांसा शास्त्र के अनुगामी थे। अतः इन्होंने मीमांसा दर्शन के सिद्धान्तानुरूप व्याख्या प्रस्तुत की। ये रस को विभावादि के द्वारा उत्पन्न मानते हैं। इस प्रकार विभावादि उत्पादक हैं और रस उत्पाद्य है, जैसे 'घट' रूप कार्य के लिए मिट्टी, दण्ड और चक्र कारण हैं। इसीलिए भरत रस-सूत्र के व्याख्यानक्रम में इन्हें 'उत्पत्तिवादी' आचार्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। **(क) रस किसमें रहता है**—लोल्लट के मत में रस अर्थात् रति आदि स्थायीभाव अनुकार्य राम आदि में होता है। **(ख) रस का स्वरूप क्या है**—सीता और उद्यान आदि आलम्बन एवं उद्दीपक विभाव हैं। 'रति भाव' 'आलम्बन विभाव' के द्वारा उत्पादित होता है। उद्यान आदि उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त होकर आलिंगन कटाक्ष आदि अनुभावों के द्वारा अनुभूत होता है। चिन्ता, ग्लानि, एवं औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर पूर्वोक्त 'रति-भाव' ही रस रूप में उत्पन्न होता है। **(ग) रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया—**

१. दश० ४.८-३३।

यह रस नट या सामाजिकों के हृदय में पैदा नहीं होता है। दुष्यन्त आदि ही इस रस का अनुभव करते हैं। वह तो मात्र उनकी नकल करता है। अतः सामाजिक उन्हें दुष्यन्त समझ बैठते हैं। यह उनका समझना मात्र 'भ्रम' ही है, जिससे सामाजिक को क्षणिक आनन्द मिल जाता है।

समालोचन—इस प्रकार भट्टलोल्लट रस सूत्र के 'संयोगात्' पद से कार्य-करण-भाव रूप सम्बन्ध एवं 'निष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' का अर्थ लेते हैं। वस्तुतः मीमांसक होने के कारण ये व्यञ्जना-विरोधी थे। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने इस मत की आलोचना की। सामाजिक में रसानुभूति का न मानना इस मत की सबसे बड़ी कमी है; क्योंकि राम या दुष्यन्त आदि तो अतीत में थे। वर्तमान में नाटक का आस्वादन करने वाला तो सामाजिक ही है, यदि सामाजिक को रसानुभूति न हो तो वह इसकी ओर प्रवृत्त ही क्यों होगा? इसीलिए अभिनवगुप्त ने विभावादि रस में परस्पर कार्य-कारण की इनकी कल्पना का खण्डन करते हुए 'श्रीशङ्कुक' के मत का उपस्थापन किया है।

२. **श्रीशङ्कुक**—ये नैयायिक थे। अतः रस सूत्र के व्याख्यान क्रम में ये अनुमितिवादी आचार्य माने जाते हैं। भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का सर्वप्रथम इन्होंने खण्डन करते हुए न्यायशास्त्र का सहारा लिया। इनके मत से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव रस की अनुमिति कराते हैं; जैसे हम पर्वत में धूएँ को देखकर वह्नि की स्थिति की अनुमिति करते हैं उसी प्रकार नट में राम व दुष्यन्त आदि के से अनुभाव आदि को देखकर रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। अतः विभाव आदि रस के अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य है। इनमें उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध होता है। **(क) रस किसमें रहता है**—शङ्कुक के मत से रति आदि स्थायीभाव अनुकार्य राम आदि में ही होता है। उसका नट में हम अनुमान करते हैं। **(ख) रस का स्वरूप क्या है**—शङ्कुक के मत से चित्र का घोड़ा वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी उसे घोड़ा मानना ही होता है उसी प्रकार नट स्वयं राम या दुष्यन्त नहीं है किन्तु सामाजिक उसे चित्र-तुरग के ही समान राम या दुष्यन्त समझ बैठता है। **(ग) रस निष्पत्ति की प्रक्रिया**—जब नट को ही सामाजिक राम या दुष्यन्त समझने लग जाते हैं तब सामाजिक नट के द्वारा अभिनीत रति आदि भाव को देखकर अनुमान कर लेता है। इस अनुमिति का अनुभव रसपूर्ण होने के कारण सामाजिक जनों में स्वयं भी रसास्वाद होने लगता है। इस प्रकार 'चित्रतुरगन्याय' के सहारे वे लोल्लट के मत का खण्डन करते हुए सामाजिकों में रस का सर्वथा अभाव नहीं मानते। **समालोचन**—रस को अनुमितिगम्य मानना ठीक नहीं है क्योंकि अनुभव सिद्ध होने से यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानकर रसानुभूति में अनुमिति करना न्याय्य नहीं है।

३. **भट्टनायक—**रसशास्त्र के व्याख्यान क्रम में ये साधारणीकरण के उद्भावक एवं भुक्तिवाद के प्रवर्तक आचार्य के रूप में विख्यात हैं। इनका मत सांख्य-सिद्धान्त पर आधारित है। **(क) रस किसमें रहता है—**भट्ट नायक ने रसिक-जनों में ही रस की स्थिति का स्वीकार किया है। (ख) **रस का स्वरूप क्या है—**भट्टनायक के मत से विभाव आदि के द्वारा रसिक जन रस का भोग करते हैं। इनमें भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध है। इसीलिए इनका मत 'भुक्तिवाद' के नाम से अभिहित किया जाता है। **(ग) रस निष्पत्ति को प्रक्रिया—**उनके मत से काव्य-नाट्य में, शब्द के अभिधा व्यापार के समान ही, भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापार होते हैं। काव्य के अर्थ का बोध हो जाने पर भावकत्व व्यापार से राम-सीता आदि का सामान्य नायक-नायिका के रूप में साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् सामाजिक राम आदि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य करता है। यह साधारणीकरण काव्य-नाट्यगत नायक-नायिका विभाव का और आलिङ्गनादि अनुभाव का एवं निर्वेद, ग्लानि आदि व्यभिचारीभाव का होता है। साधारणीकृत विभाव आदि से भावित हुए रति आदि स्थायीभाव का भोजक-व्यापार के द्वारा रसिकजनों को आस्वाद होता है। इस अवस्था में सामाजिक जनों में रजस् व तमस् गुणों का प्रभाव न होकर मात्र सत्त्वोद्रेक ही होता है। यही रस निष्पत्ति की प्रक्रिया है जिसमें भावकत्व व्यापार से रस भावित होता है और भोजकत्व व्यापार से रस का भोग होता है अर्थात् रसानुभूति होती है। **समालोचन—**अभिनवगुप्त के मत से भट्टनायक के इस भावकत्व-व्यापार और भोजकत्व व्यापार की कल्पना का कोई शास्त्रीय-प्रमाण नहीं है। फिर भुक्ति या भोग तो अनुभूति मात्र है जिसका अन्तर्भाव अभिव्यक्ति में ही हो जाता है।

४. **अभिनवगुप्त—**ये व्यञ्जनावादी आचार्य थे। रस सूत्र के व्याख्यान क्रम में इन्होंने अलंकारशास्त्र के ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन किया। इसे 'अभिव्यक्तिवाद' कहते हैं। उनके सारे विवेचन का केन्द्रबिन्दु सामाजिक की रसानुभूति ही रही है। उनके अनुसार स्थायीभाव का विभाव आदि के साथ व्यंङ्ग्यव्यञ्जकभाव होने के कारण रस की अभिव्यक्ति होती है। सहृदयों के चित्त में रस की अभिव्यक्ति होने के कारण ही इनके मत का नाम 'अभिव्यक्तिवाद' है। वे रस को व्यङ्ग्य मानते हैं और उसे अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा अभिव्यक्त न मान कर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव काव्य या नाटक में रस के अभिव्यञ्जक होते हैं और रस अभिव्यङ्ग्य होता है। **(क) रस किसमें रहता है—**उनके अनुसार रस की स्थिति सहृदय के चित्त में होती है। साधारणीकृत-विभाव अनुभाव आदि के द्वारा सहृदयों के चित्त में स्थित रति आदि स्थायीभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। वे रामादि पात्र में रसानुभूति का निषेध यह कहते हुए करते हैं कि जैसे मद्य का आस्वादन मद्य का पात्र नहीं करता, किन्तु वह

दूसरों को मद्यपान करवाने में हेतु बनता है, इसी प्रकार अभिनेता भी स्वयं रसानुभूति प्राप्त न करके सामाजिक या प्रेक्षक को ही रसास्वाद करवाने में हेतु हो जाता है। कारण यह है कि अभिनय प्रस्तुत करने में अभिनेता को तो श्रम होता है अतः उसे रसास्वाद कैसे होगा? (ख) **रस का स्वरूप क्या है—**संस्कार रूप में रति आदि स्थायीभाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है। वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभाव आदि सामग्री से अभिव्यक्त अथवा उद्बुद्ध हो जाता है और तन्मयता के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्द रूप में अनुभूत होता है। यही रस का स्वरूप है। **(ग) रस निष्पत्ति की प्रक्रिया—**साधारणीकरण के कारण ही रसाभिव्यक्ति होती है; क्योंकि इस अवस्था में व्यक्तिगत राग द्वेष आदि का लोप हो जाता है। साधारणीकरण मात्र आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नहीं अपितु अनुभाव आदि सभी तत्त्वों का होता है। काव्य या नाट्य आदि में विभाव अनुभाव आदि साधारणीकृत रूप में भासित होते हैं अर्थात् 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं, न शत्रु के ही हैं और न तटस्थ के ही हैं' —इन प्रतीतियों से भिन्न प्रतीति सामाजिक की उन विभाव अनुभाव आदि के विषय में होती है—यही साधारणीकरण है। सहृदय लोक में प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि विभाव अनुभाव आदि के देखने से उन प्रमदादि में रहने वाले रति आदि रूप स्थायीभावों के अनुमान करने में निपुण होता है। काव्य तथा नाटक में विभावन व्यापार के द्वारा अर्थात् रत्यादि को आस्वादन योग्य रूप प्रदान करके सामाजिक वासना रूप से विद्यमान रति आदि स्थायीभाव को साधारणोपाय के बल से 'मैं ही इसका आस्वाद करता हूँ' अथवा 'ये विभाव आदि मेरे ही हैं' इस प्रकार की अनुभूति करता है। यह आस्वाद पने के रस के समान होता है। यह साक्षात् प्रतीत होता हुआ सा अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ सा अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला शृङ्गार आदि रस होता है। जैसे पने में इलायची काली-मिर्च शक्कर आदि का अलग से कोई स्वाद न होकर एक विशेष प्रकार का स्वाद होता है उसी प्रकार विभाव आदि सभी का आस्वाद मिलकर एक विलक्षण चमत्कारकारी रस को सामाजिक में अभिव्यक्त कर देता है। यह विलक्षण स्वाद ब्रह्मानन्द के समान होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने स्थायीभाव का विभाव आदि के साथ जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध माना है उसी का धनञ्जय एवं धनिक ने विरोध किया है।

धनञ्जय एवं धनिक का रस सम्बन्धी मत—इनके अनुसार विभाव आदि एवं रस में भाव्य-भावक सम्बन्ध है। विभाव आदि भावक हैं और शृङ्गार आदि रस भाव्य हैं। (क) **रस किसमें रहता है—**स्थायीभाव स्वाद्यत्व के कारण रस बनता है, और वह रसिक में ही विद्यमान रहता है, अनुकार्य में नहीं, क्योंकि रसिक ही विद्यमान है।

अनुकार्य तो केवल वृत्त है, अर्थात् पहले वर्तमान था, अब नहीं है।[1] काव्यार्थोपप्लावित रति आदि स्थायीभाव रसिकवर्ती हैं, अनुकार्यवर्ती नहीं, क्योंकि रसिक ही वर्तमान रहता है। रामादि अनुकार्य तो भूतकाल में वर्तमान थे। अब नहीं हैं। अतः उनमें कैसे हो सकता है। शब्दोपहित रूप से अवर्तमान का भी वर्तमान के समान अवभास होता है। अर्थात् शब्दों द्वारा उपस्थित किया गया रामादि का रूप साक्षात् सा भासित होने लगता है (ख) रस का स्वरूप क्या है—आस्वाद्यमान रत्यादि भाव रस हैं। यह विशेष प्रकार की आत्मानन्द की अनुभूति ही है। विभाव आदि के द्वारा प्रेक्षक में रसादि भावित होते हैं अर्थात् सहृदय के चित्त में स्थित रत्यादि भाव आस्वादन के योग्य हो जाते हैं। धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के प्रतिपादक राम आदि रत्यादि भावों को विभावित [विज्ञानार्थ] करते हैं और तब रसिक उनका आस्वादन करते हैं।[2] (ग) रस निष्पत्ति की प्रक्रिया—धनञ्जय एवं धनिक रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में भाव्य-भावक सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। रस की भावना होती है। विभाव आदि एवं रस में परस्पर भाव्य-भावक भाव सम्बन्ध है। काव्य के अर्थ से भावित होकर सहृदय रसास्वाद करता है। स्वादोद्भूति काव्यार्थ के सम्भेद से आत्मानन्द रूप में होती है। जिस प्रकार मिट्टी के बने हाथी आदि खिलौनों से खेलने वाले बालकों का उत्साह बढ़ता है वैसे ही अर्जुन आदि (के अभिनेता नटों) से उत्साह का प्रेक्षक आस्वादन करते हैं। आनन्दोद्भूति का कारण विभाव आदि से युक्त स्थायीभाव ही है। स्थायीभाव एवं रस काव्य के वाक्यार्थ अर्थात् तात्पर्यार्थ हैं। विभावादिक पदों के अर्थ में विद्यमान रहते हैं और उनसे संसृष्ट रति आदि [स्थायी भाव] वाक्यार्थ होते हैं। इस प्रकार काव्य भावक हैं और रसादि भाव्य। रसादि विशिष्ट विभाव आदि वाले काव्य द्वारा भावक शब्दों में स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए भरत ने कहा भी है "क्योंकि ये [भाव] भावों के अभिनय से सम्बद्ध रसों को भावित करते हैं अतः इन्हें 'भाव' इस नाम से नाट्ययोजक जानते हैं।[3]" समालोचन—इस प्रकार भरत के रस सूत्र में निष्पत्ति का अर्थ जहाँ लोल्लट उत्पत्ति, शंकुक अनुमिति, भट्टनायक भुक्ति एवं अभिनवगुप्त अभिव्यक्ति मानते हैं वहाँ धनञ्जय एवं धनिक भावना मानते हैं। उनके रस सम्बन्धी मत में सभी पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का समन्वय है। वे रस को व्यङ्ग्य न मानकर काव्य का तात्पर्यार्थ मानते हैं—यह लोल्लट का प्रभाव है। रस की भावना की जाती है—यह भट्टनायक का प्रभाव है। मिट्टी के हाथी आदि के समान अर्जुन आदि से उत्साह का आस्वादन होना शंकुक का प्रभाव है। इस प्रकार धनञ्जय एवं धनिक के

---

१. दशरूपक ४.३८। २. दशरूपक ४:४१।

३. भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥ ना० शा० ६.३५।

रस सिद्धान्त में तीनों आचार्यों के मत का सम्मिश्रण करके नवीनीकरण किया गया है।

धनञ्जय एवं धनिक के अनुसार रस और शब्दशक्ति का सम्बन्ध—

धनञ्जय एवं धनिक प्रतीयमान अर्थ को व्यञ्जनावृत्ति-गम्य न मानकर तात्पर्यार्थ मानते हैं। ये दोनों आचार्य मीमांसकों से अत्यधिक प्रभावित हैं। आचार्यों द्वारा शब्द में शक्तियाँ मानी गयी हैं। ये शक्तियाँ अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्य नाम से अभिहित हैं। इन्हीं शक्तियों को वृत्ति नाम से जाना जाता है। अभिधावृत्ति में काव्यार्थ के बीच वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध होता है। लक्षणा में लक्ष्यलक्षक-भाव सम्बन्ध होता है। व्यञ्जना में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध होता है। रस के सम्बन्ध में इन तीनों सम्बन्धों का खण्डन धनञ्जय एवं धनिक ने इस प्रकार किया है—१. रसों का वाच्य-वाचक भाव मानना ठीक नहीं, क्योंकि इनका आवेदन इनके वाचक, शब्दों से नहीं होता। काव्य में शृङ्गार आदि रसों के प्रकरण में न तो शृङ्गारादि शब्द होते हैं और न रत्यादि, जिससे अभिधा-शक्ति को उनके परितोष का कारण माना जा सके। यदि कहीं शृङ्गार, रति आदि शब्दों का प्रयोग होता है तो भी रस के निष्पादक उनके अभिधान मात्र नहीं होते, किन्तु विभावादि ही होते हैं। २. इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षक भाव भी रस का मूल नहीं है क्योंकि उसके सामान्य अभिधायक लक्षक पद का भी काव्यादि में प्रयोग नहीं होता और लक्षित लक्षणा से रस की प्रतिपत्ति भी नहीं होती। जैसी कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में (प्रतिपत्ति) होती है। इस उदाहरण में 'गङ्गा' शब्द अपने निजी अर्थ से स्खलित हो गया है, क्योंकि उसका निजी अर्थ वहनशीलता का द्योतक है और उस स्थिति में उस पर 'घोष' की अवस्थिति सम्भव नहीं है। अतः गङ्गा शब्द अपना अर्थ छोड़कर उससे भिन्न 'तट' शब्द का उपलक्षक बन गया है। किन्तु नाटकादि में यह सम्भव नहीं है; क्योंकि नायकादि अपने अर्थ से स्खलित होकर किसी अर्थान्तर के उपलक्षक नहीं बन सकते; और कोई व्यक्ति मुख्य के होते हुए बिना किसी निमित्त और प्रयोजन के उपलक्षक का प्रयोग भी क्यों करेगा जैसा कि वह 'सिंहो माणवकः' आदि में करता है; क्योंकि इस वाक्य में तो 'सिंह' शब्द वीरता का सूचक है, अतः सप्रयोजन है। अतः गौणी लक्षणा से भी प्रतीति नहीं होती। यदि वाच्यत्वमात्र से रस-निष्पत्ति सम्भव हो तो अव्युत्पन्न-चित्त वाले अरसिकों को भी रसास्वाद प्राप्त हो जाएगा। परन्तु वस्तुतः केवल सहृदयों को ही रसानुभूति होती है। ३. रस की प्रतीति के लिए व्यञ्जना नामक शक्त्यन्तर की पृथक से कल्पना करना भी एक व्यर्थ का प्रयास है क्योंकि काव्य में प्रतीयमान व्यञ्जनीय अर्थ तात्पर्य रूप अर्थ से अलग नहीं होता, और वाक्य के अर्थ की विश्रान्ति का अभाव वहाँ होता है। 'काव्य अपने व्यङ्ग्यार्थ को व्यञ्जित करके पर्यवसित हो जाता है'—यह ठीक नहीं है। जब तक वाक्य अपने अर्थ पर परिसमाप्त न हो जाय तथा पूरी तरह ठीक न बैठ जाय, उस वाक्य का उसी परिसमाप्त होने वाले अर्थ में तात्पर्य मानना न्याय संगत है। धनिक ने

'विषं भुङ्क्ष्व' आदि उदाहरण के द्वारा यह दिखलाया है कि व्यङ्ग्यार्थ के आगे भी उसमें कुछ अर्थ रह जाता है जो निषेधार्थरूप तात्पर्य है।[1]

धनञ्जय एवं धनिक का सिद्धान्त—

ध्वनिवादी रस को व्यंग्य मानते हैं तथा उसकी प्रतीति के लिए जिस व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं धनिक ने उसी का खण्डन करते हुए अपने सिद्धान्त की स्थापना इस प्रकार की है—जिस प्रकार वाच्य अथवा (शब्दों में व्यक्त) प्रकरणादि से बुद्धिस्थ क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाती है, वैसे ही स्थायीभाव अन्य विभाव, अनुभाव, संचारीभावों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाता है।[2]

अर्थात् जिस प्रकार 'गामभ्याज्' आदि श्रूयमाण क्रिया वाले लौकिक वाक्यों की क्रिया अथवा 'द्वारम् द्वारम्' आदि वाक्यों में अपने शब्दों के उपादान से प्रकरणानुसार बुद्धिस्थ क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनती है उसी प्रकार 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' आदि काव्यों में अपने शब्दों के उपादान से अथवा कहीं-कहीं प्रकरणानुसार नियत, किन्तु शब्दों द्वारा अव्यक्त, विभाव अनुभाव, व्यभिचारीभावों से भी रति आदि स्थायीभाव भावक के चित्त में उत्पन्न होकर संस्कार परम्परा से प्रौढ़ि को प्राप्त होता है और रत्यादि वाक्यार्थ व्यक्त करता है।

दशरूपक की मौलिकता और उसका योगदान

१. नाट्यशास्त्र में यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को संक्षिप्त रूप से सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

२. परवर्ती नाट्य सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ का समायोजन अधिक समीचीन है।

३. आकर-ग्रन्थों का नाम देते हुए उद्धरण प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ की विशेषता है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में ऐसा बहुत कम आचार्यों ने किया है।

४. विषयगत देन इस प्रकार है—**प्रथम प्रकाश** में (क) रूप, रूपक और नाट्य सम्बन्धी विचार (ख) नृत्य और नृत्त में भेद, (ग) रूपक के भेदक तत्त्वों का निर्देश (घ) कथावस्तु का विविध ढंग से विभाजन। **द्वितीय प्रकाश** में (क) नायक-नायिका का भेदों के साथ अत्यन्त सुगम वर्णन, (ख) उनके सहायक व सहायिकाओं का वर्णन, (ग) कैशिकी आदि विभिन्न वृत्तियों का निरूपण और उद्भट्टानुयायियों का खण्डन (घ) सम्बोधन के विभिन्न प्रकार। **तृतीय प्रकाश** में रूपक के दश भेदों का संक्षिप्त किन्तु सर्वाङ्गीण विचार। **चतुर्थ प्रकाश** में (क) रस सम्बन्धी विचार (ख) ध्वनिवादियों का खण्डन करके रस आदि एवं काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध मानना। (ग) शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र—इन्हीं

१. द्र० दश० पृ० २८७-२८९। २. द्र० दश० ४.३७।

को मुख्य रस मानकर चित्त की चार अवस्थाओं—विकास, विस्तर क्षोभ और विक्षेप से इनका सम्बन्ध बताना (घ) शान्तरस और उसका नाट्य में सर्वथा निषेध करना (ङ) रस की संख्या के विषय में विचार और रुद्रट के मत का निराकरण (च) अन्य आचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रीति, भक्ति आदि भावों का एवं रसों का उन्हीं हर्ष, उत्साह आदि में अन्तर्भाव करना। (छ) इसी प्रकार नाट्यशास्त्रोक्त नाट्य-लक्षणों का और सन्ध्यन्तर भी उन्हीं हर्ष उत्साह आदि भावों में अन्तर्भावित करना आदि मुख्य विशेषतायें है।

—सुधाकर मालवीय

मकरसंक्रान्ति
संस्कृत-पालि विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७८

ग्रन्थ-संकेत

अमरु० = अमरुशतकम्
उत्तर० = उत्तररामचरितन्
उदात्त० = उदात्तराघवम्
काम० = कामसूत्रम्
किरात० = किरातार्जुनीयम्
कुमार० = कुमारसम्भवम्
गाथा० = गाथासप्तशती
दश० = दशरूपकम्
ध्वन्या० = ध्वन्यालोक
नागा० = नागानन्द
ना० द० = नाट्यदर्पण
ना० शा० = नाट्यशास्त्र
नीति० = नीतिशतकम्
बृ० क० = बृहत्कथामञ्जरी
बृह० उ० = बृहदारण्यकोपनिषत्
भोज० = भोजप्रबन्धः
महाना० = महानाटक
महावीर० = महावीरचरितम्
मालती० = मालतीमाधवम्
मालवि० = मालविकाग्निमित्रम्
मृच्छ० – मृच्छकटिकम्
मेघ० = मेघदूतम्
रघु० = रघुवंशम्
रत्ना० = रत्नावली
वाक्० = वाक्यपदीयम्
विक्रमो० = विक्रमोर्वशीय
वेणी० = वेणीसंहार
वैराग्य० = वैराग्यशतकम्
शाकु० = अभिज्ञानशाकुन्तलम्
शिशु० = शिशुपालवध
श्रृङ्गार० = श्रृङ्गारशतकम्
सा० द० = साहित्यदर्पणम्
हनु० = हनुमन्नाटकम्

सावलोक

दशरूपकम्

श्रीधनिककृतावलोकसहितं

दशरूपकम्

'विद्वद्विनोदिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः प्रकाशः

प्रणिपत्य शिवं साम्बमाचार्यं भरतं तथा ।
क्रियते दशरूपस्य व्याख्यानं धनिकेन वै[1] ॥

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥ १ ॥

यस्य कण्ठः पुष्करायते = मृदङ्गवदाचरति; मदाभोगेन घनध्वानः = निबिडध्वनिः, नीलकण्ठस्य = शिवस्य, ताण्डवे = उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेशाय नमः । अत्र खण्डश्लेषा-

---

वाचकः प्रणवो यस्य क्रीडावस्त्वखिलं जगत् ।
श्रुतिराज्ञा वपुर्ज्ञानं तं वन्दे देवकीसुतम् ॥

यहाँ [इस नाट्य ग्रन्थ में] शिष्टों के सत् आचार को प्रामाणिक मानते हुए इस प्रकरण ग्रन्थ [संग्रहात्मक ग्रन्थ—जहाँ एक शास्त्र के सभी सिद्धान्तों का संकलन हो] की निर्विघ्न रूप से समाप्ति के लिए [आचार्य द्वारा] दो श्लोकों से प्रकृत और अभिमत दो इष्ट देवता को नमस्कार किया गया है—

भगवान् नीलकण्ठ [=शङ्कर] के ताण्डव नृत्य में जिन गणेशजी का कण्ठ मद की परिपूर्णता से गम्भीर ध्वनिवाला होने के कारण मृदङ्ग का काम देता है उन गणेशजी को मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥

जिन [विघ्नेश्वर] का कण्ठ मृदङ्ग के समान आचरण कर रहा है [क्योंकि] जो मद की वृद्धि से गम्भीर ध्वनि वाले भगवान शङ्कर के उद्धत ताण्डव नृत्य में पुष्कर के समान प्रतीत हो रहा है उन गणेश जी के लिए मेरा नमस्कार है । यहाँ इस मंगल श्लोक में खण्डश्लेष से आक्षिप्त उपमा अलङ्कार की झलक सी जान पड़ती है । इस प्रकार तृतीय

१. धनिककृतं मंगलाचरणमिदं क्वचिन्नोपलभ्यते ।

क्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः—नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनिः पुष्करायत इति प्रतीतेः ॥

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥ २ ॥

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावकाः = ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति = हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः ॥

चरण में 'घन' शब्द का दो अर्थ करने से प्रतीति इस प्रकार होती है—नीलकण्ठ अर्थात् मयूर के ताण्डव नृत्त में जिस प्रकार मेघ की ध्वनि मृदंग का काम करती है [उसी प्रकार भगवान् शंकर के उद्धत नृत्त में गणेश जी की गम्भीर ध्वनि मृदंग का काम कर रही है]।

परिष्कार—प्रस्तुत श्लोक में 'मदाभोगघनध्वानः' पद के 'घनध्वानः' इस खण्ड में ही श्लेष है अर्थात् यहाँ एक पद के एक अंश [=खण्ड] का दो अर्थ होने के कारण खण्डश्लेष है; और इस खण्डश्लेष के द्वारा भगवान् शंकर एवं गणेश जी पर मयूर तथा मेघ का उपमानोपमेयभाव आक्षिप्त होने से उपमा की झलक है। यहाँ उपमा ही इसलिए नहीं है क्योंकि मेघध्वनि रूप गुण पदार्थ का मृदंग एवं मुख रूप द्रव्य पदार्थ का सादृश्य नहीं बनता है। अतः उपमा की छाया है, अर्थात् उपमा अस्पष्ट है। इस प्रकार कण्ठ और पुष्कर [=मृदंग] उपमानोपमेय है, और ध्वानवत्ता तुल्य धर्म है। सम्पूर्ण श्लोक के श्लेष का खण्डत्व 'घन' एवं 'नीलकण्ठ' शब्दमात्रगामी है। प्रकृत स्थल में जिस प्रकार मनुष्य की छाया भी मनुष्य के ही समान दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार उपमा की छाया उपमान्तर ही हैं। इसीलिए 'गम्भीरध्वनि वाला जो कण्ठ भगवान् नीलकण्ठ के ताण्डव नृत्य में पुष्कर [=मृदंग] के समान आचरण करता है—इस प्रकार की उपमा की छाया भी—मेघध्वनि नीलकण्ठ [=मयूर] के ताण्डव [नृत्य] में मृदंग के समान होती है—इस रूप में समझनी चाहिए। इस तरह अर्थान्तर की प्रतीति में निश्चय ही यह उपमान्तर है। सम्पूर्ण श्लोक का भावार्थ है—मयूर के नृत्य के समय मेघों की गड़गड़ाहट जैसे मृदग का काम देती है वैसे ही गणेश जी का मुख भगवान् शंकर के नृत्य काल में मद की वृद्धि से निबिड़ध्वनि करने वाले मृदंग का आचरण करता है अर्थात् मृदंग की कमी को पूरा करता है, उन गणेश जी को नमस्कार है।

सर्वविद् भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार है; जिनके भक्त-जन दशावतारों के ध्यान के द्वारा तथा रसिक जन दशरूपों के अनुकरण के द्वारा प्रसन्न हुआ करते हैं ॥ २ ॥

'दशरूपानुकारेण' का अर्थ—एक [भगवान् विष्णु के] पक्ष में—मत्स्य, कूर्म, [वाराह] आदि दस अवतारों की प्रतिमा को लक्ष्य करके, और दूसरे [भरत

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते—

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः ।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥ ३ ॥

तं कञ्चिद्विषयं प्रकरणादिरूपं कदाचिदेव कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति । येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति ॥

के] पक्ष में अनुकरण रूप नाटक आदि [दस रूपों] के द्वारा, जिसके भावक अर्थात् ध्यान करने वाले और रसिक जन, 'माद्यन्ति' अर्थात् हर्षित हुआ करते हैं, उन इष्टदेव भगवान् विष्णु को तथा प्रकरण-प्राप्त आचार्य भरत को नमस्कार है।

परिष्कार—(क) निर्विघ्नपरिसमाप्ति और नमस्कार के बीच फल-फलिभाव सम्बन्ध है। इसमें 'सदाचार ही प्रमाण है'—ऐसा कहते हुए नमस्कार के प्रतिपादक रूप एक प्रयोजन वाले दो श्लोकों के द्वारा एक साथ ही गणेश, विष्णु और भरत तीनों का उपपादन है। दम्भ आदि से रहित सज्जनों का आचरण सदाचार है। वही यहाँ प्रमाण है; क्योंकि मीमांसा के सदाचाराधिकरण में 'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्'—इस सूत्र द्वारा प्रमाण रूप में इसकी स्थापना की गई है। (ख) ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए इष्टदेवता गणेश हैं। स्वतः ही अभिमत-देवता विष्णु हैं, और प्रकृत-देवता शास्त्र-प्रवर्तक भरत हैं। (ग) द्वितीय श्लोक में पूर्णतया श्लेषालंकार है। भावार्थ है १. जिस विष्णु के दशावतार के प्रतिमा रूप में अनुकरण के द्वारा ध्याता लोग प्रसन्न होते हैं और २. जिस मुनि के द्वारा प्रणीत नाटक आदि दशरूप के अनुकरण द्वारा सामाजिक जन प्रसन्न होते हैं—ऐसे सर्ववेत्ता विष्णु और भरत को नमस्कार है।

श्रोता की प्रवृत्ति का प्रयोजन [ग्रन्थकार] दिखलाते हैं—

[प्रकरणादि-ग्रन्थ का निर्माण सभी कवि नहीं कर सकते यह तो] भगवती सरस्वती किसी ही विद्वान के लिए कभी-कभी कृपा करके किसी ऐसे विषय को सङ्घटित कर दिया करती हैं जिससे अन्य [पाठक-गण] वैदग्ध्य [=निपुणता] को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३ ॥

उस प्रकरणादि रूप किसी विषय को कभी-कभी किसी-किसी ही कवि को सरस्वती संयुक्त कर दिया करती है; जिस प्रकरण आदि विषय से अन्य [पाठक-गण ज्ञानी होकर] विदग्धता को प्राप्त कर लेते हैं।

परिष्कार—सभी व्यक्तियों को सर्वदा विषयों का स्फुरण नहीं हुआ करता है। यह तो भगवती सरस्वती की अनुकम्पा ही है जो कभी कभी किसी किसी को ही हो पाता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में जो कुछ भी हो पाया है वह मात्र भगवती सरस्वती का कृपा-प्रसाद ही है। इस उक्ति से ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी को स्मरण करते हुए ग्रन्थकार अपने निरभिमान का द्योतन कर रहे से दिखाई पड़ रहे हैं।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति—

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥ ४ ॥

यं नाट्यवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्संबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं नृत्तं कृतवान्, लास्यं=सुकुमारं नृत्तं पार्वती कृतवती, तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः? तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियत इत्यर्थः ॥

प्रकरणनिर्माण में प्रवृत्त ग्रन्थकार उसका विषय दिखलाते हैं—

ब्रह्मा ने सभी वेदों के सारभाग को ले-लेकर जिस नाट्यवेद की रचना की; और आचार्य भरत ने [सांसारिकता से मुक्त] मुनि होते हुए भी जिस [नाट्यवेद] को प्रयोगरूप में प्रस्तुत किया, नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर ने जिस [नाट्यवेद] में ताण्डव [उद्धत] नृत्य का एवं जगदम्बा पार्वती ने जिसमें लास्य [सुकुमार] नृत्य का समावेश किया, उस लोकोत्तर नाट्यवेद के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के निरूपण में भला कौन समर्थ हो सकता है ? फिर भी प्रकृष्ट गुणों वाली रचना [प्रतिपादन-शैली] के द्वारा उसके लक्षणों को मैं संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

जिस नाट्यवेद को वेदों से सार लेकर [स्वयं] ब्रह्मा ने रचा; जिससे सम्बद्ध अभिनय को भरत [मुनि] ने किया। [उन्हीं मुनि ने] करणों [=हाथ पैर इत्यादि को व्यवस्थित करने का क्रम] और अंगहारों [=कलात्मकता के साथ अंगों के विक्षेप] को [संयोजित] किया, भगवान् शंकर ने ताण्डव अर्थात् उद्धत नृत्त का संयोजन किया; [स्वयं] देवी पार्वती ने लास्य अर्थात् सुकुमार नृत्त को जिसमें संयोजित किया; उस नाट्यवेद का सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण करने में भला कौन समर्थ है ? किन्तु यहाँ उस [नाट्यवेद] के एक भाग दशरूपक का संक्षेपतः निरूपण किया जा रहा है।

परिष्कार—(क) 'स्व' शब्द के द्वारा श्रोता की प्रवृत्ति का व्यावर्तन किया गया है। अपनी प्रवृत्ति अर्थात् प्रकरणनिर्माण में अपनी प्रवृत्ति को श्रोता की प्रवृत्ति के साथ उसके प्रयोजन को दिखला देने के कारण संप्रति उसके विषय को दिखलाया जा रहा है। (ख) नाट्यवेद के प्रणेताओं के समस्त लक्षणों को क्यों न किया जाय ? इसमें अपना तर्क दे रहे हैं। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता भी कभी ही और कहीं कहीं ही समर्थ हो सके अर्थात् सभी अंग-प्रत्यंग का निरूपण जब किसी एक के द्वारा अकेले न हो सका तो, उसका प्रतिपद-लक्षण करने में दूसरा कौन है जो समर्थ हो सकता है ? किन्तु उन्हीं के द्वारा कहे गए नाट्य आदि का ही लक्षण कुछ नवीनता के साथ संक्षेप से मैं कहता हूँ। (ग) आसनस्थानादि के जनक को करण कहते हैं और अंगहार तो अंगविक्षेप ही है।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥ ५ ॥

व्याकीर्णे = विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ॥

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपं किं फलमित्याह—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपातिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ ६ ॥

तत्र केचित्—

'धमार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' [भामहः]

(घ) सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आचार्य भरत, भगवान् शंकर और माँ जगदम्बा पार्वती का प्रस्तुत श्लोक में एक साथ स्मरण होने से यहाँ भी स्मरणात्मक-मंगल है।

[प्रश्न यह है कि जब भरत ने नाट्यशास्त्र में इनका प्रतिपादन कर दिया तो फिर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन की क्या आवश्यकता है ? अत एव प्रस्तुत ग्रन्थ और नाट्य शास्त्र के] विषय की एकता के कारण होने वाले पुनरुक्ति [दोष] का [ग्रन्थकार] परिहार करते हैं—

[भरतमुनि प्रणीत-नाट्यशास्त्र जैसे] विस्तृत ग्रन्थ में [जहाँ नाट्य रचना सम्बन्धी तत्त्व यत्र तत्र बिखरे हुए हैं] मन्द बुद्धि वाले लोगों को मति-भ्रम हो जाता है। इसलिए [साधारण बुद्धि वाले लोगों के लिए] उसी नाट्यवेद के विषय का [प्रतिपादन] संक्षेप से तथा उन्हीं के शब्दों के माध्यम से एवञ्च सरल रीति से किया जा रहा है ॥५॥

व्याकीर्ण अर्थात् बिखरे हुए एवंच विस्तीर्ण रस[=नाट्य] शास्त्र में मन्द बुद्धि वाले लोगों को बुद्धि विभ्रम हो जाता है, इसलिए उस नाट्यवेद के अर्थ [=विषय] को नाट्यवेद के शब्दों के ही द्वारा संक्षिप्त करके सरल ढंग से प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस प्रकरण ग्रन्थ का प्रयोजन है—'दशरूपकों का ज्ञान'। अब दशरूपकों का क्या फल है ? यह बतलाते हैं—

जो अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति इतिहास-पुराण के ही समान आनन्द को प्रवाहित करने वाले रूपकों का भी फल केवल व्युत्पत्ति अर्थात् त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ, काम को प्राप्ति को ही बतलाते हैं उन रसास्वादन से विमुख लोगों को भी नमस्कार है ॥ ६ ॥

इस विषय में कुछ आचार्यों का मत इस प्रकार है—

अच्छे काव्यों के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में प्रवीणता आती है एवञ्च कीर्ति तथा प्रीति भी प्राप्ति होती है।

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति । तन्निरासेन स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलम्, न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ॥

'नाट्यानां ··· लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम् [पृ० ४,] किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ॥

—रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते, नीलादिरूपवत् ॥

रूपकं तत्समारोपाद्—

इत्यादि कथन के द्वारा ये लोग त्रिवर्ग [धर्म, अर्थ, काम] आदि के ज्ञान को ही काव्य का फल मानते हैं [किन्तु ग्रन्थकार] उसका खण्डन करते हुए—स्व-संवेद्य परमानन्द रूप रस के आस्वाद की प्राप्ति ही दशरूपकों का फल है एवञ्च इतिहास आदि के समान त्रिवर्ग की प्राप्ति-मात्र ही नहीं है—यह दिखलाते हैं । [श्लोक में जो 'स्वाद से पराङ्मुख लोगों को] नमस्कार [किया गया है'—वह] उपहास के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

नाट्य की परिभाषा, पर्याय और भेद

'नाट्यों के लक्षणों को कुछ संक्षेप से प्रस्तुत करता हूँ' ऐसा [चतुर्थ कारिका में पहले] कहा गया है । अब वह 'नाट्य' [शब्द] क्या है ? यह बतलाते हैं—

[नायकों एवं अन्य पात्रों की विभिन्न] अवस्था [stages] का अनुकरण ही 'नाट्य' कहलाता है ।

काव्य अर्थात् नाटक में वर्णित जो धीरोदात्त आदि नायकों की विभिन्न अवस्थाओं का [वाचिक, आङ्गिक, आहार्य तथा सात्त्विक-इन] चार प्रकार के अभिनय द्वारा [उन राम, दुष्यन्त आदि की] तादात्म्य अर्थात् ऐकरूपता की प्रतीति को उत्पन्न करने वाला अनुकरण ही 'नाट्य' है ।

परिष्कार—वचन के द्वारा किया गया अभिनय 'वाचिक' [पाठ्य] है । शारीरिक अंगों का अभिनय 'आङ्गिक' है । नाट्य के योग्य वेशभूषा की रचना 'आहार्य' है । स्वेद आदि सात्त्विक भावों के द्वारा किया गया अभिनय 'सात्त्विक' है ।

दृश्य [अर्थात् चक्षुर्ग्राह्य] होने के कारण यही नाट्य 'रूप' [भी] कहलाता है ।

वह नाट्य ही [रंगमञ्च पर अभिनीत होकर] दिखाई पड़ने के कारण 'रूप' नाम से अभिहित होता है । जैसे आँख से नील-पीत आदि रूपवान् वस्तु दिखाई देने के कारण रूप शब्द से जानी जाती है ।

[राम आदि की अवस्था का नट में] आरोप होने के कारण वह 'नाट्य' 'रूपक' नाम से भी अभिहित होता है ।

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद् रूपकम् । मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत् प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ॥

—दशधैव रसाश्रयम् ॥ ७ ॥

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम् । एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण, नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ॥

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

ननु— 'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥'

जैसे मुख पर चन्द्रमा का आरोप होने से 'मुखचन्द्रः' अर्थात् मुखरूपी चन्द्र में रूपकालङ्कार है । उसी प्रकार नाट्य में नट पर राम आदि पात्रों की अवस्था का आरोप होने के कारण नाट्य ही 'रूपक' नाम से भी अभिहित होता है । जैसे इन्द्र, पुरन्दर और शक्र-तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं । फिर भी किसी एक खास प्रवृत्तिनिमित्त वाले हैं । उसी प्रकार नाट्य, रूप और रूपक इन नामों के निर्देश से प्रवृत्तिनिमित्त का भेद दिखलाया गया है ।

परिष्कार—'प्रवृत्तिनिमित्तभेद' का तात्पर्य है शब्द के उसी अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण का भेद, अर्थात् अवस्थाओं के अनुकरण होने के कारण दृश्य काव्य 'नाट्य' है और दृश्य होने के कारण 'रूप' है तथा नट में राम आदि का आरोप होने के कारण 'रूपक' है ।

नाट्य के भेद—रस का आश्रय लेकर रहने वाला नाट्य मात्र दस प्रकार का होता है ॥ ७ ॥

'दस ही प्रकार के' कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मिले जुले शुद्ध रूप में दस प्रकार का नाट्य होता है; जो रस को आश्रय करके रहते हैं [किन्तु अन्य रूपक रस को आश्रय करके नहीं रहते] कारिका में 'एव' का अवधारण अर्थात् मात्र ही के अर्थ में प्रयुक्त है । रूपक के शुद्ध भेदों में नाटिका का परिगणन नहीं किया गया है; क्योंकि नाटक और प्रकरण के साङ्कर्य से नाटिका की उत्पत्ति होती है । यतः वे शुद्ध रस के आश्रित नहीं होते, किन्तु इनमें रस साङ्कर्य होता है, अतः सकीर्ण रूपकों के सन्दर्भ में आगे [तृतीय प्रकाश में] उनका उल्लेख किया जायगा ।

उन्हीं रूपक के दस भेदों का उल्लेख करते हैं—

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अङ्क, १०. ईहामृग [ये रूपक के दस भेद हैं] ॥ ८ ॥

किन्तु—१. डोम्बी, २. श्रीगदित, ३. भाण, ४. भाणी, ५. प्रस्थान, ६. रासक और

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाटयाद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यम् । तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः ।

नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाटचमिति च 'नट अवस्पन्दने'

---

७. काव्य—नृत्य के इन सात भेदों में से भाण को जैसे [नाटच के दस भेदों में परिगणित किया गया है वैसे ही अवशिष्ट छः का परिगणन भी रूपक के भेदों में होना चाहिए था] ।

क्योंकि रूपक के अन्य भेदों की भी उपलब्धि होती है अतः 'रूपक के दस ही प्रकार हैं' यह निश्चित कथन ठीक नहीं है । इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—

भावों का आश्रयण करके रहने वाला नृत्य [नाटच से] भिन्न होता है [अतः नृत्य के भेदों को रूपक के अन्दर समाविष्ट नहीं किया जा सकता] ।

रस का आश्रयण करके रहने वाले नाट्य से भावों पर आश्रित रहने वाला नृत्य दूसरी ही वस्तु है । कारिका में 'भावाश्रयम्' इस पद के प्रयोग से विषयभेद दिखलाया गया है; और गात्र विक्षेपार्थक नृती धातु से निष्पन्न 'नृत्यम्' शब्द के प्रयोग से आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता दिखलाई गई है [यह स्वरूप भेद] है । नृत्य करने वाले के लिए 'नर्तक' शब्द का प्रयोग होता है [जब कि नाट्य करने वाले को 'नट' कहा जाता है]; इस प्रकार दोनों में कर्तृ [करने वाले] का भेद है; और फिर लोक में रङ्गमञ्च पर 'प्रेक्षणीयक'—इस नाम का व्यवहार नृत्य के लिए होता है । इस प्रकार नाटच से नृत्य सर्वथा भिन्न वस्तु है, क्योंकि श्रीगदित आदि नृत्य के प्रकार हैं [नाटच के नहीं] । अतः 'रूपक दस ही हैं' यह अवधारण युक्तिसंगत है ।

नाटक [प्रकरण] आदि [रूपक के जितने भी भेद हैं, मात्र भाव पर आश्रित न होकर] रसविषयक होते हैं । [सातवीं कारिका में] 'रसाश्रयम्' इस पद के प्रयोग से यह दिखलाया गया है कि रस की निष्पत्ति समस्त वाक्यार्थ रूप [वाचिक] अभिनय से होती है जो [नाटकादि] में प्रयुक्त पदों के अर्थ-रूप और [विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी] भावों के संसर्ग से युक्त होता है । [सातवीं कारिका में प्रयुक्त] 'नाटचम्' शब्द में सात्त्विक अभिनय का बाहुल्य है क्योंकि अवस्पन्दनार्थक [=चेष्टार्थक] 'नट' धातु से निष्पन्न नट शब्द से नट में कुछ चलना व्यक्त होता है । इसीलिए नाटच करने वाले के लिए नट शब्द का प्रयोग होता है

इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात् सात्त्विकबाहुल्यम् । अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्यादन्यन्नृत्तं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाटयात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ॥

[जबकि नृत्य करने वाले के लिए 'नर्तक' का] । और फिर लोक में यह रङ्गमञ्च पर 'नाटच' शब्द से प्रसिद्ध है । जैसे की गात्रविक्षेप के समान रूप से रहने पर भी नृत्त में अनुकरण होने के कारण वह नृत्त नृत्य से पृथक् गिना जाता है, उसी प्रकार वाक्यार्थ रूप अभिनय वाले नाटच से पदार्थ रूप अभिनय वाला 'नृत्य' भिन्न ही है ।

परिष्कार—किस प्रकार नाटच से नृत्य भिन्न है इसी का प्रतिपादन वृत्तिकार धनिक 'तत्र भावाश्रयम्.....' से कर रहे हैं । प्रस्तुत स्थल में दोनों के बीच चार प्रकार से भेद प्रदर्शित किया गया है—१. विषयभेद; २. स्वरूपभेद; ३. कर्तृभेद; और ४. संज्ञाभेद । 'भावाश्रयम्' इस पद से विषयभेद का प्रदर्शन है । 'आङ्गिकबाहुल्यात्' इस पद से स्वरूपभेद दिखलाया गया है । 'तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात्' इससे कर्तृभेद और 'प्रेक्षणीयकम्' इससे संज्ञाभेद [दोनों के नाम में अन्तर] दिखलाया गया है ।

अब नाटक आदि में किन पदों के द्वारा भेद का प्रदर्शन किया गया है इसका उत्तर है—यद्यपि उन अतिशयोक्तियों के द्वारा प्रतिपादित विभाव, अनुभाव आदि वाक्य के अर्थ हैं पद के अर्थ नहीं; तथापि उनके संयोग से रसोत्पत्ति होने पर वे उनके प्रति पदार्थ भाव को प्राप्त होते हैं, और उनसे उत्पन्न रस भी वाक्यार्थ को प्राप्त होता है [द्र. दश. ४.३७] । अतः 'रसाश्रयम्' इस पद से विषय भेद का प्रदर्शन किया गया है । इस प्रकार—१. नाटच, रसाश्रय और नृत्य भावाश्रय है । इस तरह दोनों में विषय भेद है । २. नाटच में सात्त्विक अभिनय का बाहुल्य और नृत्य में आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य होने से दोनों में स्वरूप भेद है । ३. नाटच कर्त्ता 'नट' नाम से तथा नृत्य कर्त्ता 'नर्तक' नाम से अभिहित होने के कारण कर्तृ भेद है । ४. पहला 'नाटच' कहलाता है और दूसरा 'प्रेक्षणीयक' अतः संज्ञाभेद भी है । 'नाटच' और नृत्य' में साम्य और असाम्य का दिग्दर्शन इस प्रकार किया जा सकता है—

भेदक तत्त्व	नाटच	नृत्य
विषयभेद	१. यह रसाश्रित होता है ।	१. यह भावाश्रित होता है ।
	२. इसमें अवस्था का अनुकरण होता है ।	२. इसमें भावों का अनुकरण होता है ।
स्वरूपभेद	३. इसमें सात्त्विक अभिनय का बाहुल्य होता है ।	३. इसमें आङ्गिक अभिनय का बाहुल्य होता है ।

प्रसत्रान्तृतं व्युत्पादयति—

— नृत्तंताललयाश्रयम् ।

तालः = चञ्चत्पुटादिः, लयः = द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति॥

कतृ भेद	४. अभिनेता को 'नट' कहते हैं	४. जबकि नृत्य के कर्ता को 'नर्तक' कहते हैं।
संज्ञाभेद	५. यह 'नाट्य' कहलाता है।	५. यह नृत्य [= प्रक्षणीयक] कहलाता है।

['रूपक दस ही हैं—इस अवधारणा के प्रसंग में नृत्य बतला दिया गया। अब नृत्य के] प्रसंग में आए हुए 'नृत्त' का प्रतिपादन कर रहे हैं—

'नृत्त' ताल एवं लय पर आश्रित होता है।

चञ्चत्पुट [चाचपुट] आदि [६० भेदों वाले काल एवं क्रिया के मापक शब्द] को 'ताल' कहते हैं। द्रुत आदि [अर्थात् द्रुत, मध्य एवं विलम्बित भेद से नृत्त की तीव्र, मन्द आदि गति के नियामक शब्द] को 'लय' कहते हैं। उन्हीं ताल एवं लय पर आश्रित अभिनय से शून्य अंग का विक्षेप अर्थात् हाथ पैर आदि अंगों का संचालन 'नृत्त' कहलाता है।

परिष्कार—'काल' स्वयं एक है, अतः प्रस्तुत स्थल में औपाधिक भेद किया गया है। इस प्रकार उस काल की उपाधि [ध्वनि भेदक] 'ताल' ही है। उस ताल के द्वारा नृत्त को मापा जाता है। जैसा कि मालविकाग्निमित्र में भी आया है—'पादन्यासो लयमनुगतः' (२.८) नृत्तादि का आश्रय रूप पादप्रक्षेप काल एवं क्रिया के साम्य का अनुसरण होता है] इससे नृत्त की शुद्धि कही गई है। इसी प्रकार—'तालवर्ती तु यः कालः स काललयनाल्लयः'—इस परिभाषा के अनुसार लय [= गति] का मापक 'ताल' है। कहा भी है—तालान्तरालवर्ती यः कालोऽसौ 'लय' ईरितः। छन्दोक्षरपदानां हि समत्वं यत्प्रकीर्तितम्। कला कलान्तरकृतः स लयो मानसंज्ञितः [भरत]। नृत्य और नृत्त में साम्य और असाम्य का दिग्दर्शन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. यह गात्रविक्षेपार्थक 'नृती' धातु से निष्पन्न है।	१. यह भी गात्रविक्षेपार्थक 'नृती' धातु से निष्पन्न है।
२. अवान्तर पदार्थाभिनय के द्वारा यह नाट्य का उपकारक है।	२. शोभाधायक होते हुए यह 'नाट्य' का उपकारक है।

अनन्तरोक्त द्वितीयं व्याचष्टे—

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति ।

द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

---

३. पदार्थाभिनय नृत्य है।	३. अभिनय से शून्य अङ्गभङ्गिमरूप गात्रविक्षेप नृत्त है।
४. मधुर [=सुकुमार = लास्य] और उद्धत [=ताण्डव] भेद से यह दो प्रकार का है।	४. मधुर [=सुकुमार = लस्य] और उद्धत [= ताण्डव] भेद से यह भी दो प्रकार का है।
५. नृत्य भावाश्रित होता है।	५. जबकि नृत्त ताल और लयाश्रित होता है।

भ्वादिगणीय 'णट्' नृत्तौ धातु के प्रसंग में नाट्य, नृत्य और नृत्त तीनों शब्द की व्युत्पत्ति देखनी चाहिए। इन तीनों के विशेष विवेचन के लिए शारदातनय का भाव-प्रकाशन, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रीय यशोभूषण और शाङ्गदेव का संगीतरत्नाकर द्रष्टव्य है।

नृत्त की परिभाषा करने के बाद अब उक्त नृत्य और नृत्त दोनों की ही व्याख्या करते हैं—

प्रथमतः [उक्त] पदार्थाभिनय रूप नृत्य 'मार्ग' भी कहलाता है; और दूसरा नृत्त 'देशी' के नाम से भी अभिहित होता है ॥ ९ ॥

पदार्थों के अभिनय रूपी नृत्य को 'मार्ग' [उच्च शैली का नृत्य] भी कहते हैं और नृत्त 'देशी' [प्रसिद्ध शैली के नृत्त] नाम से भी प्रसिद्ध है।

परिष्कार—'मार्ग' और देशी अन्वर्थ संज्ञा शब्द है। नृत्य चूँकि एक सरणि के अनुसार होता है जैसे भरत का 'नाट्य-शास्त्र', अतः मार्ग है। संगीतदर्पण में देशी को इस प्रकार बतलाते हैं—

'तत्तद्देशस्थया रीत्या यत् स्याल्लोकानुरञ्जनम् ।
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीयमिधीयते ॥ १.५ ॥

[नृत्य-नृत्तात्मक रूप नाटक के उपकारक] द्विविध अंग का पुनः दो प्रकार बतलाते हैं—

मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति। प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति। नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ॥

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात् किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

मधुर और उद्धत भेद से वह [नृत्य और नृत्त] भी पुनः दो प्रकार का होता है। दोनों ही [मधुरता से युक्त होने वाली क्रिया] 'लास्य' रूप से और उद्धतपन से युक्त होने वाली क्रिया] ताण्डव रूप से नाटक आदि [आठवीं कारिका में उक्त] रूपकों के उपकारक होते हैं ॥ १० ॥

[नृत्य तथा नृत्त] दोनों ही सुकुमार [=मधुर] होने पर लास्य और दोनों ही उद्धत होने पर ताण्डव शब्द से अभिहित होते हैं। 'ये नाटक आदि के उपकारक हैं'—कारिका में इस कथन के द्वारा प्रसंगतः कथित [नृत्य और नृत्त] का उपयोग किया गया है। यदि कहीं मध्य में अवान्तर पदार्थ का अभिनय करना है तो नृत्य का और यदि कहीं शोभा बढ़ाने का कार्य है तो [रसोत्तेजक होने से] नृत्त का उपयोग नाटक प्रकरण आदि रूपकों में होता है।

परिष्कार—धनञ्जय के अनुसार रस निष्पत्ति वाक्यार्थ रूप में होती है (द्र० दश० ४.३७)। रस निष्पत्ति के लिए विभाव इत्यादि रस के अंगों की आवश्यकता पड़ती है। वे विभाव इत्यादि वाक्य के अन्तर्गत पदों के द्वारा प्रकट किए जाते हैं। उन पदों से भाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसको वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय के द्वारा प्रकट किया जाता है। इस तरह विभाव के द्वारा ही भाव का उत्थान होता है और अनुभाव के द्वारा वह प्रतीति के योग्य बनाया जाता है। भाव के प्रकट करने के लिए अभिनय का प्रयोग होता है, और उसीके लिए नृत्य का भी उपयोग होता है। किन्तु नृत्त में किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं की जाती है। यह रसोत्तेजक होता है। अतः मात्र शोभाधायक होने से ही इसका उपयोग नाट्य में होता है। तद्देशीय नृत्त स्वभावतः सांसारिकों का अभीष्ट होने से नाटक के सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है; जैसे भांगड़ा नृत्त मात्र पंजाब की अपनी विशेषता है; जिसे देखकर हम लोग उद्धत होते हैं।

रूपक के विभाजन के आधार—

अब प्रश्न है कि जब सभी प्रकार के रूपकों में अनुकरण होता है तो इनका भेद किस आधार पर किया जाता है—ऐसी आशंका करके कारिका में इस प्रकार उत्तर

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद् रसभेदाद् रूपाणामन्योन्यं भेद इति ॥

वस्तुभेदमाह—

—वस्तु च द्विधा।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ११ ॥

प्रधानभूतमाधिकारिकम्; यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः। तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकम्, यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ॥

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः, फलस्वामी चाधिकारी, तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम् = फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम् ॥

दिया जा रहा है—

वस्तु [कथावस्तु], नेता [=नायक] और रस—उन रूपकों के भेदक तत्त्व हैं।

वस्तुभेद, नायकभेद तथा रसभेद से ही रूपक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं।

कथावस्तु का विभाजन—

उन तीनों में कथावस्तु के भेद को प्रथमतः बतलाते हैं—

कथावस्तु दो प्रकार की होती है।

कैसे ? यह कहते हैं—

उनमें मुख्य कथावस्तु को 'आधिकारिक' और [प्रधानकथा की] अङ्गभूत कथावस्तु को 'प्रासङ्गिक' कहते हैं ॥ ११ ॥

प्रधानभूत कथा को 'आधिकारिक' कथावस्तु कहते हैं; जैसे वाल्मीकिरामायण में भगवान् राम और सीता का वृत्तान्त। जो कथा उस प्रधानभूत कथा का अंग होती है वह प्रासंगिक कहलाती है; जैसे उसी रामायण में विभीषण, सुग्रीव आदि का वृत्तान्त। [द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र १९.२; सा० द० ६.४२]।

निर्वचन के साथ 'आधिकारिक' संज्ञक कथावस्तु का लक्षण करते हैं—

अधिकार का अर्थ है फल का स्वामित्व और अधिकारी उस फल के स्वामी को कहते हैं। उस अधिकारी के द्वारा बढ़ाई गई [developed] और [काव्य में] फल-पर्यन्त अभिव्याप्त कथा को आधिकारिक [कथावस्तु] कहते हैं ॥ १२ ॥

फल के साथ स्व-स्वामिभावसम्बन्ध को अधिकार कहते हैं और फल का स्वामी ही अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी के द्वारा किया गया वृत्त जो फल की प्राप्ति

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गात् स्वप्रयोजनसिद्धिः, तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्तम्, प्रसङ्गनिर्वृत्तेः प्रासङ्गिकम् ॥

तक पहुँचने वाला हो 'आधिकारिक' इतिवृत्त है ।

परिष्कार—(क) कारिका में आये तत् शब्द से 'फलस्वाम्यम्' को जब लेंगे तो यह अनुचित ही होगा । इसीलिए वृत्तिकार ने फल के साथ स्वस्वामि रूप सम्बन्ध को अधिकार बतलाया है । क्योंकि सम्बन्ध गुण प्रधान ही होता है । अधिकार फल भोक्ता का गुण कभी भी नहीं हो सकता । इसलिए 'तत्प्रभुः' = उसका स्वामी—यह कथन अयुक्त है । इसीलिए वृत्तिकार ने फलभोक्ता नहीं अपितु फल के स्वामी को अधिकारी कहा है । (ख) कारिका में 'निर्वर्त्य' पद तक निवचन किया गया है । मात्र 'अभिव्यापि'—इस शब्द से 'आधिकारिक कथावस्तु' के लक्षण का कथन है । इस प्रकार निर्वचन का क्रम है—अधिकार अस्य अस्ति-इति अधिकारी अर्थात् इसका अधिकार है—यह अधिकारी है । यहाँ 'अधिकारी' शब्द से ठक् प्रत्यय करके 'यस्येति च' इस सूत्र से इकार का लोप और वृद्धि करके 'आधिकारिक' यह रूप सिद्ध होता है ।

प्रासङ्गिक कथावस्तु की व्याख्या करते हैं—

जो इतिवृत्त दूसरे अर्थात् प्रधान कथा के प्रयोजन से काव्य में सन्निविष्ट किया गया हो और उस प्रधान इतिवृत्त के प्रसङ्ग से जिसका स्वयं का प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता हो, उसे प्रासङ्गिक कथावस्तु कहते हैं ।

दूसरे अर्थात् मुख्य कथा के प्रयोजन की सिद्धि के लिए सन्निविष्ट किए गए जिस इतिवृत्त का प्रसङ्गवशात् अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है वह प्रासंगिक कथावस्तु कहलाता है । प्रसङ्ग अर्थात् मुख्य कथावस्तु को निर्वृत्त अर्थात् पूरा करने के कारण उसे प्रासङ्गिक कहते हैं ।

परिष्कार—वृत्तिकार प्रासङ्गिक [कथावस्तु] का लक्षण और निर्वचन दोनों ही दिखलाते हैं । प्रथम वाक्य—यस्य से इतिवृत्तम् तक—में लक्षण किया गया है और दूसरे वाक्य में प्रासङ्गिक शब्द की निरुक्ति की गई है । लक्षण में दो शर्तें इस प्रकार हैं—१. जो कथा मुख्य कथा के प्रयोजन से काव्य में आई हो और २. जिसका स्वयं का प्रयोजन भी प्रधान कथा के संग सिद्ध हो जाता हो । प्रथम शर्त के अनुसार उदाहरणतः रामायण में सीता-राम की कथा मुख्य कथा है । उस मुख्य कथा का प्रयोजन रावणवध है ।

प्रासङ्गिकमपि पताका-प्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका, सुग्रीवादिवृत्तान्तवत् । पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात् । यदल्पम्=दूरं नानुवर्तते सा प्रकरी, श्रवणादिवृत्तान्तवत् ॥

उसकी सिद्धि के लिए सुग्रीव की कथा आई है । दूसरी शर्त के अनुसार सुग्रीव का स्वयं का प्रयोजन बालि-बध और उसकी राज्य की प्राप्ति है जो प्रधान कथाके ही प्रसंग से राम के द्वारा सिद्ध हो जाता है । निर्वचन—मुख्य कथा के साथ ही उसके प्रयोजन की सिद्धि होती है इसलिए प्रसंग अर्थात् प्रस्तुत राम की कथा को निर्वृत्त अर्थात् पूरा करने के कारण उसे 'प्रासङ्गिक' यह संज्ञा प्रदान की गई है ।

पताका और प्रकरी भेद से प्रासंगिक कथावस्तु भी दो प्रकार की होती है—यही बतलाते हैं—

अनुबन्ध के सहित [प्रधान कथा के साथ गौड़ रूप से दूर तक चलने वाले] प्रासङ्गिक इतिवृत्त को 'पताका' कहते हैं और एक प्रदेश में ही सीमित होकर [कुछ ही दूर तक चलने वाले] प्रासङ्गिक इतिवृत्त को 'प्रकरी' कहते हैं ॥ १३ ॥

जो प्रासङ्गिक इतिवृत्त प्रधान कथावस्तु के साथ दूर तक चलता है उसे 'पताका' कहते हैं । जैसे सुग्रीव आदि का वृत्तान्त [इसलिए पताका है क्योंकि यह कथानक रामकथा के साथ गुथा हुआ दूर तक चला जाता है] । वह [पताका इतिवृत्त] मुख्य नायक के झण्डे के चिह्न की तरह उस प्रधान कथावस्तु का उपकारक होता है । जो प्रासंगिक इतिवृत्त छोटा है अर्थात् [प्रधान कथा के साथ] दूर तक अनुवर्तन नहीं करता है, वह 'प्रकरी' है । जैसे श्रवणकुमार [शबरी] आदि की कथा [इसलिए प्रकरी है क्योंकि यह रामकथा के साथ दूर तक नहीं चलती है और केवल एक देश में ही रुक जाती है] ।

परिष्कार—सानुबन्ध का अर्थ है प्रधान के साथ दूर तक चलने वाला । अनुबन्ध अर्थात् पीछे बंधना या अनुवर्तन करना । इसका 'पताका' यह नामकरण इसलिए किया गया है कि जैसे पताका [=झण्डा] नेता का असाधारण चिन्ह होते हुए उसका उपकारक होता है वैसे ही यह इतिवृत्त भी उसी के समान मुख्य नायक से सम्बन्धित कथा का उपकारक होता है । सम्भवतः उपमा इस प्रकार है कि नायक का एक असाधारण चिह्न [=पहचान] पताका होती है और इससे उसका उपकार भी होता है क्योंकि उसी झण्डे के द्वारा उसे लोग पहचान सकते हैं । उसी प्रकार जो इतिवृत्त नायक का असाधारण रूप में उपकार किया करता है उस दूर तक चलने वाले प्रासङ्गिक इतिवृत्त को 'पताका'

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात् । यथा रत्नावल्याम् [३.६]—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥'

इस नाम से अभिहित किया जाता है। इन दोनों में भेद इस प्रकार देखा जा सकता है—

पताका	प्रकरी
१. पताका-नायक अपने प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा रखता है।	१. प्रकरी-नायक जैसे जटायु या शबरी निरपेक्ष होकर प्रधान कथा का सहायक होता है।
२. पताका की कथा दूर तक चलने वाली होवी है।	२. प्रकरी की कथा एक देश तक ही सीमित रहती है।

द्र०—भरत १९.२३ । सा० द० ६,६७–९६ । भाव० पृ० २०१-२०२ ।

सम्प्रति पताका के प्रसङ्ग से अर्थात् पताका शब्द से स्मृत पताकास्थानक का भी व्युत्पादन करते हैं—

आनेवाली [=आगन्तुक] प्रस्तुत [=प्रसङ्गप्राप्त] कथावस्तु की सूचना जहाँ अन्योक्ति के द्वारा की जाय उसे 'पताकास्थानक' कहते हैं। यह तुल्य-इतिवृत्त [=संविधान] और तुल्य विशेषण [के भेद से दो प्रकार का] होता है ॥ १४ ॥

जिस कथा का प्रकरण चल रहा हो, उसमें आगे आने वाली घटना [=अर्थ] की सूचना पताका के समान जिससे मिलती है, उसे 'पताकास्थानक' कहते हैं। यह सूचना पताका [=ध्वजा] की भाँति भावी वृत्त को बताती है। अतः 'पताकास्थानक' कहलाती है।

१. समान इतिवृत्त [से भावी वस्तु का संकेत] और २. समान विशेषणों [से आगन्तुक वस्तु का संकेत] होने के कारण यह अन्योक्ति और समासोक्ति भेद से दो प्रकार का होता है।

[तुल्य इतिवृत्त के द्वारा संकेत] जैसे रत्नावली में [किया गया है]—

हे कमल के समान नेत्रों वाली ! मैं अब चला, क्योंकि हमारे जाने का समय आ गया है, और मैं ही पुनः आकर तुम्हें सोने से भी जगाऊँगा। इस प्रकार अस्ताचल के मस्तक पर अपनी किरणों को रखने वाला सूर्य मानों कमलिनी को [अपने लौट आने का] आश्वासन [=विश्वास] दिला रहा है ॥ रत्ना० ३.६ ॥

यथा च तुल्यविशेषणतया—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥' [रत्ना० २.४]

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात् त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥ १५ ॥

परिष्कार—प्रस्तुत स्थल में महाराज उदयन विदूषक से कह रहे हैं। इस उक्ति में सूर्य और कमलिनी के वृत्तान्त से महाराज उदयन और रत्नावली [=सागरिका] के भावी मिलन का संकेत दिया गया है। यहाँ समान घटना के रूप में एक तरफ सूर्य और कमलिनी का मिलन और दूसरी तरफ महाराज उदयन और रत्नावली का मिलन संकेतित है। यतः उदयन की कथा प्रस्तुत [=प्रासङ्गिक] है; और सूर्य का वृत्त अप्रस्तुत [=अप्रासङ्गिक] है; अतः यहाँ अन्योक्ति पर आधारित प्रथम प्रकार का पताकास्थानक है।

और तुल्य विशेषणों के द्वारा [संकेत जैसे 'रत्नावली' नाटिका में ही इस प्रकार है]—

उद्दामोत्कलिका [=लता के पक्ष में चटखती हुई कलियों वाली तथा अन्य स्त्री के पक्ष में—कामवेग के कारण रोमाञ्चित] विपाण्डुररुचा [=१. पीली कान्ति वाली २. काम से पीली पड़ी हुई स्त्री] प्रारब्धजृम्भा [=१. विकसित होने वाली २. जम्भाई लेनें वाली] निरन्तर बहने वाली वायु के झकोरों से अपना विस्तार [=आयास] करती हुई [२. निरन्तर दीर्घ निश्वासों के कारण व्याकुल होती हुई] मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई [२. कामातुर] दूसरी स्त्री के समान इस उद्यान-लता को देखता हुआ मैं [उदयन] आज देवी [वासवदत्ता] के मुख को अवश्य ही क्रोध से लाल [वर्णवाला] कर दूँगा।

परिष्कार—प्रस्तुत स्वगत उक्ति महाराज उदयन द्वारा की गई है। यहाँ समान विशेषणों का प्रयोग करते हुए रत्नावली सम्बन्धी अर्थात् आगे रत्नावली [=सागरिका] का मिलन महाराज उदयन से होगा जो देवी वासवदत्ता के क्रोध का कारण बनेगा—इस—भावी घटना का संकेत किया गया है। यतः तुल्य विशेषणों द्वारा भावी कथा-वस्तु का संकेत यहाँ दिया गया है, अतः यहाँ समासोक्ति पर आधारित द्वितीय प्रकार का 'पताकास्थानक' है। वस्तुतः तुल्य विशेषण समासोक्ति में ही रहता है।

इस तरह इतिवृत्त के तीन प्रकार १. आधिकारिक; प्रासङ्गिक; २. पताका; और ३. प्रकरी के फिर से तीन-तीन प्रकार बतलाते हैं—

तीन प्रकार के उस इतिवृत्त के भी १. प्रख्यात, २. उत्पाद्य; और ३. मिश्र भेद के

२

मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां[1] दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ॥

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

कारण तीन-तीन प्रकार होते हैं । इतिहास पुराण आदि से गृहीत कथावस्तु 'प्रख्यात' कहलाती है । कवि के द्वारा स्वयं कल्पित कथावस्तु 'उत्पाद्य' कहलाती है; तथा इन दोनों [प्रख्यात और उत्पाद्य] के सङ्कर से उत्पन्न कथावस्तु 'मिश्र' कहलाती है । इस प्रकार ये सभी इतिवृत्त दिव्य [Gods] मर्त्य [Mortals] आदि भेद से [भी अलग-अलग कई प्रकार के होते हैं । अतः] इनका अन्त नहीं है ॥१५–१६॥

मूल में ही व्याख्यात होने के कारण इस [कारिका] की वृत्ति की आवश्यकता नहीं है ।

परिष्कार—(क) प्रस्तुत कारिका में दिव्य, मर्त्य आदि जो कहा है प्रश्न उठता है कि उसमें 'आदि' पद से किसका ग्रहण करना चाहिए ? साहित्यदर्पण (६·९) के अनुसार आदिपदेन दिव्यादिव्य लेना चाहिए । स्वयं धनञ्जय और धनिक के अनुसार भी तृतीय प्रकाश में ऐसा ही प्रकट किया गया है [द्र० दश० ३·३] । (ख) इस प्रकार इतिहास पुराण से लिया गया प्रकृष्ट ख्यातिप्राप्त इतिवृत्त 'प्रख्यात' होता है [द्र० दश० ३·२३] । धनञ्जय के अनुसार प्रख्यात इतिवृत्त भी तीन प्रकार का होता है । १. इतिहास-प्रसिद्ध, जैसे राम, कृष्ण आदि की कथा, २. प्रख्यात कथातः प्रसिद्ध बृहत् कथा पर आधारित कथावस्तु, और ३. लोकतः प्रसिद्ध जैसे उदयन की कथा [द्र० दश० ३·२३] । (ग) कवि की प्रतिभा से कल्पित कथावस्तु 'उत्पाद्य' होती है; जैसे मालती-माधव की कथा । जिस कथा में दोनों का सम्मिश्रण होता है, वह मिश्र कथा वस्तु है; जैसे शाकुन्तल की कथा । वस्तुतः यह कथा पुराण से ली गई है, किन्तु कवि की कल्पना भी उसमें है । (घ) दिव्य, मर्त्य आदि भेद से इतिवृत्त के भेद का पर्यवसान न होने के कारण 'नान्तः' पाठ ठीक लगता है । क्योंकि कुछ इतिवृत्त शुद्ध दिव्य होते हैं; जैसे कृष्ण की कथा । कुछ शुद्ध मर्त्य होते हैं; जैसे मालतीमाधव, मृच्छकटिक आदि की कथा । कुछ दिव्य और मर्त्य दोनों होते हैं; जैसे राम की कथा दिव्य भी है और अदिव्य भी; क्योंकि राम दिव्य होकर भी अपने को मानव समझते थे । इस प्रकार इतिवृत्त के भेद का कहीं भी पर्यवसान न होने से अन्त नहीं है । (ङ) यहाँ मूल पाठ ही व्याख्या के रूप में निबद्ध है और उसमें कुछ भी छिपा नहीं है; अतः धनिक के अनुसार 'निगद व्याख्यातम्' कहा है । (च) प्रस्तुत सन्दर्भ के लिए द्र० अग्नि पु० ३३८·१८ ।

कथावस्तु का फल—

उस इतिवृत्त का क्या फल होता है ? यह बतलाते हैं—

उस इतिवृत्त का फल है त्रिवर्ग [=धर्म, अर्थ, काम] । यह कभी तो शुद्ध [अर्थात्

---

१. 'नान्तो', 'त्रेधा' इति वा पाठः ।

धर्मार्थकामाः फलम् । तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्व्यनुबन्धं वा ॥

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्, यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः—यौगन्धरायणः—कः संदेहः । ('द्वीपादन्यस्मात्–'[१·६] इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' [१·७] इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति ।

त्रिवर्ग में से कोई एक] हो सकता है, कभी [अन्य] एक से अनुगत तथा कभी अनेक [अर्थात् दो से] अनुगतन होता है ॥ १६ ॥

धर्म, अर्थ और काम इतिवृत्त का फल होता है, और वह फल कभी तो शुद्ध अर्थात् त्रिवर्ग में से एक; कभी एक से अन्वित एक [जैसे अर्थ से अन्वित धर्म] एवं कभी यह फल दो से अन्वित एक [जैसे अर्थ और काम के सहित धर्म] और कभी तीन से अन्वित एक अर्थात् एक का प्राधान्य होकर कार्य [=फल] है ।

परिष्कार—(क) धर्म, अर्थ और काम को सिद्ध करना ही इतिवृत्त का फल है । इतिवृत्त कारण है और धर्म, अर्थ, काम रूप फल उसका कार्य है । अतः कारिका में 'कार्यं त्रिवर्गः' ऐसा कहा है । (ख) इस प्रकार फल के भी तीन भेद हो जाते हैं १. एकानुबन्धि [=शुद्ध]; २. द्वयनुबन्धि और ३. त्र्यनुबन्धि ।

फल-प्राप्ति के साधन—अर्थप्रकृतियाँ—

[त्रिवर्ग रूप] उस [फल] के साधन का व्युत्पादन इस प्रकार करते हैं—

नाटक के आरम्भ में अल्प रूप में संकेतित किन्तु आगे चलकर अनेक प्रकार से पल्लवित होने वाला [इतिवृत्त] 'बीज' कहलाता है ।

[रूपक के प्रारम्भ में] स्वल्प रूप से निर्दिष्ट तथा [कथावस्तु के] फल का साधक एवं आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तृत होने वाला इतिवृत्त का हेतु-विशेष 'बीज' कहलाता है; क्योंकि यह बीज के समान ही देखने में छोटा होता है । किन्तु आगे चलकर यह शाखा, पत्र, तना आदि से युक्त विशाल वृक्ष के समान विस्तृत रूप को धारण कर लेता है । जैसे 'रत्नावली' नाटिका [१ : ६–७] में उदयन को रत्नावली की प्राप्ति [अर्थात् यहाँ उदयन और रत्नावली का मिलन करा देना इतिवृत्त का फल है] का हेतु है—दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग—ही बीज रूप से विष्कम्भक में उपन्यस्त है । आगे यौगन्धरायण कहता है—इसमें क्या सन्देह है ? [और द्वीपादन्य-स्माद् १·७ इस श्लोक को पढ़ता है]—इस उक्ति से लेकर 'प्रारम्भेस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ' १·८ इस कथन तक [बीज का निर्देश किया गया है] ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में द्रौपदी के केश गूँथने का हेतुभूत भीम के क्रोध से बढ़ा

6. दश.

तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति।।

अवान्तबीजस्य संज्ञान्तरमाह—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।।१७।।

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्य-हेतुः—'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते। सागरिका—(श्रुत्वा) कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा।' (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) [रत्न० १.२३] इत्यादि। बिन्दुर्जले तैलबिन्दुवत् प्रसारित्वात् ।।

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद् व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

हुआ युधिष्ठिर का उत्साह बीज रूप से अङ्कित है। [जिसका उल्लेख अर्थात् 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' १.८—भीम की इस उक्ति से लेकर 'मन्थायस्तार्णं' १.२२ तक कर दिया गया है]। यह [बीज] भी महाकार्य तथा अवान्तर कार्य [अर्थात् चरम लक्ष्यभूत अन्तिम फल तथा गौण फल] के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

[यत: महाकार्य अर्थात् अन्तिम फल का विवेचन हो चुका है अत:] अवान्तर बीज का दूसरा नाम बतलाते हैं—

अवान्तर कथा [= अर्थ] की समाप्ति के अवसर पर प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध विच्छेद न होने देने वाली वस्तु को 'बिन्दु' कहते हैं। [अर्थात् प्रधान कथा के विच्छिन्न होने पर उसे जोड़ने और बढ़ाने का जो कारण होता है वह बिन्दु है]।।१७।।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में कामदेव की पूजा एक अवान्तर कथा है [जिसका विशेष सम्बन्ध मूल कथा से नही है] । इस अवान्तर प्रयोजन [=वृत्त] रूप कामदेव पूजा की समाप्ति पर जब प्रधान कथा विच्छिन्न हो रही थी,, तब उसके अनन्तर होने वाले कार्य का हेतु इस प्रकार दिखाया गया है—'महाराज उदयन चन्द्रमा के समान् शोभित हो रहे हैं।' यह सुनकर सागरिका कह उठती है कि 'क्या ये वे ही महाराज उदयन हैं जिनके लिए पिताजी ने मुझको प्रदान किया है?' इत्यादि [इस प्रकार मूलकथा से अवान्तर प्रसङ्ग का सम्बन्ध जुड़ जाता है]। जल में जैसे तैल बिन्दु फैल जाता है, उसी प्रकार नाट्य में यह बिन्दु भी अग्रिम कथा भाग में फैल जाता है। अत: बिन्दु के समान प्रसारित होने के कारण इसे 'बिन्दु' कहते है।

परिष्कार—कारिका में 'बिन्दु' शब्द भी गौण है। किसी एक कार्य के साधक हेतु विशेष का अवलम्बन करके ही कोई कर्ता कार्य करता है। वही बाद में अनेकधा विस्तारित होने के कारण यहाँ प्रथमत: 'बीज' शब्द में कहा गया है। बाद में बहुत प्रकारसे शाखा-प्रशाखा रूप से फैलने के कारण वही 'बिन्दु' शब्द से कहा गया है। इसी प्रकार आगे भी पताका जैसे फहराती है उसी प्रकार फैल जाने से वही 'पताका' कहा जाता है।

ऊपर प्रसंगवश पताका आदि का उल्लेख बिना क्रम के ही किया गया है। अब यहाँ पर क्रम बतलाने के लिए उनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ।। १८ ।।

अर्थप्रकृतयः = प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।।

[प्रयोजन की सिद्धि का कारणभूत] पाँच अर्थप्रकृतियाँ १. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी, और ५. कार्य—कही गई हैं ।। १८ ।।

प्रयोजन के सिद्ध करने वाले कारण को 'अर्थप्रकृति' कहते हैं ।

परिष्कार—(क) यद्यपि यहाँ उपसंहार किया जा रहा हैं, फिर भी अयुक्त का पुनः कथन अनुचित है । अब तक क्रमपूर्वक नहीं कहा गया था—अतः अब क्रम कर रहे हैं इसी प्रश्न के उत्तर में वृत्तिकार धनिक 'इदानीं....' कहते हैं । यहाँ उपसंहार किया गया है; और उपसंहार में उन्हीं बातों को संक्षेपतः कहा ही जाता है अतः पुनरुक्ति नहीं हैं । (ख) धनिक के अनुसार 'अर्थप्रकृति' के 'अर्थ' शब्द का आशय 'प्रयोजन' है; और 'प्रकृति' शब्द का अर्थ हेतु या उपाय है । भोजराज के अनुसार कथाशरीर को अर्थ कहते हैं; और प्रकृति कारण है (प्रतापरुद्रिय पृ० ७५) अभिनवभारती के अनुसार—अर्थ=फलम्; तस्य प्रकृतय उपायः फलहेतव इति अर्थः (ना० शा० पृ० ३३९) । (ग) सोलहवीं कारिका की ही भाँति इस कारिका के 'कार्य' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' [=फल] नहीं है । किन्तु यहाँ कार्य का अर्थ है अधिकारी का वह व्यापार जो फल की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है । (घ) बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य से पाँच अर्थप्रकृतियाँ कही गई हैं; और धनिक ने मूलोक्त अर्थप्रकृति शब्द का अर्थ किया है 'प्रयोजन सिद्धि का हेतु' अर्थात् उपसंह्रियमाण बिन्दु आदि प्रयोजन सिद्धि के साधक हैं । प्रयोजन के इन साधकों में कार्य का भी उल्लेख किया गया है जो उचित नहीं है क्योंकि कार्य का अर्थ है 'प्रयोजन' । अतः उसे प्रयोजन का हेतु कहने में आत्माश्रय दोष है क्योंकि एक ही वस्तु कार्य और कारण नहीं हो सकती ।

इस अनौचित्य उद्भावना के दो समाधान किए जा सकते हैं—

१. पहला यह है कि कार्य यद्यपि स्वयं अपना हेतु आत्माश्रय दोष के कारण नहीं हो सकता किन्तु अपने ज्ञान और अपनी इच्छा के द्वारा वह भी अपना हेतु हो सकता है । आशय यह है कि प्रयोजन (=कार्य) का ज्ञान और इच्छा होने पर ही उसके अन्य कारणों का संकलन कर उसकी सिद्धि की जाती हैं । अतः प्रयोजन (=कार्य) को ज्ञायमान और इष्यमाण होकर अपनी सिद्धि का हेतु होना निर्विवाद हैं । कहने का आशय यह हुआ कि कार्य के पूर्व कहे गए बीजादि चार पदार्थ प्रयोजन के स्वरूपसत् कारण हैं; और कार्य (=प्रयोजन) स्वरूपसत् कारण न होकर ज्ञायमान और इष्यमाण होकर कारण है । इस प्रकार कार्य स्वरूपसत् प्रयोजन है; और ज्ञायमान तथा इष्यमाण होकर प्रयोजन का साधक है । अतः आत्माश्रय नहीं हो सकता ।

२. दूसरा समाधान यह है कि कार्य शब्द यौगिक अर्थ की दृष्टि से प्रयोजन के प्रति हेतु है। और यही कार्य शब्द रूढ़ अर्थ की दृष्टि से प्रयोजन भी है। अतः आत्माश्रय दोष नहीं होगा। वस्तुतः एक ही कार्य शब्द हेतु भी है, और हेतुमत् भी है।

अब प्रश्न है कि कार्य शब्द का यौगिक अर्थ क्या होगा ? और रूढ़ार्थ क्या होगा ? इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं—

(क) 'क्रियते यत् तत् कार्यम्' अर्थात् कृति का जो कर्म है वह कार्य हुआ। यहाँ कर्म कारक है, और कारक कारण ही होता है; अतः कार्य हेतु है—यह यौगिक अर्थ हुआ। कार्य शब्द का रूढ़ार्थ है उत्पद्यमान अर्थात् उत्पन्न होने वाला—अतः यह प्रयोजन है।

(ख) कार्य का यौगिक अर्थ है 'आद्यक्षण सम्बद्ध' और सम्बन्ध के दोनों ही सम्बन्धी कारण होते हैं, अतः कार्य है उत्पत्त्यात्मक सम्बन्ध का कारण। यह कार्य का पूर्ववर्ती कारण न होकर कार्य का सहभावी कारण है। कार्य शब्द का रूढ़ अर्थ हुआ प्रागभाव-प्रतियोगी अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व असत्, इसलिए वह कारण न होकर प्रयोजन है। अब प्रश्न है कि कार्य को यहाँ सहभावी कारण कहा गया है और इनमें दोनों सम्बन्धी कारण कहे गए हैं। ये दोनों ही कालिक-सम्बन्ध से एक दूसरे में रहते हैं। कालिक-सम्बन्ध स्वरूप-सम्बन्ध है। अतः स्वरूप-सम्बन्ध से एक दूसरे में उपस्थिति कैसे होगी ? उत्तर है कि दोनों ही स्वरूप अलग-अलग हैं। एक है 'आद्यक्षणावच्छिन्न कालिक-सम्बन्ध' और दूसरा है 'उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न कालिक-सम्बन्ध'। इन दोनों समाधानों में पहला अधिक युक्ति संगत है; क्योंकि इस समाधान में बिन्दु आदि पाँचों को एक प्रयोजन सिद्धि हेतुता का समर्थन मिल जाता है; और दूसरे समाधान में बिन्दु आदि चार में कार्यात्मक प्रयोजन की साधकता और कार्य में आद्यक्षण-सम्बन्ध-रूप उत्पत्ति की साधकता प्रदर्शित होती है। अतः इस समाधान में मूलोपात्त अर्थप्रकृति शब्द से दो प्रकार के प्रयोजन सिद्धि हेतु का ग्रहण अनिवार्य हो जाता है।

वस्तुतः धनिक के 'प्रयोजनसिद्धिहेतवः' इस कथन पर आत्माश्रय के कारण अनौचित्य का उद्भावन आलोचकों का दुस्साहस मात्र है; क्योंकि आत्माश्रय यहाँ तब होगा जब अर्थप्रकृतयः शब्द का यथाश्रुत अर्थ ग्रहण किया जाय। क्योंकि उसका यथाश्रुत अर्थ है प्रयोजन का हेतु अतः प्रयोजनात्मक कार्य को अर्थप्रकृति का अर्थात् प्रयोजन का हेतु कहना आत्माश्रय दोष से ग्रस्त है। किन्तु धनिक ने इस यथाश्रुत अर्थ को ग्रहण न करके उसका अर्थ प्रयोजन सिद्धि का हेतु किया है। प्रयोजन और प्रयोजन सिद्धि में अन्तर है। प्रयोजन का अर्थ है कार्य और सिद्धि का अर्थ है उत्पत्ति। उत्पत्ति का अर्थ है आद्यक्षण-सम्बन्ध। कार्य उस सम्बन्ध का सम्बन्धी होने के नाते उसका कारण है; और कार्य के कारण भी कार्योत्पत्ति के हेतु हैं; क्योंकि सभी कारण मिलकर कार्योत्पत्ति का ही सम्पादन करते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत स्थल में आत्माश्रय है ही नहीं और धनिक की व्याख्या बिल्कुल ठीक है।

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ १९ ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।

'इदमहं संपादयामि' इत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्[१·७]—'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे[1] चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः॥

कार्य की पाँच अवस्थाएँ (Stages)—

[आर्थप्रकृतियों से] अतिरिक्त अब पाँच अवस्थाओं को बतलाते हैं—

फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति द्वारा जो कार्य आरम्भ किया गया रहता है उस कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—१. आरम्भ; २. यत्न; ३. प्राप्त्याशा; ४. नियताप्ति और ५. फलागम ॥१९॥

परिष्कार—किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में जब इच्छा होती है तो उसके समस्त क्रिया कलापों में एक क्रम होता है। प्रथमतः वह उस कार्य के प्रति उत्सुक होता है—यह आरम्भ है। उसके लिए चेष्टा करता है—यह यत्न है। इस प्रयत्न में उसे विघ्न होते हैं—यह प्राप्त्याशा है। यही कार्य की अवस्था का क्रम है।

अब क्रमानुसार इनका लक्षण बतलाते हैं—

१. अब आरम्भ [नामक प्रथम अवस्था का लक्षण कहते हैं]—

प्रकृष्ट फल की प्राप्ति के लिए उत्पन्न मात्र उत्सुकता को ही 'आरम्भ' कहते हैं।

अर्थात् 'इस कार्य को मैं करूँ' इस प्रकार के अध्यवसाय [=निश्चय या उत्सुकता] मात्र को 'आरम्भ' कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में [यौगन्धरायण कहता है]—'स्वामी की वृद्धि के लिए जो कार्य मैंने प्रारम्भ किया और भाग्य ने भी जिसमें सहारा दिया'—इत्यादि उक्ति के द्वारा सचिवायत्त सिद्धि वाले [अर्थात् मन्त्री के भरोसे रहकर सिद्धि चाहने वाले] वत्सराज के कार्य का आरम्भ मन्त्री यौगन्धरायण के मुख से दिखाया गया है।

परिष्कार—(क) यौगन्धरायण की इस उक्ति में वत्सराज से रत्नावली का मिलन रूप जो फल है उसके प्रति उत्सुकता दिखलाई गई। (ख) प्रयत्न से अन्य कार्य सिद्धि का हेतुभूत 'आरम्भ' नामक दूसरी अवस्था क्या है। इसलिए धनिक ने कहा कि 'कोई कार्य को चाहने वाला व्यक्ति मन में 'मैं यह करूँ' यह संकल्प करके यदि कार्य को बढ़ाता है तो वह संकल्प ही प्रयत्न के पूर्वभावी कार्य का 'आरम्भ' कहलाता है। इसी-

१. 'दैवेनेत्थं' इति वा पाठः।

अथ प्रयत्नः—

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥ २० ॥

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेषः प्रयत्नः । यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः—'सागरिका—तहावि णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जहासमीहिअं करिस्सम्' [रत्ना० पृ० ५६] (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि) । इत्यादिना प्रतिपादितः ॥

प्राप्त्याशामाह—

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

लिए कारिका में मात्र औत्सुक्य को ही 'आरम्भ' कहा है । इसप्रकार कार्य साधन की आद्य-प्रवृत्ति रूप इच्छा-मात्र 'आरम्भ' है । (ग) फल के भोक्ता वत्सराज को ही कार्यारम्भक होना चाहिए था तो क्यों यौगन्धरायण के द्वारा आरम्भ दिखलाया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में 'सचिवायत्तसिद्धेः' यह कहा है । जैसे यजमान के द्वारा वरण किए गए ऋत्विज का व्यापार यजमान के ही फल-हेतु होता है उसी प्रकार वत्सराज के सचिव का व्यापार भी वत्सराज उदयन का ही व्यापार है । अतः सचिव रूप यौगन्धरायण पर आश्रित वत्सराज कहे गए हैं ।

२. अब **प्रयत्न** [नामक द्वितीय अवस्था का लक्षण कहते हैं]—

फल के प्राप्त न होने पर [उसे पाने के लिए] बड़ी तेजी के साथ कार्य प्रारम्भ कर देना ही 'प्रयत्न' है ॥ २० ॥

उस फल के प्राप्त न होने पर [उसकी प्राप्ति के लिए की गई] विशेष प्रकार की उपाय-संयोजन रूप चेष्टा ही 'प्रयत्न' है । जैसे 'रत्नावली' में—आलेख्य [=चित्र] के अभिलेखन [=चित्रांकन] आदि के द्वारा वत्सराज उदयन से समागम का उपाय [प्रयत्न ही है] । सागरिका मन ही मन सोंचती है—'महाराज उदयन के दर्शन का कोई दूसरा उपाय नहीं है । फिर भी किसी प्रकार उनको चित्रित करके अपनी इच्छा पूर्ण करूँगी'—इत्यादि [कथन] के द्वारा [प्रयत्न का ही] प्रतिपादन किया गया है ।

परिष्कार—(क) प्रस्तुत रत्नावली से दिया गया उदाहरण इस प्रकार है—अनङ्ग पूजा के अवसर पर जब सागरिका वत्सराज का दर्शन कर चुकती है तो उसके अन्तःकरण में उदयन के प्रति उत्कट अनुराग जागृत होता है । किन्तु उसे सरलतापूर्वक उदयन का समागम सुलभ प्रतीत नहीं होता अतः वह उदयन का चित्र बनाकर मिलने का उपाय करती है । इस प्रकार सागरिका महाराज उदयन से चित्रांकन द्वारा जैसे-तैसे मिलने के लिए जो कार्य करती है वह 'प्रयत्न' के ही अन्तर्गत आता है । (ख) वस्तुतः प्रयत्न के अन्तर्गत नेता या नायिका अपनी अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करने में संलग्न रहते हैं ।

३. अब **प्राप्त्याशा** [नामक तीसरी अवस्था का लक्षण इस प्रकार] कहते हैं—

जहाँ पर उपाय भी विद्यमान हो एवं विघ्न [=आगम] की आशङ्का भी हो तथा

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के [पृ० १४९] वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्कायाः—'एवं जदि अआलवादावली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता ।' ('एवं यदि अकालवातावलीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता') । इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता सागरिकासमागमप्राप्तिरुक्ता ॥

नियताप्तिमाह—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्याम् [पृ०१४३] 'विदूषकः—सागरिका दुक्करं जीविस्सदि' ('सागरिका दुष्करं जीविष्यति) । इत्युपक्रम्य 'किं ण उपायं चिन्तेसि' (किं नोपायं चिन्तयसि) ? इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य !

इन्हीं दोनों की खींचातानी में फल-प्राप्ति के निश्चय का निर्धारण न किया जा सके उसे 'प्राप्त्याशा' कहते हैं ।

जहाँ उपाय तथा विघ्न की आशङ्का के कारण फलप्राप्ति के सम्बन्ध में कोई ऐकान्तिक निर्धारण न हो अर्थात् फलप्राप्ति में अनिश्चितता आ जाय वह 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था है । जैसे 'रत्नावली' के तीसरे अङ्क में सागरिका के वेष परिवर्तन कर उदयन के पास अभिसरण करने में समागम के उपाय रूप कार्य सिद्धि का लक्षण होने पर भी —कहीं महारानी वासवदत्ता देख न लें—इस प्रकार विघ्न की आशङ्का बनी रहती है । [जैसे रत्नावली में विदूषक इस प्रकार कहता है—] यदि असमय की आँधी बनकर महारानी वासवदत्ता न आ जायँ तो ऐसा ही होगा—इत्यादि वक्तव्य के द्वारा [सागरिका के] समागम प्राप्ति की अनिर्धारित अनैकान्तिकता कही गई है ।

परिष्कार—रत्नावली के पाठ में और प्रस्तुत पाठ में अन्तर है । सभी संस्करणों में 'अआलवादाली' सम्भवतः बिलकुल अशुद्ध है । यहाँ अआलवादावली (=अकालवातावली) ही होना चाहिए । प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ है—जैसे अचानक जोरों से आँधी आकर सुखदायक वर्षा को समाप्त कर देती है उसी प्रकार यदि महारानी वासवदत्ता आ गई तो सब काम बिगड़ जायगा ।

४. अब नियताप्ति [नामक चौथी अवस्था का लक्षण] कहते हैं—

विघ्नों के अभाव में [फल की] प्राप्ति का पूर्णरूपेण निश्चय हो जाने [की अवस्था] को 'नियताप्ति' [नामक अवस्था] कहते हैं ॥ २१ ॥

विघ्नों के हट जाने के कारण फल प्राप्ति का नितान्त निश्चय ही नियताप्ति है । जैसे रत्नावली में [वासवदत्ता द्वारा सागरिका के तहखाने में बन्द किए जाने पर उसकी दशा के विषय में जब] विदूषक राजा को यह बताता है कि सागरिका बड़ी कठिनाई से जीवित रहेगी—इस प्रकार का कथानक आरम्भ करके विदूषक ही राजा से कहता है कि तुम उसके छुटकारे का उपाय क्यों नहीं सोचते ? इस उक्ति के बाद राजा कहता

देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि.।' [पृ० १४४] इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता ॥

फलयोगमाह—

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ॥

संधिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥ २२ ॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः ।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगाद् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा

है—'मित्र महारानी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई और उपाय नहीं सूझ रहा है।' यहाँ देवी प्रसादन रूप—जो अग्रिम चतुर्थ अंक की कथा का 'बिन्दु' है [अर्थात् बिन्दु रूप से जो यहाँ सूचित है] उस देवी-प्रसादन के द्वारा [वासवदत्ता जनित विघ्न के समाप्ति की सूचना से] विघ्न का निवारण हो जाने के कारण फलप्राप्ति का 'निश्चय' सूचित किया गया है।

५. अब फलागम [नामक पञ्चम अवस्था का लक्षण] कहते हैं—

पूर्णरूपेण फल की प्राप्ति [की अवस्था] को ही 'फलयोग' [=फलागम अर्थात् फल की प्राप्ति की अवस्था] कहते हैं।

जैसे रत्नावली में [वत्सराज उदयन को] रत्नावली [=सागरिका] प्राप्ति और उससे चक्रवर्तीत्व की प्राप्ति [फलागम नामक अवस्था के अन्तर्गत आती है]।

परिष्कार—'यथोदितः' का अर्थ कुछ साफ नहीं हैं। इसके दो-तीन अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि पिछली कारिका १६ या कारिका १९ में कहे गए फल के लिए है। अथवा इसका अर्थ 'अन्य वाञ्छितफल' लगाया जाय तो भी ठीक होगा। अथवा इसका अर्थ यह है कि, जैसा कि अभी २०वीं कारिका में 'फललाभाय भूयसे' आदि कहा गया है।

सन्धि का लक्षण बतलाते हैं—

[ऊपर कहे हुए] पाँच अर्थप्रकृतियों और [आगे कही जाने वाली] कार्य की पाँच अवस्थाओं के क्रमशः एक-दूसरे से मिलने से [नाटक में] पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं ॥२२-२३॥

पाँच अर्थप्रकृतियों [बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य] का क्रमशः पाँच अवस्थाओं [अवस्था, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम] के साथ योग होने पर क्रमशः आगे कही जाने वाली १. मुख आदि [२. प्रतिमुख ३. गर्भ ४. विमर्श और उपसहृति या उपसंहार] पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं।

मुखाद्याः पञ्च संधयो जायन्ते ॥

संधिसामान्यलक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संधिः ॥

के पुनस्ते संधयः—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

यथोद्देशः लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा[1] ॥ २४ ॥

परिष्कार—बीजादि अर्थप्रकृतियों का अवस्था आदि पाँच अवस्थाओं से मेल होने पर क्रमशः संधियाँ होती हैं। बीज आरम्भ से अन्वित होकर मुख सन्धि को, बिन्दु प्रयत्न से अन्वित होकर प्रतिमुख सन्धि को, पताका प्राप्त्याशा से अन्वित होकर गर्भ सन्धि को, प्रकरी नियताप्ति से अन्वित होकर अवमर्श सन्धि को और कार्य फलागम से अन्वित होकर उपसंहृति [या उपसंहार अथवा निर्वहण] सन्धि को जन्म दे देता है। यद्यपि नाटक में पताका का होना आवश्यक नहीं है; तथापि जहाँ पताका होगी, वहाँ तो अवस्था के पर्व के साथ प्राप्त्याशा के योग से गर्भ सन्धि हो जायगी। किन्तु जब पताका नहीं होगी तब केवल प्राप्त्याशा ही गर्भ सन्धि होगी। इसी प्रकार और भी सन्धियों की जानना चाहिए।

सन्धि का सामान्य लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि—

[कथा के अंशों का] एक प्रयोजन से सम्बन्ध होने पर उनका ही जब किसी एक अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध हो जाता है तो वही 'सन्धि' कहलाती है ॥२३॥

एक प्रयोजन से अन्वित कथा का दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाना ही 'सन्धि' कहलाता है।

परिष्कार—यद्यपि रूपकों में प्रधानतया मुख आदि पाँच ही सन्धियाँ हुआ करती हैं; तथापि सामान्यतः सम्पूर्ण इतिवृत्त में जाने वाली सन्धि विशेष का ज्ञान सन्धि में किया जाता है। इसीलिए सम्प्रति सन्धि का सामान्य लक्षण [जो सम्पूर्ण इतिवृत्त में लागू हो] बतलाया गया है। विशेष लक्षण तो ऊपर कहा ही जा चुका था।

तो फिर ये सन्धियाँ कौन-कौन सी हैं?

१. मुख; २. प्रतिमुख; ३. गर्भ; ४. सावमर्श; और ५. उपसंहृति [या उपसंहार]।

नामोल्लेख के ही क्रम से [इन सन्धियों का] लक्षण बतलाते हैं—

१. मुख-सन्धि—

नाना प्रकार के प्रयोजन और रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति [नाटक में

---

१. 'संश्रया' इति वा पाठः ।

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

बीजानां समुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसंधिरिति व्याख्येयम् । तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति । अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति ॥

तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

जहाँ पर होती है वहाँ] मुख-सन्धि होती है । **बीज और आरम्भ के समन्वित होने से इस मुख-सन्धि के बारह अंग होते हैं** ॥२४–२५॥

[रूपक में] बीजों की उत्पत्ति ही अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस की निष्पत्ति का कारण है; और यही मुखसन्धि है—इस प्रकार कारिका की व्याख्या करनी चाहिए । क्योंकि इस प्रकार व्याख्या न करने से [रूपक के अन्य प्रकार] प्रहसन आदि में जिनका फल त्रिवर्ग [=धर्म, अर्थ, काम] नहीं है, वहाँ भी रस की उत्पत्ति का हेतु बीज ही होगा । इस मुख-सन्धि के बीज, आरम्भ एवं प्रयोजन से समन्वित बारह अंग होते हैं ।

परिष्कार—कारिका में नानाविध अर्थ एवं रस से मुख सन्धि की प्रयोजकता कही गई है । किन्तु नाटक में अव्यास होने से यह कथन ठीक नहीं है । इसीलिए इस कारिका की व्याख्या नानाविध [अर्थ अर्थात्] प्रयोजन का एवं रस का हेतु मुख सन्धि है—ऐसी करनी चाहिए । क्योंकि मुख सन्धि का प्रयोजकत्व कथन रस मात्र में ही है । किसी एक रस में नहीं । इसीलिए वृत्तिकार धनिक तथा संधि लक्षण की व्यापकता के लिए 'तेन' से परिष्कार प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् इस प्रकार के व्याख्यान से अर्थ अर्थात् त्रिवर्ग से शून्य प्रहसन आदि में भी मुख सन्धि का लक्षण व्यास कर जायगा । क्योंकि मुख और निर्बहण [=उपसंहार] सन्धि से शून्य तो कोई भी इतिवृत्त नहीं होता ।

उन्हीं [अंगों] को बतलाते हैं—

१. उपक्षेप ; २. परिकर ; ३. परिन्यास ; ४. विलोभन ; ५. युक्ति ; ६. प्राप्ति ; ७. समाधान ; ८. विधान ; ९. परिभावना ; १०. उद्भेद ; ११. भेद ; और १२. करण—मुख-संधि के द्वादश भेदों की] यह **अन्वर्थ संज्ञा है** [अतः अर्थ न बतलाकर] **अब आगे लक्षण कहते हैं** ॥२५–२६॥

इन भेदों का परिचय यद्यपि इनकी संज्ञाओं से ही व्याख्यात है ; फिर भी आसानी से समझ में आ जाने के लिए ही लक्षण किया जा रहा है—

बीजन्यास उपक्षेपः—

यथा रत्नावल्याम् [१.६]—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः ॥

परिकरमाह—

—तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।

यथा तत्रैव [पृ० १४]—'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम् ।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः ।' [पृ० १५] इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात् परिकरः ।

---

१. उपक्षेप—

बीज का न्यास [अर्थात् शब्दों से उनकी उपस्थिति करा देना ही] 'उपक्षेप' है ।

परिष्कार—उप अर्थात् समीप में क्षेप अर्थात् निक्षेप [=रखना या उपस्थित करना] । किसान अनाज रूप फल की इच्छा से भूमि में बीज का निक्षेप करता है । कवि भी कार्यरूप फल के हेतुभूत बीज का निक्षेप नाटक के प्राथमिक अंश में कर देता है । यही उपक्षेप है ।

जैसे रत्नावली [१.६] में [मंच पर प्रवेश करने के पहले ही] नेपथ्य में [यौगन्धरायण अपने कार्य को बीज रूप में डाल देता है]—

'यदि प्रारब्ध अनुकूल हो तो अभीष्ट [वस्तु] को दूसरे द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, अथवा दिशाओं के अन्त [=छोर] से भी लाकर एकाएक मिला देता है ।'

इत्यादि कथन के द्वारा नाटक में यौगन्धरायण के द्वारा वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति के लिए अनुकूल दैव और अपने व्यापार [अर्थात् उद्योग] का कथन बीज रूप में रखा गया है—यही 'उपक्षेप' है ।

२. परिकर [नामक मुख-सन्धि के द्वितीय अंग का लक्षण] कहते हैं—

उस [बीज] की वृद्धि को 'परिक्रिया' या 'परिकर' कहते हैं ।

जैसे वहीं [रत्नावली पृ० १४ में] 'द्वीपादन्यस्मात्' इसके आगे यौगन्धरायण का यह कथन "यदि ऐसी बात न होती तो फिर भला सिद्धों के वचन पर विश्वास करके उदयन के लिये माँगी गई सिंहलेश्वर की कन्या का समुद्र में नौका के भग्न हो जाने पर डूबते समय बहता हुआ काठ का टुकड़ा आत्मरक्षा के लिए कैसे प्राप्त हो जाता ?" यहाँ से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति सब तरह से हो रही है'—यहाँ तक बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार से प्रदर्शित करने के कारण यहाँ 'परिकर' है ।

परिन्यासमाह—

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो—

यथा तत्रैव [रत्ना० १·७]—

'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥'

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ॥

विलोभनमाह—

—गुणाख्यानं[1] विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नावल्याम् [१·२३]—

'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानी समये समं नृपजनः सायंतने संपतन् ।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥'

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुराग-

---

३. **परिन्यास** [नामक मुखसन्धि के तृतीय अंग का लक्षण] कहते हैं—

उस बीज न्यास की निष्पत्ति अर्थात् परिक्रिया की सिद्धि अथवा उसका निश्चित रूप से प्रकट होना ही 'परिन्यास' है ।

जैसे वहीं [रत्नावली में ही]—'स्वामी के अभ्युदय के लिए जो कार्यारम्भ किया गया है; उसमें भाग्य ने भी इस प्रकार सहायता की है कि उसकी सिद्धि में सन्देह नहीं है—यह बात सत्य है । तथापि अपनी इच्छा से कार्य करने वाला मैं स्वामी से डर ही रहा हूँ ।' इस श्लोक के द्वारा यौगन्धरायण ने दैवयोग से अपने उद्योग की सफलता बतलायी है अतः 'परिन्यास' [नामक मुखाङ्ग यहाँ प्राप्त] है ।

४. **विलोभन** [नामक मुखसन्धि के चतुर्थ अंग का लक्षण] कहते हैं—

गुण-कथन को 'विलोभन' कहते हैं ॥२७॥

जैसे 'रत्नावली' में वैतालिक की उक्ति इस प्रकार है—'अपनी समस्त प्रभा को अस्ताचल की चोटी पर बिखेर देने पर जब सूर्य आकाश को पार कर गए तब उस सन्ध्या काल में एक साथ सभा मण्डप में आना हुआ । यह नृप समुदाय, कमलों की कान्ति को छीन लेने वाले एवं चन्द्रमा के समान, आखों की प्रीति को बढ़ाने वाले आप महाराज उदयन के चरणों की सेवा करने के लिए, ऊपर की ओर मानो दृष्टि लगाये हुए देख रहा है ।'

इस प्रकार 'रत्नावली' नाटिका में वैतालिक [चारण] के द्वारा चन्द्रसदृश वत्सराज के गुण वर्णन से सागरिका का विलोभन [अर्थात् आकर्षण] किया गया है जो

---

१. 'गुणाख्यानादि' इति वा पाठः ।

बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद् विलोभनमिति ॥

यथा च वेणीसंहारे [१·२२]—

'मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ।''

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' [१·४२] इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद् विलोभनमिति ॥

अथ युक्तिः—

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १६]—'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम् । कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह

रत्नावली एवं उदयन के समागम के हेतुभूत सागरिका के अनुरागरूपी बीज का जनक है; अतः यहाँ 'विलोभन' है ।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' नाटक में [रणदुन्दुभि की ध्वनि सुनकर भीम इस प्रकार द्रौपदी से कहते हैं कि]—'हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के सदृश यह दुन्दुभी किसके द्वारा बजायी जा रही है ? इस दुन्दुभी की आवाज मन्थन दण्ड से प्रक्षिप्त [क्षुब्ध] समुद्र के जल से भरी हुई गुफा वाले, घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर है; एवं कोणाघात [अर्थात् हजारों नगाड़ों पर एक साथ प्रहार] होने पर गरजती हुई प्रलयकालीन मेघ की घनघोर घटाओं की परस्पर टकराहट के समान भयङ्कर है; द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत एवं कुरुवंश के विनाश के सूचक प्रचण्ड वायु के समान है ।'

यहाँ से आरम्भ करके 'यशोदुन्दुभि' [१·२४] यश की दुन्दुभि बार-बार बज रही है'—यहाँ तक का अंश द्रौपदी के लुभाने के प्रयत्न के कारण 'विलोभन' है ।

परिष्कार—यहाँ वैतालिक ने चन्द्र के समान वत्सराज के गुणों का वर्णन किया है; जिसको सुनकर सागरिका के चित्त में अनुराग का बीजारोपण हो गया है । यह अनुराग समागम का हेतु है । इस प्रकार अनुराग रूप बीज के अनुकूल ही सागरिका को वत्सराज के गुणों के प्रति लोभ दिलाया गया है । अतएव यह 'विलोभन' नामक मुखाङ्ग है ।

५. अब **युक्ति** [नामक मुख-सन्धि के पञ्चम अंग का लक्षण कहते हैं]—

अर्थों का अर्थात् पात्र के अभीष्ट प्रयोजनों का अवधारण अथवा समर्थन जहाँ हो वहाँ 'युक्ति' [नामक मुख-सन्धि का अंग होता] है ॥

जैसे 'रत्नावली' में [यौगन्धरायण कह रहे हैं]—'मैंने भी बहुत अधिक आदर के साथ देवी वासवदत्ता के हाथ में धरोहर के रूप में सौंपकर उचित ही किया है । सुना जाता है कि बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी भी वसुभूति नामक सिंहलेश्वर के मन्त्री के साथ

कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटितः ।' इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद् युक्तिरिति ॥

अथ प्राप्तिः—

—प्राप्तिः सुखागमः ।

यथा वेणीसंहारे [पृ० २३]—'चेटी—भट्टिणि ! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीअदि (भर्त्रि' परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते ।) इत्युपक्रमे—भीमः [वेणी० १.१५]—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

से किसी न किसी प्रकार समुद्र को पार करके कोशल नरेश के उच्छेद के लिए गए हुए रुमण्वान् से जा मिला है ।' इसके द्वारा अतःपुर में निवास करने वाली सागरिका से वत्सराज का सुखपूर्वक दर्शन आदि कार्य हो सकेगा तथा बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के अमात्य का अपने नायक के साथ मिलन हो सकेगा; इस बात का निश्चय हो जाने से यहाँ 'युक्ति' है ।

परिष्कार—यहाँ पर वास्तविक प्रयोजन है—१. उदयन और रत्नावली में प्रेम उत्पन्न करना; और यह तभी सम्भव है, जब कि रत्नावली और राजा का परस्पर साक्षात्कार हो जाय और राजा को यह भी ज्ञात हो जाय कि रत्नावली सिंहलेश्वर की पुत्री है । सिंहलेश्वर ने विवाह के लिए उदयन के पास उसको भेजा भी है; क्योंकि अन्तःपुर में रहने पर राजा और रत्नावली का साक्षात्कार इत्यादि सुगमतापूर्वक हो सकता है । २. उदयन के कञ्चुकी बाभ्रव्य एवं सिंहलेश्वर के मन्त्री वसुभूति के मिल जाने से यह भी सम्भव हो गया है कि सिंहलेश्वर तथा उदयन में सम्पर्क स्थापित हो जाय । इस प्रकार दो प्रयोजन का संप्रधारण [=अवधारण या निश्चय] होने से यहाँ युक्ति है ।

६. अब प्राप्ति [नामक मुख-सन्धि के छठवें अंग का लक्षण कहते हैं]—

सुख के आगमन को प्राप्ति कहते हैं अर्थात् नायक अथवा नायिका को सुख की प्राप्ति जब हो तब वह 'प्राप्ति' [नामक मुख-सन्धि का अंग होता] है ।

जैसे 'वेणीसंहार' में चेरी [द्रौपदी से कहती है]—हे स्वामिनि ! कुमार [भीमसेन] कुपित से दिखाई पड़ते हैं । इसी प्रसंग में आगे भीमसेन की उक्ति इस प्रकार है—यदि आप [सहदेव आदि के राजा युधिष्ठिर] किसी शर्त पर कौरवों से सन्धि भी कर लें तो क्या मैं संग्राम में क्रोध से सौ कौरवों का मर्दन नहीं कर डालूँगा ? अथवा दुःशासन की छाती का रक्त पीना छोड़ दूँगा ? या गदा से दुर्योधन की जंघाओं को चूर्ण नहीं करूँगा [अर्थात् युधिष्ठिर भले ही कौरवों के साथ सन्धि कर लें पर मैंने तो

द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) 'णाध ! अस्सुदपुव्वं खु एदं वअणं। ता पुणो पुणो भण' (नाथ ! अश्रुतपूर्व खल्वेतद्वचनम् । तत्पुनः पुनर्भण)। इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति।

यथा च रत्नावल्याम् [पृ० ४९]—'सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा। ता परप्पेसण दूसिदं वि मे जीविदं एदस्स दंसणेण बहुमदं संजादम् ।' [कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्] इति सागरिकायाः सुखागमात् प्राप्तिरिति।।

अथ समाधानम्—

बीजागमः समाधानम्

यथा रत्नावल्याम्—[पृ० ४०] 'वासवदत्ता—तेण हि उअणेहि मे पुआणिमित्ताइं उवअरणाइम् । (तेन ह्यु पनय मे पूजानिमित्तानि उपकरणानि।') सागरिका—भट्टिणि ! एदं सव्वं सज्जम् । ('भर्त्रि ! एतत्सर्व सज्जम् !') वासवदत्ता—(निरूप्यात्मगतम्) अहो

जो कुछ प्रतिज्ञा कर ली है उसको पूरा ही करूँगा। सन्धि के कारण अपनी प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ूंगा)।

द्रौपदी—(सुनकर सहर्ष) हे नाथ, [इस प्रकार का आनन्ददायक] वचन मैंने पहले कभी नहीं सुना था अतएव इसे पुनः पुनः कहे।

यहाँ पर भीमसेन के क्रोध रूप बीज के सम्बन्ध से ही द्रौपदी को [सुख प्राप्त हुआ है। अतः इससे द्रौपदी को] जो सुख प्राप्त हुआ है वही 'प्राप्ति' है।

इसी प्रकार 'रत्नावली' नाटिका में भी 'सागरिका उदयन का नाम सुनकर हर्षपूर्वक फूलकर स्पृहा के साथ देखती हुई कहती है—क्या ये ही महाराज उदयन हैं जिनके लिए पिताजी ने मुझे (यौगन्धरायण को) समर्पित किया था? तब तो दूसरों की चाकरी करने से कलुषित हुआ भी मेरा यह जीवन इनके दर्शन से पवित्र हो गया [आगे सम्मान के योग्य बन गया]।' यहाँ वत्सराज के दर्शन से सागरिका को सुख की प्राप्ति होती है अतः यहाँ प्राप्ति (नामक मुख संधि का अंग) है।

७. **अब समाधान** [नामक मुखसन्धि के सातवें अंग का लक्षण करते हैं]

बीज का आगमन [अर्थात् संक्षेप रूप से उपक्षिप्त बीज का पुनः अधिक स्पष्ट रूप से उपादान] 'समाधान' [अर्थात् सम्यक् रूप से आधान] कहलाता है।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में **'वासवदत्ता'**—[यही तो वह लाल अशोक है। तो फिर मेरी पूजा की सामग्री लाओ।

सागरिका—महारानी ! ये सारी वस्तुएँ सुसज्जित हैं।

वासवदत्ता—(देखकर, अपने आप सोचती है) देखो न, नौकर-चाकरों की लापरवाही। जिसकी आँखों से बचाए रखने का मैंने सदा सावधनीपूर्वक यत्न किया है,

पमादो परिअणस्स । जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कहं दिठ्ठिगोअरं आअदा । भोदु । एव्वं दाव । (प्रकाशम्) हञ्जे सागरिए ! कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा । ता तहिं ज्जेव गच्छ ।' ['अहो प्रमादः परिजनस्य । यस्यैव दर्शनपथात् प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता । भवतु । एवं तावत् । चेटि सागरिके ! कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता । तस्मात्तत्रैव गच्छ ।'] इत्युपक्रमे,—'सागरिका—(स्वगतम्) सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा । पेक्खिदुं च मे कूतूहलम् । ता अलक्खिआ पेक्खिस्सम् ।' ['सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता । प्रेक्षितुं च मे कूतूहलम् । तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये ।'] [रत्ना० पृ० ४१] इत्ययेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात् सारिकायाः सुसङ्गतार्पणेनालक्षित प्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात् समाधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—भवतु । पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन—

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥' [वेणी० १.२१]

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम् ॥

आज उसी की दृष्टि में यह [सागरिका] कैसे आ गई ? ख़ैर, तो फिर ऐसा करूँ, [कहती है]—"अरी सागरिके, आज घर के सब लोग जब मदन-महोत्सव में व्यस्त हैं तो फिर तू सारिका को छोड़कर यहाँ क्यों आ गई ? तू जल्दी वहाँ जा, और पूजा की सामग्री कंचनमाला को दे दे ।" यहाँ से लेकर "सागरिका—(अपने-आप कुछ चलकर)"सारिका को तो मैंने सुसंगता को सौंप ही दिया है, मेरे मन में मदन-महोत्सव देखने की लालसा है । सो, मैं यहीं छिपकर देखती हूँ ।"

यहाँ वासवदत्ता, रत्नावली तथा वत्सराज के परस्पर दर्शन का प्रतीकार करती है; तथा सागरिका मैना को सुसंगता के हाथों सौंपकर एवं छिपकर उसे [=राजा को] देखती है । यहाँ रत्नावली [सागरिका] की इस चेष्टा में वत्सराजसमागम के हेतुरूप बीज का उपादान किया गया है । अतः यहाँ 'समाधान' [नामक मुखांग] है ।

और जैसे 'वेणीसंहार' में—भीम कहते हैं—अच्छा, पांचालराज पुत्रि ! सुनिये । थोड़े ही समय में—हे देवि ! अपनी चंचल भुजाओं से घुमाई हुई भयंकर गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दुर्योधन की दोनों जंघाओं के गाढ़े जमे हुए प्रचुर रक्त से रंगे हुए हाथों से ही यह भीम तुम्हारे बालों को संवारेगा ।

इस कथन से यहाँ पर वेणीसंहार [संवारना] का कारण जो क्रोध-रूपी बीज है उसका फिर से रखना 'समाधान' है ।

अथ विधानम्—

—विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधवः—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ [मालती० १.३२]

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव-
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥' [मालती० १.२२]

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःखकारित्वाद् विधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—णाध ! पुणोवि तुम्मेहिं अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा ।' ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या ।') भीमः—'ननु पाञ्चालराज-

---

८. अब विधान [नामक मुख-सन्धि के आठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

कथा वस्तु का जो सन्दर्भ सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला होता है । उसे 'विधान' कहते हैं ॥ २८ ॥

जैसे 'मालतीमाधव' के प्रथम अंक में 'माधव की उक्ति है—झुके हुए नाल [= वृन्त] वाले कमल के सदृश बार-बार कुछ टेढ़ी ग्रीवा वाले मुख को धारण करती हुई प्रशस्त रोमावलियों से युक्त नेत्रों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में बुझा हुआ कटाक्ष रूपी बाण मानो मेरे हृदय में बड़ी गहराई से गाड़ दिया है ।

[माधव—(मन ही मन कहता है) जो मेरा हृदय मालती की उपस्थिति में] विस्मय से कुण्ठित, अन्य समस्त भावों से शून्य, अमृत में डुबकी लगाने से आनन्द-निमग्न-सा हो रहा था, वही मेरा हृदय इस समय [मालती के वियोग काल में] अङ्गारों से जला हुआ सा वेदना मय हो रहा है ।'

यहाँ पर मालती का अवलोकन और [माधव का उसके प्रति] अनुराग [मालती तथा माधव के] समागम रूप बीज का हेतु है । वह [अवलोकन और अनुराग रूप हेतु] बीज के गुणों के अनुकूल होकर ही सुख-दुःख को उत्पन्न कर रहा है; अतएव यहाँ 'विधान' [नामक मुखसन्धि का अंग] है ।

अथवा 'वेणीसंहार में भी—'द्रौपदी कहती है कि [संग्राम से लौटकर] 'नाथ ! आप क्या फिर भी आकर हमें इसी प्रकार आश्वासन देंगे ?

तनये ! किमद्याप्यलीकाश्वासनया ।'

'भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधूरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥' [वेणी० १.२६]

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद् विधानमिति ॥

अथ परिभावना—

परिभावोऽद्भुतावेशः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ४६]—'सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदिता । ता अंहपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पूजइस्सम् । ['कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीक्षते । तत् अहमपीहास्थितैवैनं पूजयिष्यामि ।'] इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्लवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरवादद्भुतरसावेशः परिभावना ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३९]—द्रौपदी—किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि ।' (किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे

भीम—हे पांचालराजपुत्रि ! अब झूठे आश्वासन से क्या लाभ ?

'तिरस्कार सहन करने की लज्जा के कारण मलिन मुख भीम को तुम अब कौरवों का नाश किए बिना दुबारा नहीं देखोगी अर्थात् अब मैं कौरवों का समूल विनाश करने के बाद ही दुबारा तुम्हारे पास आऊंगा । उससे पहले नहीं ।'

यहाँ संग्राम सुख और दुःख दोनों को उत्पन्न करने वाला होने से 'विधान' [नामक मुखसन्धि का अंग] है ।

९. अब **परिभावना** [नामक मुखसन्धि के नौवें अंग का लक्षण करते हैं]—

आश्चर्यजनक घटना को देखकर विस्मयान्वित होना 'परिभावना' है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'सागरिका—[मदन पूजा में उदयन को] (आश्चर्य के साथ देखकर) क्या प्रत्यक्ष ही कामदेव पूजा ग्रहण कर रहे हैं ? तो मैं भी यहाँ खड़ी रहकर ही इनकी पूजा करूंगी ।''

इस प्रकार यहाँ पर वत्सराज उदयन को कामदेव बनाकर उनकी अपनी वास्तविकता को छिपाया जाने से और प्रत्यक्ष रूप से कामदेव का पूजा ग्रहण करने के लोकोत्तर कार्य से उत्पन्न अद्भुतरस का आवेश ही 'परिभावना' है ।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में—द्रौपदी—नाथ ! इस समय भीषण निर्घोष के कारण असह्य, प्रलयकालीन मेघ की गड़गड़ाहट के समान आवाज करने वाली यह दुन्दुभी प्रतिक्षण क्यों बजाई जा रही है ?—इस प्रकार यहाँ पर लोकोत्तर समर-दुन्दुभि की ध्वनि से द्रौपदी का विस्मययुक्त रस के आवेश में होना 'परिभावना' है ।

क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते') इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्याः परिभावना ॥

अथोद्भेदः—

—उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तपास्त' [१.२३] इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३७] 'आर्य ! किमिदानीमध्यवस्ति गुरुः ।' इत्युपक्रमे (नेपथ्ये)—

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्न मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्ति कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥ [वेणी १.२४]

भीमः—(श्रुत्वा सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः ।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदः ॥

---

१०. अब **उद्भेद** [नामक मुखसन्धि के दसवें अंग का लक्षण करते हैं]—

गुप्त बात का प्रकट कर देना ही 'उद्भेद' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में कामदेव के व्याज से छिपे हुए वत्सराज उदयन को 'अस्तापास्त' इत्यादि से आरम्भ कर 'उदयनस्य' इस वचन के द्वारा बीज के अनुकूल ही [उदयन को] प्रकट कर दिया गया है । अतः यहाँ उद्भेद नामक मुखसन्धि का अङ्ग है ।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में [भीम की उक्ति इस प्रकार है]—आर्य ! अब महाराज [= ज्येष्ठ भाई युधिष्ठिर] क्या करना चाहते हैं ? ऐसा उपक्रम होने पर नेपथ्य से आवाज आती है—[बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास का जो व्रत हम पाण्डवों ने लिया है वह कहीं भङ्ग न हो जाय इस प्रकार] सत्यव्रत के भङ्ग से डरने वाले [युधिष्ठिर] ने [अब तक अपनी] जिस [क्रोधाग्नि] को यत्नपूर्वक दबाए रखा था और शान्तस्वभाव वाले [युधिष्ठिर] ने कुल की शान्ति की कामना से जिसको भूलने का यत्न किया, द्यूत की अरणियों से उत्पन्न और द्रौपदी के केश तथा वस्त्रों के खींचे जाने से युधिष्ठिर की वह भयानक क्रोधाग्नि आज कुरुकुल रूप वन में [उसको भस्म कर देने के लिए] प्रदीप्त हो रही है । भीमसेन—(सुनकर प्रसन्नतापूर्वक) 'आर्य ! प्रदीप्त हो, खूब प्रदीप्त हो आर्य की क्रोध की लपट; इस समय कहीं भी न रुके ।'

यहाँ पर द्रौपदी के केश-संयमन के कारण उत्पन्न हुआ युधिष्ठिर का प्रच्छन्न कोप उद्भिन्न हो गया है । इसीलिए यहाँ पर 'उद्भेद' [नामक मुखसन्धि का अंग] है ।

अथ करणम्—

करणं प्रकृतारम्भो—

यथा रत्नावल्याम्[पृ० ४६]—'णमो दे कुसुमाउह ! ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति दिट्ठं जं पेक्खिदव्वं । ता जाव ण को वि मं पेक्खइ ता गमिस्सम् ।' [नमस्ते कुसुमायुध ! तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति । दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यम् । तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद् गमिष्यामि ।] इत्यनेनान्तराङ्कप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात् करणम् ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ४०]—'तत्पाञ्चालि ! गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय । सहदेव—आर्य ! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् ।' इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् करणमिति । सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति ॥

अथ भेदः—

—भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २९ ॥

---

११. अब **करण** [नामक मुखसन्धि के ग्यारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

प्रस्तुत [कार्य] के प्रारम्भ कर देने को 'करण' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में सागरिका—'हे कामदेव ! तुम्हें प्रणाम है । तुम्हारा दर्शन मेरे लिए व्यर्थ न होवे । जो कुछ मुझे देखना था वह देख लिया । जब तक मुझे और कोई [इस रूप में] देख न ले उसके पहले ही मैं यहाँ से चली जाऊँ ।' इस कथन के द्वारा भावी अंक में वर्णित [सागरिका और उदयन के] निर्विघ्न दर्शन का आरम्भ किया गया है । अतः यहाँ 'करण' [नामक मुखसन्ध्यङ्ग] है ।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में [भीम की उक्ति इस प्रकार है]—'हे पांचालि ! तो हम-लोग अब कुरुवंश के नाश के लिए जा रहे हैं । **सहदेव**—आर्य ! अब हमलोग गुरुजनों की अनुमति लेकर पराक्रम के अनुरूप कार्य करने के लिए जा रहे हैं ।' इस कथन के द्वारा भावी [द्वितीय] अंक में प्रस्तुत होने वाले संग्राम का आरम्भ किया गया है । अतः यहाँ करण [नामक मुखसन्ध्यङ्ग] है । प्रस्तुत सन्दर्भ में उद्देश्य एवं प्रतिनिर्देश [अर्थात् उद्देश्य विधेय-भाव] का क्रम परिवर्तित हो गया है क्योंकि सर्वत्र क्रिया का क्रम विवक्षित नहीं होता है ।

परिष्कार—वस्तुतः वाक्य में उद्देश्य पहले होता है और विधेय बाद में । प्रस्तुत वाक्य में 'गच्छामः' क्रिया पहले आ गई है । वृत्तिकार के अनुसार 'कुरुकुलक्षयाय' पर बल देने के लिए ऐसा किया गया है ।

१२. अब **भेद** [नामक मुखसन्धि के बारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

[बीज के ही अनुरूप] प्रोत्साहन देने को 'भेदन' माना गया है ॥ २९ ॥

जैसे 'वेणीसंहार' में [युद्ध में अनिष्ट की आशङ्का से] द्रौपदी [भीम को शरीर की चिन्ता छोड़कर पराक्रम दिखलाने के लिए इस प्रकार मना करती है]—

यथा वेणीसंहारे [१.२७]—द्रौपदी—'णाध ! मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध । जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति रिउबलाईम् । ('नाथ ! मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ । यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।') भीमः— अयि सुक्षत्रिये !

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥'

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ॥

एतानि च द्वादश मुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति ॥

द्रौपदी—हे नाथ ! याज्ञसेनी [=द्रौपदी] के अपमान से उदीप्त क्रोध वाले होकर कहीं अपनी शरीर [की रक्षा की] ओर से असावधान होकर युद्धभूमि में न घूमना । क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि—शत्रु सेना में सावधान होकर ही सञ्चरण करना चाहिए ।

भीम—हे सुक्षत्रिये !

एक दूसरे के साथ संघर्ष में कटे हुए और हाथियों के रुधिर एवं वसा [=चर्बी] से भरे हुए सिरों की कीचड़ में डूबे हुए रथों के ऊपर होकर पदाति सैनिक जिसमें पराक्रम दिखला रहे हैं, गरम-गरम रुधिर के पान की गोष्ठी में शृगाल तथा शृगालियों की अमङ्गल-ध्वनि का वाद्य [=तूर्य] जिसमें बज रहा है, और [कबन्ध अर्थात् सिर कटे हुए] रुण्ड जिसमें नाच रहे हैं इस प्रकार के अनोखे संग्राम-सागर के जल के भीतर घुसकर विचरण करने में पाण्डव लोग निपुण हैं । [इसलिए इस विषय में तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो] ।

इस कथन से विषण्ण-मन वाली द्रौपदी को क्रोध एव उत्साह के बीज के अनुरूप ही प्रोत्साहन किए जाने से यह भेद [नामक मुखसन्ध्यङ्ग] है ।

ये मुखसन्धि के बारह अंग बीज [नामक अर्थप्रकृति] तथा आरम्भ [नामक कोर्यावस्था] के द्योतक होते हैं । इनका विधान साक्षात् अथवा परम्परया भी हो सकता है । [किसी भी नाटक में यदि सभी उपरोक्त अंगों का विधान न हो सके तो भी] इनमें से उपक्षेय, परिकर, परिन्यास, युक्ति उद्भेद और समाधान का तो विधान अवश्यंभावी है ।

परिष्कार—'बीजारम्भ द्योतकानि' पद का अर्थ इस प्रकार है—बीज और आरम्भ के संयोग के परिणामस्वरूप मुखसन्धि होती है; और उपक्षेप, परिकर इत्यादि तो मुख-सन्धि के अंग है । अतः नाटक में जहाँ इनकी सत्ता हो वहाँ यही समझना चहिए कि यहाँ बीज और आरम्भ के परिणामस्वरूप ही मुखसन्ध्यंग है ।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसंधिमाह—

[1]लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः = प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति ।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णादिवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।

'सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥' [वेणी० २.५]

इत्यादिभिः—

२. प्रतिमुख-सन्धि और उसके विभाग—

अब इसके आगे [तेरह] अंगों के सहित प्रतिमुख-सन्धि [का लक्षण] बतलाते हैं—

प्रतिमुख सन्धि वहाँ होती है जहाँ बीज का कुछ लक्ष्यरूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकाशन हो । बिन्दु [नामक अर्थ प्रकृति] एवं प्रयत्न नामक कार्यावस्था के संयोग से इसके तेरह अंग होते हैं ॥ ३० ॥

उस बीज का कुछ दिखाई पड़ना और कुछ न दिखाई पड़ना और इसी स्थिति में उसका प्रस्फुटित होकर प्रकाश में आ जाना 'प्रतिमुख' कहलाता है । जैसे 'रत्नावली' नाटिका के द्वितीय अङ्क में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इनके पारस्परिक अनुराग को, जो प्रथम अंक में बताया जा चुका था, सुसङ्गता और विदूषक द्वारा विदित हो जाने से किंचित् लक्ष्य होकर प्रकाशित और फिर वासवदत्ता द्वारा चित्र को [देखकर इस रहस्य को जान लेने से एवं उनके द्वारा प्रेम व्यापार में बाधा पहुँचने की सम्भावना] के वृत्तान्त से किंचित् अलक्ष्य है । इस प्रकार दृश्य को अदृश्य रूप में अनुराग रूपी बीज का उद्भिन्न [=प्रकाशित] होना ही 'प्रतिमुख-सन्धि' है ।

'वेणीसंहार' के द्वितीय अङ्क में भी भीष्मादि के वध से विजय-प्राप्ति के लिए क्रोध-रूप जो बीज का उद्भेद है, उसका किंचित् दर्शन होता है । और कर्ण आदि योद्धाओं का वध न होने से किंचित् अदर्शन भी होता है । [इस क्रोध रूपी बीज का उद्भेद इस प्रकार हुआ है]—

पाण्डु पुत्र अपने पराक्रम से शीघ्र ही नौकरों-चाकरों के समूह के सहित, बान्धवों-सहित, मित्रों-सहित, पुत्रों के सहित और छोटे भाइयों के सहित दुर्योधन को युद्ध भूमि में मार डालेंगे ।' इत्यादि कथन [से बीज का उद्भेद परिलक्षित है] ।

१. 'लक्ष्याऽलक्ष्य इवोद्भेदः' इति वा पाठः ।

'दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥' [वेणी० २.२७]

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसंधिरिति ॥

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति । तान्याह—

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं[1] निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

[इत्यादि से लेकर दुर्योधन के अपनी पत्नी के साथ किए गए वार्तालाप पर्यन्त प्रतिमुखसन्धि है । दुर्योधन भानुमति से इस प्रकार कहता है]—युद्ध भूमि में दुःशासन का हृदय विदीर्णकर रूधिर रूपी जल पीने के लिए और गदा से दुर्योधन की जङ्घाओं को विदीर्ण करने के लिए जिस प्रकार तेजस्वी पाण्डवों ने प्रतिज्ञा कर ली थी उसी प्रकार जयद्रथ वध के लिए की गई उनकी प्रतिज्ञा को भी समझना चाहिए [अर्थात् पाण्डवों के द्वारा जैसे पहले की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी, वैसे ही उनकी जयद्रथ-वध की भी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पाएगी] । इत्यादि कथनों के द्वारा क्रोध रूपी बीज के उद्भिन्न होने के कारण 'प्रतिमुखसन्धि' है ।

पूर्व के अंकों में संकेतित बिन्दु रूप बीज और प्रयत्न रूप कार्यावस्था के अनुगम [=संयोग] से प्रतिमुख-सन्धि के तेरह अंग होते हैं । [संक्षेप में आशय यह है कि जब प्राथमिक अंक में बीज के उपक्षेप के बाद जब कथाभाग विछिन्न होने लगता है तभी उसे गति प्रदान करने के लिए दूसरे बीज का जो उल्लेख होता है इसे बिन्दु कहते हैं । इसी बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति का आश्रय लेकर प्रयत्न के संयोग के साथ प्रतिमुख सन्धि की प्रवृत्ति होती है] । उन्हीं का नाम निर्देश निम्न कारिका में किया गया है—

१. विलास ; २. परिसर्प ; ३. **विधूत** ; ४. **शम** ; **५. नर्म** ; ६. **नर्मद्युति** ; **७ प्रगमन** ; ८. निरोध ; ९. **पर्युपासन** ; १०. वज्र ; ११. **पुष्प** ; १२. उपन्यास **और १३. वर्णसंहार** ॥ ३१–३२ ॥

नाम निर्देश के ही क्रम से इनका लक्षण बताया जा रहा है—

१. अब विलास [नामक प्रतिमुखसन्धि के प्रथम अंग का लक्षण करते हैं]—

१. 'प्रगयणम्' इति वा पाठः । २. 'रत्युत्थेहा' इति वा पाठः ।

रत्यर्थेहा[१] विलासः स्याद्—

यथा रत्नावल्याम्[पृ० ५६]—'सागरिका—हिअअ ! पसीद पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। ['हृदय, प्रसीद प्रसीद। किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन।' इत्युपक्रमे—'तहावि आलेक्खगदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्। तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाउ त्ति' ('तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपायः इति।') [पृ० २६] इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति ॥

अथ परिसर्पः—

—दृष्टानष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्पः—

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु ! वासुदेवसहायेष्वरिष्वद्याप्यन्तःपुरसुखमनुभवति। इदमपरमयथातथं स्वामिनः—

रति के लिए [नायक नायिका के परस्पर सम्मिलन की] इच्छा 'विलास' [नामक सन्ध्यङ्ग कहलाता] है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में, '**सागरिका**—हे हृदय ! प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ। जिसका पाना सहज नहीं है, उसको प्राप्त करने के लिए इतना आग्रह क्यों करते हो?' यहाँ से आरम्भ करके '[यद्यपि भय से मेरा हाथ काँपता है] तो भी उनका जैसे-तैसे चित्राङ्कन कर मनोवाञ्छा चरितार्थ करूँ; इसके अलावा उनके दर्शन के लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है।' यहाँ पर वत्सराज के समागम के लिए चित्राङ्कन में जो सागरिका द्वारा चेष्टा आदि प्रयत्न किया गया है वह अनुराग रूपी बीज के अनुकूल होने के कारण 'विलास' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

२. अब परिसर्प [नामक प्रतिमुख-सन्धि के दूसरे अंग का लक्षण कहते हैं]—

दृष्ट किन्तु नष्ट [अर्थात् पहले विद्यमान किन्तु बाद में नष्ट हुई] वस्तु का पुनः अनुसंधान 'परिसर्प' है ॥ ३२ ॥

जैसे 'वेणीसंहार' में—"कञ्चुकी—[आप स्त्री होकर भी धन्य हैं किन्तु महाराज नहीं, क्योंकि इनके शत्रु पाण्डव तो सिर पर सवार हैं] चाहे वो प्रबल हों अथवा निर्बल किन्तु हैं तो शत्रु ही; इस पर भी इनकी सहायता भगवान् वासुदेव कर रहे हैं। ऐसी गम्भीर स्थिति में भी महाराज रनिवास के सुख को ही भोग रहे हैं। और भी अनुचित कार्य है जो महाराज कर रहे हैं; क्योंकि—

१. 'रत्युत्थेहा' इति वा पाठः।

'आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥ [वेणी० २.२]

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां वासुदेवसहायानां संग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' [रत्ना० पृ० १३४] इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात् परिसर्प इति ॥

अथ विधूतम्—

—विधूतं स्यादरतिः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ६३] 'सागरिका—सहि ! अहिअं मे संतावो बाधेदि। ('सखि ! अधिकं मे संतापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या

उन्हें इस बात का बिलकुल भी संताप नहीं है कि पाण्डु पुत्रों ने बाणों से उन भीष्मपितामह को भी मृत्युशय्या पर सुला दिया, जिन्होंने शस्त्र ग्रहण के समय से लेकर कभी भी कुण्ठित न होने वाले मुनि परशुराम को भी जीत लिया था। साथ ही असहाय बालक अभिमन्यु, जिसके धनुष को भी शत्रुओं ने काट डाला था और अनेक प्रौढ़ धनुर्धर शत्रुओं पर विजय करने के कारण जो श्रान्त हो चुका था ऐसी दशा में मारे जाने वाले बालक अभिमन्यु के वध पर महाराज प्रसन्न हैं।"

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर भगवान् कृष्ण जिनके स्वयं सहायक हैं ऐसे बलशाली पाण्डवों की विजय भीष्म इत्यादि के वध में दिखलाई पड़ रही है। किन्तु अभिमन्यु के वध से नष्ट हो गई है। इस प्रकार संग्रामरूपी बिन्दु नामक बीज और प्रयत्न नामक अवस्था के अनुगत होने से कञ्चुकी के मुख से कराया गया बीज का अनुसंधान ही 'परिसर्प' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

अथवा जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—सारिका [=मैना] के वचन तथा चित्र दर्शन से सागरिका के अनुराग बीज का क्रम से दृष्ट तथा नष्ट हो जाने पर "कहाँ है वह? कहाँ है वह?" इत्यादि कथन से वत्सराज के द्वारा अनुसंधान किए जाने से यहाँ परिसर्प [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

३. अब **विधूत** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के तीसरे अंग का लक्षण करते हैं]—

सुखप्रद वस्तु में आरति अर्थात् वैराग्य की भावना [=अनास्था] को 'विधूत' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सागरिका के ये वचन—'सखि ! मेरा संताप और भी बढ़ता ही जा रहा है। (सुसंगता तालाब से कमल के पत्ते और मृणालों को लाकर

अङ्के ददाति)। सागरिका—(तानि क्षिपन्ती) सहि! अवणेहि एदाइम्। किं अआरणे अत्ताणं आयासेसि ? णं भणामि [पृ० ६४]—['सखि ! अपनयैतानि। किमकारण आत्मानमायासयसि ? ननु भणामि,—

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम् ॥' [रत्ना० २.१]
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्' ॥)

इत्यनेन सागरिकाया अनुराग बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद् विधूतम् ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ४८-५८] भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजय शङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ॥

अथ शमः—

तच्छमः शमः ।

तस्या अरतेरुपशमः शमः । यथा रत्नावल्याम् [पृ० ८९]—'राजा—वयस्य ! अनया लिखितोहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि ।' इति प्रक्रमे 'सागरिका-(आत्मगतम्) हिअअ ! समस्सस। मणोरहो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो।' [रत्न० पृ० ८९]

सागरिका के अंगों को ढँक देती हैं) सागरिका—(उनको फेंकती हुई) "सखि, हटाओ इन पद्मपत्रों और मृणालों को। इनसे क्या होगा ? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो ? मैं तुझे बताती हूँ—

हे प्रियसखि ! मेरा मन दुर्लभ व्यक्ति [उदयन] के प्रति आसक्त हो गया है। किन्तु शरीर में अपार लज्जा ने घर कर लिया है। अतः मेरी दृष्टि में तो ऐसे विषम प्रेम का निर्वाह करने के लिए मरण ही एक मात्र सहारा है।'

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर अनुराग रूपी बीज के सम्बन्ध से सागरिका की शीतोपचार के प्रति अनास्था [=अरुचि या विधूनन] दिखलाए जाने से 'विधूत' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' [२ अंक] में—दुःस्वप्न देखने के कारण दुर्योधन के अनिष्ट की आशङ्का से अथवा पाण्डवों की विजय की आशङ्का से भानुमति के द्वारा रति में अनास्था से 'विधूत' [नामक प्रतिमुख-सन्ध्यङ्ग] है।

४. अब शम [नामक प्रतिमुख-सन्धि के चौथे अंग का लक्षण करते हैं]—

उस [अरति] के उपशमन को 'शम' कहते हैं।

उस अरति का उपशमन ही 'शम' है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में 'राजा—हे मित्र ! यदि यह सत्य है कि इस रमणी के द्वारा यह चित्राङ्कन किया गया है तो अपने को भाग्यशाली समझने वाला मैं इस चित्रफलक को क्यों न देखूँगा। ऐसा उपक्रम होने

(हृदय ! समाश्वसिहि। मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः)। इति किञ्चिदरत्युपशमात् शम इति ॥

अथ नर्म—

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्[पृ० ९३-९४]—'सुसङ्गता—सहि ! जस्स कए तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठदि।' ['सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति'] सागरिका-(सासूयम्) सुसङ्गदे ! कस्स कए अहं आअदा ? ('सुसङ्गते ! कस्य कृतेऽहमागता ?) सुसङ्गता— अइ अप्पसंकिदे ! णं चित्तफलअस्स। ता गेण्ह एदम्। ['अयि आत्मशङ्किते' ! ननु चित्रफलकस्य। तद् गृहाणैतत्।' इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ६९-७०]—'(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्याः समर्पयति। पुनः) भानुमति—(अर्घं दत्त्वा) हला! उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिअ णिवत्तेमि। ('हेला-उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि।') हस्तौ प्रसारयति। दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति। भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात् पुष्पाणि पतन्ति।') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात् परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ॥

पर-सागरिका-(अपने मन में कह रही है)—हे हृदय ! धैर्य धारण करो; तुम्हारा मनोरथ भी तो इस पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचा था।" इस कथन से सागरिका की अरति का कुछ मात्रा में उपशमन हो जाने से 'शम' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

५. अब नर्म [नामक प्रतिमुख-सन्धि के पाँचवें अंग का लक्षण करते हैं]—

[मनोरंजन के लिए प्रयुक्त] परिहास वचन को 'नर्म' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सुसंगता—[सागरिका से कहती है]—"सखि ! जिसके लिए तुम आई हो, वह यह सामने ही स्थित है। सागरिका—(ईर्ष्या के साथ) 'सुसंगते ! मैं किस लिए आई हूँ ? सुसंगता—अरी, अपने पर शंका करने वाली, चित्रफलक के लिए ही तो आई हो, सो उसे ले लो।" इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ अनुराग रूपी बीज से अन्वित परिहास वचन 'नर्म' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में—"(दुर्योधन चेरी के हाथ से अर्घ्यपात्र लेकर पुनः भानुमती को देता है, इसके बाद) भानुमती—(अर्घ्य देकर) सखि ! पुष्पों को दे दो ताकि और भी देवताओं का पूजन सम्पन्न पर लूँ। (हाथ फैलाती है, दुर्योधन पुष्प देता है, दुर्योधन के स्पर्श से कम्पित भानुमती के हाथ से पुष्प गिर जाते हैं)। इत्यादि वर्णन से दुःस्वप्न-दर्शन की शान्ति के लिए जो देव पूजन किया जा रहा है उसमें विघ्नकारी-परिहास के द्वारा बीज के उद्घाटन से यहाँ प्रतिमुखांग रूप 'नर्म' का मानना युक्त ही है।

परिष्कार—बीजादि अन्वित नर्म अंग होता है, और यहाँ युधिष्ठिर का उत्साह द्रौपदी

अथ नर्मद्युतिः—

—धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा रत्नावल्याम्[पृ० १००]—'सुसङ्गता—सहि, अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमम्, । जा एवं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं न मुञ्चसि (सखि ! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वम्, यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि ।) सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे! दाणिं पि ण विरमसि ।' ('सुसङ्गते ! इदानीमपि न विरमसि !') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ॥

अथ प्रगमनम्—

उत्तरा वाक्य प्रगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्[पृ० ८२]—'विदूषक—भो वअस्स ! दिठ्ठिआ वड्ढसे।('भो वयस्य ! दिष्ट्या वर्धसे ।') राजा–(सकौतुकम्) वयस्य ! किमेतत् ? विदूषकः—भो ! एदं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो । को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिण्हवीअदि । ('भोः ! एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितम् । कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते ।') इत्यादिना ।

के केशासंयमन रूप कार्य का बीज है । अतः भानुमती के दुःस्वप्न के शान्ति-कार्य में पुष्पपात रूप परिहास का बीजादि से सम्बन्ध नहीं है—यह प्रतिमुखसन्ध्यंगत्व अयुक्त है । इसलिए 'अनेन नर्मणा''''युक्तम्' कहा गया है ।

६. अब **नर्मद्युति** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के छठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

उस [नर्म] से उत्पन्न धृति [अर्थात् परिहास से उत्पन्न आनन्द या विकार को छिपाने के लिए धैर्य धारण करना] ही 'नर्मद्युति' मानी गई है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में **सुसंगता**—सखि ! तू बड़ी निष्ठुर है, जो महाराज से इस तरह हाथ से पकड़ी जाकर भी क्रोध नही छोड़ती । **सागरिका**—(भौहें चढ़ाकर और कुछ मुस्कुराकर) सुसंगते ! अब भी चुप नहीं रहती । इस कथन से अनुराग रूपी बीज के प्रकट होने पर परिहास से उत्पन्न [बात को छिपाने के] धैर्य के कारण यहाँ 'नर्मद्युति' दिखलाई गई है ।

७. अब **'प्रगमन'** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के सातवें अंग का लक्षण करते हैं]—

[बीज के अनुकूल] उत्तर-प्रत्युत्तर युक्त वचन को 'प्रगमन' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—"**विदूषक**—हे मित्र ! सौभाग्य से आप बढ़ रहे हैं । **राजा**—(कौतुक से) मित्र यह क्या है ? **विदूषक**—हे मित्र ! यह वह है जो मैने कहा था कि यहाँ पर तुम्हारा ही चित्र बनाया गया है । कामदेव के व्याज से दूसरा कौन छिपाया जा सकता है ?" इत्यादि से ।

'परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमायासि मृणालहार ! ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥' [रत्ना० २.१५]

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति ।

अथ निरोधः—

—हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूर्ख !

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥' [रत्ना० २.१९]

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधात् निरोधनमिति ॥

अथ पर्युपासनम्—

पर्युपास्तिरनुनयः—

यथा रत्नावल्याम्—राजा—

'हे मृणालहार ! तुम उसके स्तनों के बीच से गिर गए हो, इसलिए सूख क्यों रहे हो ? उस [सागरिका] के स्तनों के बीच में तो तुम्हारे सूक्ष्म तन्तु के लिए भी अवकाश नहीं है; फिर तुम्हारे लिए अवसर हो ही कैसे सकता है ?'

इस कथन के द्वारा राजा, विदूषक, सागरिका और सुसंगता के परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर के द्वारा अनुराग रूपी बीज के प्रकट होने से यहाँ पर 'प्रगमन' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है ।

८. अब **निरोध** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के आठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

हित में रुकावट पड़ जाने को 'निरोध' करते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'राजा—अरे मूर्ख ! तुझे धिक्कार है—

मेरे विषय में अनुराग प्रकट करनेवाली, भाग्यवशात् जैसे-तैसे वह सुन्दरी मुझे प्राप्त भी हो गई थी; किन्तु मैं उसे कण्ठ में लगा भी नहीं पाया और तुमने मेरी उस प्रियतमा को कान्तिमान रत्नावली की माला के समान [गले में डालने के पहले ही] मुझसे छुड़ा लिया ।'

इत्यादि कथन के द्वारा वत्सराज का सागरिका-समागम-रूप होने वाले हित का निरोध वासवदत्ता के प्रवेश की सूचना देने वाले विदूषक के वचन से होने के कारण यहाँ 'निरोध' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है ।

९. अब **'पर्युपासन'** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के नौवें अंग का लक्षण करते हैं]—

क्रुद्ध व्यक्ति को खुश करने के लिए अनुनय-विनय करना 'पर्युपासन' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज वासवदत्ता को इस प्रकार मनाते हैं—

'प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥' [रत्ना० २.२०]

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायिकयोर्दर्शनात् कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ॥

अथ पुष्पम्—

—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ९९]—'(राजा सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषकः—भो ! एसा अपुव्वा सिरी तुए समासादिदा । ('भोः ! एषाऽपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता ।') राजा—वयस्य ! सत्यम्—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥ [रत्ना० २.१८]

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात् पुष्पम् ॥

"हे प्रियतमे ! यदि मैं यह कहूँ कि तुम प्रसन्न हो जाओ तो क्रोध के न होने पर यह बात युक्तिसंगत नहीं बैठती । यदि मैं कहूँ कि 'फिर मैं ऐसा नहीं करूँगा, तो यह अपने अपराध का स्वयं ही स्वीकार कर लेना होगा । यदि मैं कहूँ कि 'मेरा दोष नहीं है' तो तुम इसे झूठ मानोगी । अतः 'इस समय क्या कहना चाहिए' यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ ।"

इत्यादि कथन से यहाँ पर नायक एवं नायिका [=उदयन और सागरिका] को एक साथ चित्रलिखित देखकर वासवदत्ता को जो क्रोध उत्पन्न हुआ, उसे शान्त करने के लिए राजा के द्वारा किए गए अनुनय से नायक एवं नायिका के अनुरागरूपी बीज के उद्घाटित होने से 'पर्युपासन' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है ।

१०. अब **'पुष्प'** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के दसवें अंग का लक्षण करते हैं]—

[बीजोद्घाटन के लिए प्रयुक्त] विशेषता से युक्त वाक्य को 'पुष्प' कहते हैं ॥ ३४ ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में **राजा**—(सागरिका का हाथ पकड़कर स्पर्श-सुख का नाट्य करते हैं) [तभी] **विदूषक** कहता है—'अरे मित्र ! तुमने तो अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त कर ली ।' **राजा** कहते हैं—मित्र ! सच कह रहे हो—

'क्योंकि, यह सागरिका सचमुच साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली निश्चय ही पारिजात के नूतन पल्लव हैं । नहीं तो भला पसीने के बहाने से अमृत द्रव इसमें से कैसे बहता ?'

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर नायक एवं नायिका के एक दूसरे के साक्षात् दर्शन

अथोपन्यासः—

उपन्यासस्तु सोपायम्[१]—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ९६]—'सुसङ्गता—भट्टा ! अलं सङ्काए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व । ता किं कण्णाभरणेण । अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ । ता पसादीअदु ।' ('भर्तः ! अलं शङ्कया । मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत् किं कर्णाभरणेन । असावपि मे गुरुः प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेऽपि कुपिता मे प्रियसखी सागरिका । तत्प्रसाद्यताम् ।') इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदाद् उपन्यास इति ॥

अथ वज्रम्—

—वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

के द्वारा विशेष रूप से, अनुराग के प्रदर्शन के कारण 'पुष्प' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है ।

११. अब **उपन्यास** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के ग्यारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

उपाय [=युक्ति] से ही [बीज का उद्भेद कर देना] 'उपन्यास' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में [जब सुसंगता महाराज उदयन से चित्रफलक लेने गई और वत्सराज उसे वासवदत्ता की दासी समझकर उससे सारा वृत्तान्त छिपाने की चेष्टा करते हैं; तब सुसंगता कहती है कि मैं सारा वृत्तान्त जान गई हूँ और मैं जाकर महारानी से सब कुछ कह दूँगी । इस पर राजा उसे कर्णाभूषण देकर कुछ न कहने की जब प्रार्थना करते हैं; तब सुसंगता इस प्रकार कहती है]—महाराज ! सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है । मैं भी स्वामी के कृपा के बल पर मात्र हँसी ही कर रही थी । अतएव इस कर्णभूपण की क्या आवश्यकता है ? इससे अधिक खुशी तो मुझे इसमें होगी कि आप मेरी प्यारी सखी सागरिका को, जो 'तुमने मेरा चित्र यहाँ पर क्यों बना दिया ?'—यह कहते हुए मुझपर क्रुद्ध है, प्रसन्न कर दीजिए ।

इत्यादि सुसंगता के कथन के द्वारा 'मैंने सागरिका का चित्र बनाया है और सागरिका ने आपका'—ऐसी सूचना देने वाले राजा के कृपा प्रसाद के उपन्यास से एक दूसरे के प्रति अनुराग रूप बीज का उद्भेदन होने से यहाँ पर 'उपन्यास' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है ।

१२. अब **वज्र** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के बारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त कर्कश [प्रतीत होने वाला निष्ठुर] वचन 'वज्र' कहलाता है ।

---

१. 'प्रसादनमुपन्यासः' इति वा पाठः ।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १०६]—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! एसावि जा तुह समीवे, एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणम् ।' ('आर्यपुत्र! एषापि या तव समीपे, एतत् किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।') पुनः 'अज्जउत्त! ममावि एदं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा ।' (आर्यपुत्र ! ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना) । इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात् प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ॥

अथ वर्णसंहारः—

चातुर्वर्ण्योपगमनं[1] वर्णसंहार इष्यते ॥ ३५ ॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः ।
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥' [महावीर० ३.५]

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्नयस्याद्रोहयाच्ञाद्वारेणोद्भेदनाद् वर्णसंहार इति ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**वासवदत्ता**—(चित्रपट्ट की ओर संकेत करते हुए) आर्यपुत्र ! यह जो मूर्ति [=चित्र] आपके पास चित्रित है—क्या यह भी वसन्तक की ही कला है।' फिर कहती है—'आर्यपुत्र ! इस चित्र को देखकर मेरे भी सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है।'—इत्यादि वासवदत्ता के कथन के द्वारा सागरिका और वत्सराज के अनुराग रूप बीज के उद्भेदन से यह जो प्रत्यक्ष रूप से निष्ठुर वचन का कथन किया गया है वही 'वज्र' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

परिष्कार—जो वाक्य कठोर होने के कारण स्पष्ट रूप से ही रुक्ष है और पूर्वकृत्य का विनाश कर देता है; वह वज्र के समान कठोर और कार्यविध्वंसक होने से 'वज्र' कहलाता है। अतः 'वज्र' संज्ञा अन्वर्थ-प्रयुक्त है।

१३. अब **वर्णसंहार** [नामक प्रतिमुख-सन्धि के तेरहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

ब्राह्मणादि चारो वर्णों के एकत्र सम्मिलन को 'वर्णसंहार' कहते हैं ॥ ३५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' के तृतीय अङ्क में—'यह ऋषियों की सभा है; ये वृद्ध युधाजित् [भरत के मामा] और मन्त्रियों के साथ यह बूढ़े राजा लोमपाद तथा यह निरन्तर यज्ञ करने वाले, पुरातन, ब्रह्मवादी एवं जनक नामक जनपदों के राजा जनक भी आपसे क्रोध न करने की याचना करते हैं।'

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर ऋषि, क्षत्रिय और अमात्य आदि एकत्रित सभी वर्णों के वचन के द्वारा राम-विजय की आशंसा वाले परशुराम के क्रोध की शान्ति की प्रार्थना से बीज का उद्भेदन होने से 'वर्णसंहार' [नामक प्रतिमुख-सन्धि का अंग] है।

---

१. चातुर्वर्णी इति वा पाठः ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति ॥

अथ **गर्भसन्धिमाह**—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥ ३६ ॥

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया

ये तेरह प्रतिमुख-संधि के अंग हैं। मुख-संधि में उपक्षिप्त बिन्दु नामक अवान्तर बीज और [अर्थप्रकृति रूप] महाबीज तथा कार्यावस्था रूप प्रयत्न के अनुकूल ही इनका विधान करना चाहिए। प्रतिमुख-सन्धि के इन अंगों में से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास और पुष्प को रूपकों में प्रधानतया स्थान देना चाहिए। शेष का प्रयोग यथासम्भव करना चाहिए।

२. गर्भ-सन्धि और उसके विभाग—

अब **गर्भ-सन्धि** का लक्षण बतलाया जा रहा है।

गर्भ-सन्धि वहीं होती है जहाँ दिखाई पड़ने के बाद फिर से नष्ट [=अदृश्य] हो जाने पर बीज का बार-बार अन्वेषण किया जाता है। इसमें पताका नामक अर्थ कृति हो भी सकती है, और नहीं भी। किन्तु प्राप्ति की सम्भावना अवश्य होती है। इसके बारह अंग होते हैं ॥ ३६ ॥

प्रतिमुख-सन्धि में जो बीज कुछ लक्ष्य रूप में, कुछ अलक्ष्य रूप में उद्घाटित होता है; उसी बीज का विशेष रूप से उद्घाटन, विघ्नों के साथ उसका प्रगट होना और फिर नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना, उसीका फिर से तिरोहित हो जाना और फिर बार-बार उसी का अन्वेषण किया जाना ही 'गर्भ-सन्धि' है। [अर्थात् इसमें कभी तो विघ्नों के कारण ऐसा लगता है कि कार्य सफल नहीं होगा। फिर विघ्न के हट जाने से कार्य की सफलता दिखलाई देती है। फिर विघ्न के आ जाने से कार्यसिद्धि संदेहास्पद हो जाती है। फिर प्राप्ति की आशा भी हो जाती है। इस प्रकार की व्यापार शृंखला के बीच गर्भसन्धि फल की प्राप्ति में अनिश्चितता से भरी होती है।] सामान्य नियम है कि अर्थप्रकृति और कार्यावस्था के संयोग से सन्धियों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् पताका प्राप्त्याशा के संयोग से गर्भसन्धि होती है। इस नियम में प्राप्त पताका की अनियमितता ही कारिका में आए 'पताका स्यान्न वा' के द्वारा दिखाई गई है; और 'स्यात् प्राप्तिसंभवः'

अनियमं दर्शयति—'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन । प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति—'स्यात् प्राप्तिसंभवः' इति । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् [रत्ना० पृ० १४४] 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति ॥

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥ ३७ ॥
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

अभूताहरणं छद्म—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ११०] —'साधु रे अमच्च वसन्तअ, साधु । अदिसइदो तुए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए संधिविग्गहचिन्ताए ।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक, साधु । अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया ।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृप्तकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमिति अभूताहरणम् ॥

अथ मार्गः—

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ११८-१२०]—'विदूषकः—दिठ्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ('दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्धया ।') राजा—वयस्य! कुशलं प्रियायाः ? विदूषकः—अइरेण सअं ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि । ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।') राजा—दर्शनमपि भविष्यति ? विदूषकः—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि, जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो । (कथं न भविष्यति यस्य त उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः ।') राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषकः—(कर्णे कथयति) एव्वम् ।' ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः, तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनात् मार्ग इति ॥

अथ रूपम्—

रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

के द्वारा गर्भ-सन्धि में प्राप्त्यशा का अवश्य होना दिखाया गया है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका के तृतीय अंक में पहले वत्सराज को [सागरिका के साथ समागम करने में] वासवदत्ता रूपी विघ्न की आशंका हो जाती है, एवं 'सागरिका महारानी वासवदत्ता के वेष में ही आपसे मिलने आने वाली है'—इस प्रकार समागम के उपाय वाले विदूषक के उस वचन से राजा को फल प्राप्ति की आशा हो जाती है। फिर वासवदत्ता [की उपस्थिति] से उस [आशा] का विच्छेद हो जाता है। फिर से प्राप्ति होती है, फिर विच्छेद हो जाता है, फिर विघ्नों के दूर करने के उपाय का अन्वेषण होता है; और 'मित्र, अब देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा और कोई उपाय नहीं है'—राजा के इस कथन के द्वारा विघ्न के उपाय का अन्वेषण प्रदर्शित किया गया है।

वह [गर्भ सन्धि] बारह अंगों वाली होती है। उनका नाम-निर्देश करते हैं—

१. अभूताहरण ; २. मार्ग ; ३. रूप ; ४. उदाहरण ; ५. क्रम ; ६. संग्रह ; ७. अनुमान ; ८. तोटक ; ९. अधिबल ; १०. उद्वेग ; ११. संभ्रम और १२. आक्षेप—इनके लक्षण का प्रणयन आगे किया गया है ॥ ३७-३८ ॥

नामनिर्देश के क्रम से लक्षण करते हैं—

१. अब **अभूताहरण** [नामक गर्भसन्धि के प्रथम अंग का लक्षण करते हैं]—

छल [=कपटयुक्त] कार्य को 'अभूताहरण' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में [कांचनमाला विदूषक से कहती हैं]—'हे अमात्य वसन्तक! धन्य हो! धन्य हो! इस प्रकार के सन्धि-विग्रह में तुमने तो मन्त्री यौगन्धरायण का भी अतिक्रमण कर दिया।' इस कथन से प्रवेशक के द्वारा विदूषक और सुसंगता के सिखाने-पढ़ाने से वासवदत्ता के वेष में अभिसरण करने वाली सागरिका के छद्म कार्य को जो काञ्चनमाला ने व्यक्त कर दिया है—यही 'अभूताहरण' [नामक गर्भसन्धि का अंग कहलाता] है।

२. अब **मार्ग** [नामक गर्भसन्धि के द्वितीय अंग का लक्षण करते हैं]—

[प्रकृत प्रकरण के सम्बन्ध में] वास्तविक बात बतला देने को 'मार्ग' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**विदूषक**—सौभाग्य से, चाहे हुए से भी अधिक कार्य-सिद्धि के द्वारा आप वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं। **राजा**—मित्र! मेरी प्रिया [सागरिका] सकुशल तो है न। **विदूषक**—शीघ्र ही आप उसे देखकर स्वयं ही जान लेंगे। **राजा**—क्या उसका दर्शन भी प्राप्त होगा? **विदूषक**—(गर्व के साथ) क्यों नहीं होगा? जिस [आप] का मुझ जैसा बृहस्पति की भी बुद्धि वैभव का उपहास करने वाला मन्त्री विद्यमान हो [तो यह कौन-सी बड़ी बात है]। **राजा**—फिर भी मैं यह सुनना चाहता हूँ कि किस प्रकार दर्शन होगा? **विदूषक**—(कान में कहता है) इस प्रकार।'—इन वचनों के द्वारा यहाँ पर सागरिका के समागम के विषय में जैसी [सुसंगता से] सूचना मिली थी वैसा ही निश्चित रूप से विदूषक द्वारा राजा से निवेदन कर दिया गया है। अतः यह 'मार्ग' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है।

३. अब **रूप** [नामक गर्भसन्धि के तीसरे अंग का लक्षण करते हैं]—

[प्राप्त्याशा के अनुगम में] वितर्कयुक्त कथन को 'रूप' कहते हैं।

यथा रत्नावल्याम् [पृ०१२८-१२९]—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातः । तथा हि,—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥ [रत्ना० ३.९]

कथं चिरयति, वसन्तकः ? किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद् रूपमिति ॥

अथोदाहरणम्—

—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० ११८]—विदुषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः ! कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्ससस्स परितोसो आसि, यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि ।' ('ही ही भो : कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत्, यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ') ।

जैसे रत्नावली नाटिका में—'राजा—आश्चर्य की बात है कि कामी जनों को अपनी स्त्री की अपेक्षा अभिनव जन [परस्त्री] से [समागम करने में विचित्र प्रकार का] पक्षपात होता है क्योंकि—

[यद्यपि] संकेत स्थल पर [अभिसरण के लिए छिपकर] आई हुई कामिनी प्रणय से विकसित अपनी दृष्टि को [लोकभय से] शङ्कित होने के कारण नायक के मुख पर डाल भी नहीं पाती । कण्ठालिंगन के समय प्रेम [के भावावेश] से घनघोर स्तनालिंगन से भी वंचित ही रखती है ; प्रयत्नपूर्वक रोके जाने पर भी 'मैं जा रही हूँ' 'मैं जा रही हूँ'—यही कहती है । किन्तु [यह विचित्र बात है कि] फिर भी वह संकेतस्थ-कामिनी [कामी जनों को] बहुत अधिक आनन्द देती है ।'

वसन्तक न जाने क्यों विलम्ब कर रहा है ? कहीं इस बात का पता देवी वासवदत्ता को तो नहीं लग गया ।" इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर सागरिका के समागम की प्राप्ति की आशा के अनुकूल ही महारानी वासवदत्ता की आशंका के विषय में वितर्क किए जाने से 'रूप' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है ।

४. अब उदाहरण [नामक गर्भसन्धि के चौथे अंग का लक्षण करते हैं]—

उत्कर्षयुक्त वचन 'उदाहृति' या 'उदाहरण' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**विदूषक**—(हर्ष के साथ) आ हा ! मैं यह सोचता हूँ कि मित्र [महाराज उदयन] को मेरे [सागरिका के संयोग-विषयक] प्रिय वचनों को सुनकर इतना अधिक आनन्द होगा जितना कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी नहीं हो पाया था ।

इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानात् उदाहृतिरिति ॥

अथ क्रमः—

क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १३३]—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः । अथवा,—

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥ [रत्ना० ३.१०]

विदूषकः—(आकर्ण्य) भोदि सागरिए ! एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कं ठाणिब्भरं मन्तेदि । ता निवेदेमि से तुहागमणम् ।' ('भवति सागरिके ! एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति । तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः ॥

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

—भावज्ञानमथापरे ॥ ३९ ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १३४]—'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके !

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी बढ़ कर होगी । इस प्रकार उत्कर्षयुक्त कथन होने से 'उदाहृति' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है ।

५. अब **क्रम** [नामक गर्भसन्धि के पाँचवें अंग का लक्षण करते हैं]—

सोची गई [=अभिलषित] वस्तु की प्राप्ति को 'क्रम' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**राजा**—प्रियतम के समागम का समय अति सन्निकट होते हुए भी न जाने क्यों मेरा हृदय अत्यन्त उत्तप्त हो रहा है ? अथवा—

कामदेव का तीव्र सन्ताप प्रारम्भ में उतना सन्तप्त नहीं करता जितना [प्रिय के मिलन के] समीप होने पर [सन्तप्त करता है] । ठीक ही है, क्योंकि वर्षा ऋतु में बादलों के बरसने के पहले का दिन अत्यधिक तपा करता है ।

विदूषक—(सुनकर) आदरणीया सागरिके ! यह मेरे प्रिय मित्र [महाराज] उत्कण्ठित होकर तुम्हारे ही विषय में सोचते हुए कुछ कह रहे हैं । अतः उनसे तुम्हारे आगमन की सूचना दे दूँ ।' इस कथन के द्वारा यहाँ पर सागरिका के समागम की अभिलाषा वाले वत्सराज को भ्रान्त सागरिका [सागरिका के रूप में वासवदत्ता] की प्राप्ति होना ही 'क्रम' है ।

अब मतभेद से होनेवाले **क्रम** के दूसरे रूप [का लक्षण करते हैं]—

अन्य आचार्य भावज्ञान [=मनोविज्ञान] को 'क्रम' कहते हैं ॥ ३९ ॥

जैसे 'रत्नावली' में—'राजा—(समीप जाकर) प्रिय सागरिके !—

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥' [रत्ना० ३.११]

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' [३.१३] इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात् क्रमान्तरमिति ॥

अथ संग्रहः—

संग्रहः सामदानोक्तिः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १२०]—'साधु वयस्य, साधु। इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः संग्रहात् संग्रह इति ॥

अथानुमानम्—

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १४२]—राजा—धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः । कुतः—

'तुम्हारा मुख चन्द्रमा [के समान] है, तुम्हारे नेत्र नील-कमल-रूप हैं, तुम्हारे हाथ कमल के सदृश हैं, तुम्हारी दोनों जाँघें कदली के भीतरी भाग के समान हैं एवं तुम्हारी भुजाएं मृणाल-तुल्य है । इस प्रकार सर्वांगों से आह्लादकारिणी हे प्रिये ! आओ, आओ; जल्दी से निःशङ्क भाव से गाढ़ालिंगन द्वारा कामावेग से सन्तप्त हुए मेरे अंगों को शान्त करो ।'

इत्यादि में लेकर "चन्द्रमा का वह अमृत भी तुम्हारे बिम्बाधर में है'—यहाँ तक वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज के [मन के] भाव को जानने से दूसरे प्रकार का 'क्रम' है ।

६. अब **संग्रह** [नामक गर्भसन्धि के छठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

साम [अर्थात् प्रिय वचन] तथा दानयुक्त वचन को 'संग्रह' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में—'**राजा**—मित्र ! धन्य हो, धन्य हो, यह मैं तुम्हें पारितोषिक के रूप में कटक दे रहा हूँ ।' इत्यादि कथन के द्वारा सागरिका का समागम करने वाले विदूषक का साम [अर्थात् प्रिय वचन] तथा दान [कटक प्रदान] के द्वारा संग्रह किया जाने से यहाँ पर 'संग्रह' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है ।

७. अब **अनुमान** [नामक गर्भसन्धि के सातवें अंग का लक्षण करते हैं]—

लिङ्ग [अर्थात् हेतु या चिह्न] से तर्क के साथ किसी बात के निर्णय करने को 'अनुमान' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में—"**राजा**—[विदूषक से यह कहता है कि] अरे मूर्ख ! धिक्कार है । तुम्हारे ही कारण यह अनर्थ हमें प्राप्त हुआ । क्योंकि—

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात् प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥ [रत्ना० ३.१५]

विदूषकः—भो वअस्स ! वासवदत्ता किं करिस्सदि त्ति ण जाणामि । सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि' । ('भो ! वयस्य वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि । सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि') । इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनम् अनुमानमिति ॥

अथाधिबलम्—

अधिबलमभिसंधिः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १३१]—'काञ्चनमाला—भट्टिणि ! इअं सा चित्तसालिआ । ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि ('भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि ।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसंगतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसंधीयमानत्वादधिबलमिति ॥

अथ तोटकम्—

—संरब्ध तोटकं वचः ॥ ४० ॥

प्रेम व्यापार का अत्यधिक आदर करने के कारण दोनों में प्रीति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी । पहले न किए गए इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर असहनशील प्रियतमा [वासवदत्ता] निश्चय ही आज अपने प्राणों को छोड़ देगी । क्योंकि प्रकृष्ट प्रेम का स्खलन निस्सन्देह असह्य होता है :

विदूषक—हे मित्र ! वासवदत्ता क्या करेगी, यह मैं नहीं जानता; किन्तु मेरा अनुमान है कि सागरिका का जीवन दुष्कर हो जाएगा ।' यहाँ पर सागरिका के प्रति राजा के अनुराग से उत्पन्न होने वाले प्रकृष्ट प्रेम के स्खलन से वासवदत्ता के मरण का अनुमान [=अभ्यूहन] किया जाना ही 'अनुमान' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है ।

८. अब **अधिबल** [नामक गर्भसन्धि के आठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

अभिसन्धि [अर्थात् नायक आदि को प्रवंचित करना] 'अधिबल' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—**कांचनमाला**—[वासवदत्ता से कहती है]—हे स्वामिनी ! यही वह चित्रशाला है । अतः अब मैं वसन्तक को संकेत देकर बुलाती हूँ । (चुटकी बजाती है) ।" इत्यादि कथन के द्वारा सागरिका एवं सुसंगता का रूप धारण करने वाली वासवदत्ता एवं कांचनमाला के द्वारा राजा और विदूषक के प्रवञ्चित [=अभिसन्धान] किए जाने से यहाँ 'अधिबल' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है ।

९. अब **तोटक** [नामक गर्भसन्धि के नौवें अंग का लक्षण करते हैं]—

[क्रोध एवं हर्ष आदि से उत्पन्न] आवेगयुक्त वचन 'तोटक' कहलाता है ॥ ४० ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १५२-१५३]—'वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत ! जुत्तमिणं सरिसमिणम्।' (पुनःस रोषम्) अज्जउत्त ! उट्ठेहि। किं अज्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कंचणमाले ! एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणम्। एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि।' (आर्यपुत्र ! युक्तमिदं सदृशमिदम्। आर्यपुत्र ! उत्तिष्ठ। किमद्याप्याभिजात्याः सेवादुःखमनुभूयते। काञ्चनमाले ! एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम्। एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु।') इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम्॥

यथा च वेणीसंहारे [३.३४]—

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्'।

इत्यादिना,

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः।' [वेणी० ३.४६]

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति॥

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**वासवदत्ता**—(समीप जाकर) आर्यपुत्र, आपका यह कार्य आपके [नाम और यश के] अनुरूप ही है। (पुनः क्रोध में भरकर) आर्यपुत्र ! उठो। क्यों, अब भी उच्चकुल की मर्यादा की दृष्टि से सेवा के दुःख का अनुभव कर रहे हो? काञ्चनमाले ! इस दुष्ट ब्राह्मण को इसी लतापाश के द्वारा बाँधकर इधर ले आओ; और इस दुष्ट कन्या को भी आगे कर लो।' इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर सागरिका के समागम में विघ्न उत्पन्न करने वाले वासवदत्ता के क्रोधयुक्त वचनों से 'नियताप्ति' में सन्देह उत्पन्न हो जाने से यहाँ पर 'तोटक' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—[अश्वत्थामा दुर्योधन से कहते हैं]—'निशा के शेष होने पर बन्दीजनों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रार्थनाओं से जगाए जाने पर भी आज रात आप आराम से सोएंगे।'....इत्यादि से लेकर [कर्ण का अश्वत्थामा से कहना कि] 'जब तक मैं शस्त्र को धारण किए हूँ तब तक अन्य आयुधों की आवश्यकता ही क्या है?'—यहाँ तक अपने पक्ष की सेना में फूट डालने वाले कर्ण और अश्वत्थामा के क्रोधपूर्ण वचनों से पाण्डवों के विजय की प्राप्ति के अनुकूल होने के कारण यहाँ पर 'तोटक' [नामक गर्भसन्धि का अंग] है।

अन्य ग्रन्थों में तो—

विद्वानों के द्वारा 'तोटक' का उलटा 'अधिबल' कहा गया है [अर्थात् आवेग से उद्भूत विनययुक्त वचन 'अधिबल' है]।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवि ! एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि—

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात्॥ [रत्ना० ३.१४]

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम्॥ ४१॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १३९]—'राजा–प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद। वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त ! मा एवं भण। अण्णसङ्कन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति।' '(आर्यपुत्र मैवं भण। अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति।)'

यथा च वेणीसंहारे [पृ० १७१]—राजा—अये सुन्दरक ! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य? पुरुषः—कुसलं सरीरमेत्तकेण। ('कुशलं शरीरमात्रकेण।') राजा—किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः? पुरुषः—देव ! ण भग्गो रहो; भग्गो से मणोरहो। ('देव न भग्नो रथः। भग्नोऽस्य मनोरथः,) राजा—(ससंभ्रमम्) 'कथम्।' इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**राजा**—हे देवि ! इस तरह प्रत्यक्ष देखा गया अपराधी मैं आपसे क्या निवेदन करूँ?

इस प्रकार लज्जित होकर हे देवि ! महावर से रंगे हुए तुम्हारे चरणों की लालिमा को अपने मस्तक से रगड़कर साफ करने में तो मैं समर्थ हूँ; किन्तु तुम्हारे मुखचन्द्र पर व्याप्त क्रोध की लाली को दूर करने में तो मैं तब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक आपके कृपा कटाक्ष का विक्षेप मेरे ऊपर न हो।'

[और उन्हीं ग्रन्थों में]

जो संरब्ध [उद्विग्नता वाले] वचन हैं, उन्हें 'तोटक' के रूप में उदहृत किया गया है॥ ४१॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**राजा**—हे प्रिय वासवदत्ता ! प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ। **वासवदत्ता**—(आँखों में आँसू भरकर) आर्यपुत्र ! ऐसा मत कहो, ये अक्षर तो अब दूसरे के लिए हो गए हैं।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—'**राजा** [=दुर्योधन]—सुन्दरक ! अंगराज कर्ण सकुशल तो हैं न? **पुरुष**—वे जीवित हैं, इतना ही कुशल समझिए। **राजा** [=दुर्योधन]—(व्याकुलता के साथ) सुन्दरक ! क्या अर्जुन ने उसके घोड़े मार डाले, सारथि को घायल कर दिया अथवा उसके रथ को तो नहीं तोड़ डाला? **पुरुष**—केवल रथ ही नहीं तोड़ डाला, किन्तु मनोरथ भी भंग कर दिया गया है। **राजा**—(सम्भ्रम से) क्या कहा?' इत्यादि उद्विग्नता वाले वचनों से 'तोटक' ही कहा गया है।

अथोद्वेगः—

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १५४]—'सागरिका—(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि। ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते)।' इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमिति उद्वेगः। यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः।

यथा च वेणीसंहारे [पृ०१५६]—'सूतः—(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः। भवतु। दूरमपहरामि स्यन्दनम्। कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः॥

अथ संभ्रमः—

—शङ्कात्रासौ च संभ्रमः।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १४६]–'विदूषकः—(पश्यन्) का उण एसा। (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि। ('का पुनरेषा। कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति') राजा—(ससंभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ।' इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया

---

१०. अब **उद्वेग** [नामक गर्भसन्धि के दसवें अंग का लक्षण करते हैं]

शत्रु से उत्पन्न भय को 'उद्वेग' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में **'सागरिका—(मन ही मन सोचती है)** पुण्य न करने के कारण क्या अपनी इच्छा से मरा भी नहीं जा सकता?' इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर वासवदत्ता से सागरिका का भयान्वित होना 'उद्वेग' है क्योंकि जो जिसका उपकार करने वाला होता है वह उसका शत्रु होता है [इसलिए सागरिका की शत्रु वासवदत्ता है]।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में **'सूत**—(सुनकर भय के साथ) क्या कौरवाधिपति धृतराष्ट्र के पुत्ररूपी महावन को निर्मूल करने वाले वायु के सदृश यह वायुपुत्र भीम पास में ही आ गया है, और महाराज दुर्योधन को अभी चेतना नहीं आई है। जो हो मैं यथाशक्ति रथ को दूर भगा ले चलूँ; क्योंकि दुःशासन की ही भाँति इन पर भी कदाचित् यह दुष्ट भीम अनुचित व्यवहार न कर बैठे।' इत्यादि कथन में शत्रु से उत्पन्न भय 'उद्वेग' है!

११. अब **संभ्रम** [नामक गर्भसन्धि के ग्यारहवें अङ्ग का लक्षण करते हैं]—

शंका और त्रास को 'सम्भ्रम' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में—**'विदूषक**—(देखते हुए) यह कौन है? (सम्भ्रम से) क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही हैं? **राजा**—(भ्रमपूर्वक निकट जाते हुए) यह

मरणशङ्कया संभ्रम इति।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० १५०]—'(नेपथ्ये कलकलः) अश्वत्थामा—(ससंभ्रमम्) मातुल! मातुल! कष्टम्। एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी समं शरवर्षैर्दुर्योधन राधेयावभिद्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन।' इति शङ्का। तथा '(प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूतः–त्रायतां त्रायतां कुमारः।' इति त्रासः। इत्येताभ्यां त्रासशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति॥

अथाक्षेपः—

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः॥ ४२॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १४४]—'राजा–वयस्य, देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' पुनः क्रमान्तरे [पृ० १५३] 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः।' पुनः [पृ० १५५] 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदाद् आक्षेपः।

कहाँ है? कहाँ है?' यहाँ पर वासवदत्ता समझकर सागरिका के मरण की आशङ्का के कारण 'सम्भ्रम' [नामक गर्भाङ्ग] है।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में—'(नेपथ्य में कोलाहल होता है) **अश्वत्थामा**—(सम्भ्रम के साथ) मामा! मामा! अत्यन्त दुःख की बात है यह अर्जुन अपने भाई [भीम] के प्रतिज्ञा के भंग के भय से बाणों की वर्षा करते हुए एक साथ ही दुर्योधन और कर्ण की ओर बढ़ रहे हैं। निश्चय ही भीम ने दुःशासन का रक्तपान कर लिया है।' यह शंका का उदाहरण है; तथा, (घायल एवं भयभीत अवस्था में प्रवेश करके) **'सूत**—कुमार की रक्षा करो।' यह त्रास का उदाहरण है। इस प्रकार दुःशासन और द्रोणवध के सूचक शंका और त्रास से पाण्डवों की विजय प्राप्ति की आशा से युक्त यह 'सम्भ्रम' [नामक गर्भसंधि का अङ्ग] है।

१२. अब **आक्षेप** [नामक गर्भसंधि के बारहवें अङ्ग का लक्षण करते हैं]—

गर्भस्थ बीज का उद्भेदन ही 'आक्षेप' कहा गया है॥ ४२॥

जैसे—'रत्नावली' नाटिका में—**'राजा**—हे मित्र! देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे और कोई उपाय दिखाई नहीं देता।' फिर अन्य स्थल पर—'सर्वथा देवी वासवदत्ता के प्रसन्न करने के विषय में मेरी आशा जाती रही' फिर आगे—'तो यहाँ बैठे रहने से क्या लाभ? देवी के पास चलकर उन्हीं को प्रसन्न करूँ।' इस कथन के द्वारा सागरिका के समागम की सिद्धि देवी के प्रसन्नता के आधीन होने से ही गर्भस्थ बीज के उद्भेदन के कारण 'आक्षेप' [नामक गर्भसंधि का अङ्ग] है।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० १६७]—'सुन्दरकः—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि। तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणवीअस्स। परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसमस्स फलं परिणमेदि' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभामि। तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति')। इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः॥

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम्। इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति सांगो गर्भसंधिरुक्तः।

अथावमर्शः—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः[1] ॥ ४३ ॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनम्। तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा भवितव्यम्। अनेनार्थेन इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंध्युद्भिन्नबीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः।

यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के [पृ०१८८] अग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः।

यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः—

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम्।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसात्स्वल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः॥ [वेणी० ६.१]

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधिः।

तस्याङ्गसंग्रहमाह—

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—'सुन्दरक—अथवा इस विषय में दैव को क्या उलाहना दूँ। क्योंकि यह [विनाश] उसी कपटरूपी विष वृक्ष का फल है। विदुर के वचनों की अवहेलना जिसका बीज है। भीष्म पितामह के उपदेश का अनादर ही जिसका अङ्कुर है। शकुनि का प्रोत्साहन ही जिसकी मजबूत जड़ें हैं। छल एवं विष प्रयोग जिसकी शाखाएँ हैं और द्रोपदी का केशग्रहण ही जिसका फूल है। इत्यादि कथन के द्वारा 'बीज' को ही फलोन्मुख रूप से आक्षिप्त करना ही 'आक्षेप' [नामक गर्भसंधि का अंग] है।

ये बारह गर्भसंधि के अंग हैं। प्राप्ति की आशा के प्रदर्शक के रूप में इनका उपस्थापन करना चाहिए [अर्थात् प्राप्त्याशा के प्रदर्शक के रूप में निबद्ध होने पर भी ये गर्भसंधि के अंग ही होते हैं। इन अंगों में से अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और आक्षेप को नाटकों में प्रधानतया स्थान देना चाहिए। शेष का प्रयोग यथासम्भव होना चाहिए। इस प्रकार अंगों के सहित गर्भसंधि बतलाई गई है।

४.अवमर्श-संधि और उसके विभाग—

अब अवमर्श [संधि का लक्षण करते हैं]—

जहाँ क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन से फलप्राप्ति के विषय में पर्यालोचन [=अवमर्श] किया जाय एवं जहाँ गर्भसंधि के द्वारा प्रस्फुटित बीजार्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाए उसे 'अवमर्श-संधि' कहते हैं॥ ४३॥

अवमर्श शब्द का अर्थ विचार या पर्यालोचन है; और वह पर्यालोचन क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन के द्वारा होता है। 'ऐसा करने से यह होगा' इस प्रकार फल प्राप्ति के निश्चय का अवधारण जहाँ हो, तथा गर्भसन्धि के द्वारा उद्भिन्न बीजार्थ का जहाँ सम्बन्ध पाया जाय वहाँ वह विमर्श [=पर्यालोचन] 'अवमर्श' कहलाता है।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में वासवदत्ता की प्रसक्ति [अर्थात् प्रसन्नता या अनुकूलता] से विघ्नरहित रत्नावली की प्राप्ति का अवधारण रूप विमर्श अग्नि के उपद्रव पर्यन्त दिखलाया गया है।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में दुर्योधन के रक्त से सने भीमसेन के आगमन पर्यन्त [विमर्श सन्धि दिखलाई गई है। जैसा कि युधिष्ठिर के निम्न कथन में 'विमर्श' इस प्रकार है]—

'भीष्म रूप महासागर को पार कर लेने पर, जैसे-तैसे करके द्रोणाचार्य रूप अग्नि को शान्त करने के बाद, और कर्ण रूप भयंकर नागराज के नाश करने तथा शल्य के स्वर्ग सिधार जाने के बाद जबकि विजय का थोड़ा-सा ही काम शेष रह गया था, ऐसे समय साहस ही जिसको प्रिय है इस प्रकार के भीमसेन ने केवल [अपनी प्रतिज्ञा रूप] वाणी से हम सबको संशय में डाल दिया है।'

यहाँ पर 'विजय का थोड़ा-सा ही काम शेष रह गया था' इत्यादि कथन के द्वारा विजय के बाधक भीष्म पितामह आदि सभी महारथियों के मार दिए जाने पर निश्चित रूप से प्राप्त होने वाली विजय का अवमर्शन [=पर्यालोचन] होने से जो विमर्श दिखलाया गया है वही 'अवमर्श-सन्धि' है।

उस अवमर्श-सन्धि के अंग समूह का नाम निर्देश इस प्रकार करते हैं—

---

१. 'सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः' इति वा पाठः।

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्[पृ० १५८]—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेत्ति । ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति ।') 'विदूषकः—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु किदं देवीए ।' (अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या) ।' पुनः—'भो वअस्स ! मा खु अण्णधा संभावेहि । सा खु देवीए उज्जइणीए पेसीदा । अदो अप्पिअं त्ति कहिदम् ।' ('भो वयस्य ! मा खल्वन्यथा संभावय । सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता। अतोऽप्रियमिति कथम्') राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी।' [रत्ना०पृ० १६६] इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० २४७-२४८]—'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालकः—न केवलं पदवी । स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्श पातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनाद् अपवाद इति ॥

उस [अवमर्श-संधि] में—१. अपवाद, २. संफेट, ३. द्रव, ५. शक्ति, ६. द्युति, ७. प्रसङ्ग, ८ छलन, ९. व्यवसाय, १०. विरोधन, ११. प्ररोचना, १२. विचलन तथा १३. आदान—ये तेरह अङ्ग होते हैं ॥ ४४-४५ ॥

नाम निर्देश के ही क्रम से इनका लक्षण बतलाया जा रहा है—

१. अब **अपवाद** [नामक अवमर्शसन्धि के प्रथम अंग का लक्षण करते हैं]

दोष के प्रख्यापन अर्थात् किसी पात्र के दोष का प्रचार 'अपवाद' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में '**सुसंगता**—स्वामिनी वासदत्ता ने उस तपस्विनी सागरिका को यह प्रचारित करके कि वह उसे उज्जैयनी ले जाएगी आधी रात होने पर न जाने कहाँ भेज दिया ।' '**विदूषक**—(उद्वेग के साथ) देवी ने बड़ी निर्दयता का कार्य किया ।' इसके बाद—'हे मित्र तुम कुछ और न समझो उसको देवी ने उज्जैयिनी भेज दिया है इसीलिए मैंने कह दिया कि अनर्थ हो गया । **राजा**—आश्चर्य है कि देवी को मुझसे जरा भी सहानुभूति नहीं है ।' इत्यादि कथन के द्वारा वासवदत्ता के दोष का प्रख्यापन [=प्रचार] करने के कारण 'अपवाद' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में **युधिष्ठिर**—'पाञ्चालक ! क्या उस दुरात्मा नीच कौरव [= दुर्योधन] का पता पा लिया ? **पाञ्चालक**—'केवल पता ही नहीं अपितु देवी के केश-पाश के स्पर्शरूप पातक का प्रधान हेतु वह दुरात्मा स्वयं ही पा लिया गया ।' इस

अथ संफेटः—

—संफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे [पृ० २६१]—'भोः कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना । मैवं विषादं कृथाः पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहमसहाय' इति !

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधनो ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ॥ [वेणी० ६.१०]

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्रः—

कर्णदुःशासनवधात् तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ॥ [वेणी० ६.११]

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामौ—' इत्यनेन भीम-दुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद् विजयबीजान्वयेन संफेट इति ।

अथ विद्रवः—

विद्रवो वधबन्धादिः—

प्रकार दुर्योधन के दोष का प्रख्यापन होने से यहाँ पर 'अपवाद' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

२. अब **संफेट** [नामक अवमर्श-सन्धि के द्वितीय अंग का लक्षण करते हैं]—

रोष से भरे हुए सम्भाषण [= कथनोपथन] को 'संफेट' कहते हैं ।

जैसे 'वेणीसंहार' में—[पाञ्चालक युधिष्ठिर से कह रहा है कि—'तब भीम ने दुर्योधन से कहा']—'हे कौरवराज ! बन्धुओं का विनाश देखकर क्रोध करना व्यर्थ है । इस बात की भी चिन्ता मत करो कि पाण्डव पाँच है और मैं अकेला असहाय हूँ ।

'हे दुर्योधन ! हम पाँचों में जिस किसी से युद्ध करना आसान समझते हो, उसी से कवच पहनकर और शस्त्र हाथ में लेकर तुम युद्ध कर सकते हो ।'

इस प्रकार सुनकर दुर्योधन दोनों कुमारों [भीम और अर्जुन] को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ बोला—

'कर्ण और दुःशासन के वध से यद्यपि तुम दोनों मेरे लिए समान हो [अर्थात् दोनों से समान शत्रुता है], तथापि अप्रिय होते हुए भी साहस प्रिय होने के कारण युद्ध के लिए तुम्हीं मुझे प्रिय [अभीष्ट] हो ।

यह कहकर उठकर परस्पर क्रोधपूर्वक निन्दायुक्त कठोर वाक्कलह के साथ दोनों ने घोर युद्ध का प्रस्ताव करके'—इत्यादि के द्वारा यहाँ पर भीम और दुर्योधन के बीच एक दूसरे के प्रति रोष से भरे हुए संभाषण के कारण विजयरूपी बीज से अन्वित 'संफेट' [नामक अवमर्श सन्धि का अंग] है ।

३. अब **विद्रव** [नामक अवमर्श-सन्धि के तीसरे अंग का लक्षण करते हैं]—

वध और बन्धन [इत्यादि का वर्णन नाटक में जहाँ हो वहाँ] 'विद्रव' होता है ।

यथा छलितरामे—

'येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥'

यथा च रत्नावल्याम् [४.१४]—

'हर्म्याणां हेमशृंगश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥'

इत्यादि । पुनः [पृ० १९०] वासवदत्ता—'अज्जउत्त ! ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि । एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदि ।' ('आर्यपुत्र ! न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निर्घृणहृदया संयता सागरिका विपद्यते ।') इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ॥

जैसे 'छलितराम' नामक नाटक में—

जिस [लव] ने सामवेद का पाठ करने में मन्त्रों का आवर्तन करते हुए ब्रह्मचारियों के मुख को बड़ा तंग किया था । जिसने बचपन के कारण उनके अक्षसूत्र और वलय आदि को छीनकर फिर देकर क्रीड़ायें कीं, तुम्हारे हृदय के समान [अत्यन्त प्रिय] जिसका कन्धा बाणों से भरा हुआ है और मूर्च्छा से गहन अन्धकार में पहुँच जाने के कारण विवश उस लव को [तुम्हारे सैनिक] बाँधकर लिए जा रहे हैं ।''

[यह बन्धन का उदाहरण है और दोनों का उदाहरण एक साथ रत्नावली में इस प्रकार है]—

अथवा, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—

'[अन्तःपुर में सहसा उठी हुई अग्नि की] लपट के समूहों से प्रासादों की सुवर्ण-निर्मित शिखरों की सी शोभा धारण करती हुई, उद्यान के घने वृक्षों के अग्रभाग को झुलसा देने के कारण अपने अत्यन्त तीव्र ताप को प्रकट करती हुई, धुएं के द्वारा क्रीड़ा-पर्वत को जल से भरे हुए बादलों सा श्यामल बनाती हुई और स्त्रियों को अपने दाह से संत्रस्त करती हुई यहाँ अन्तःपुर में अग्नि सहसा ही [भभक] उठी है ।'

इत्यादि····और फिर, वासवदत्ता [महाराज से कहती हैं]—'आर्यपुत्र ! मैं अपने लिए नहीं कह रही हूँ, बल्कि मुझ क्रूरहृदया के द्वारा बाँधी गई सागरिका [इस अग्नि में जलकर] मरी जा रही है ।' इत्यादि कथन के द्वारा अग्नि से सागरिका का वध और बन्धन दोनों ही होने से यहाँ विद्रव [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथ द्रवः—

—द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

यथोत्तरचरिते—

'वृद्धास्ते[1] न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो[2] लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥ [उत्तर० ५.३४]

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः ।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥' [वेणी० ६.२०]

४. अब **द्रव** [नामक अवमर्श-सन्धि के चौथे अंग का लक्षण करते हैं]—

गुरुजनों के तिरस्कार को 'द्रव' कहते हैं ॥ ४५ ॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में [राम के लिए लव कह रहे हैं]—

'वे गुरु कल्प हैं, उनके चरित्र के बारे में कुछ न कहना ही उचित है; क्योंकि सुन्द की स्त्री ताड़का के वध करने पर भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक में श्रेष्ठ ही हैं । खर के साथ युद्ध करने में जिनको तीन पग पीछे हटना पड़ा था, अथवा इन्द्र-पुत्र बालि के वध में जिन्होंने सुन्दर युद्ध कौशल प्रदर्शित किया था, उससे भी लोग परिचित ही हैं ।'

इत्यादि कथन के द्वारा लव ने गुरु-कल्प राम का तिरस्कार किया है अतः यहाँ 'द्रव' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—[मुनि का रूप धारण करने वाले मायावी राक्षस के मुख से श्रीकृष्ण के युद्धस्थल से हटा लिए जाने की बात सुनकर युधिष्ठिर कहते हैं]—

युधिष्ठिर—हे भगवन् ! हे कृष्णाग्रज ! हे सुभद्रा के भाई !

आपने बान्धवों की प्रीति का ध्यान नहीं किया । क्षत्रियों के धर्म की परवाह न की । अपने छोटे भाई अर्जुन के साथ चिर-प्ररूढ़ मित्रता की ओर भी ध्यान नहीं दिया । दोनों शिष्यों [भीम, दुर्योधन] पर आपका प्रेम भले ही समान हो, किन्तु यह आपका कौन सा मार्ग है कि मुझ मन्द भाग्य के ऊपर आप इतने विमुख हो गए ?

१. 'वन्द्यास्ते' हनु० १४.२२ । २. '-कुण्ठयशसो' हनु०; उत्तर० ५.३४ ।

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ॥

अथ शक्तिः—

विरोधशमनं शक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं[1]
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम्[2] ॥' [रत्ना० ४.१]

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनात् शक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥ [उत्तर० ६.११]

इत्यादि कथन के द्वारा युधिष्ठिर ने [गदा युद्ध की शिक्षा देने वाले] बलभद्र का तिरस्कार किया है; अतः यहाँ 'द्रव' [नामक अवमर्श सन्धि का अंग] है ।

५. अब **'शक्ति'** [नामक अवमर्श-सन्धि के पाँचवें अंग का लक्षण करते हैं]—

विरोध का प्रशमन 'शक्ति' कहलाता है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—**'राजा**—बहाने बनाकर शपथों के द्वारा, प्रिय वचनों के द्वारा, सर्वथा चित्त के अनुसार अनुगमन करने के द्वारा, अत्यन्त लज्जा के [अनुभव या प्रकाशन] द्वारा पैरों पर पड़कर और बार-बार सखियों के समझाने पर भी प्रिया [वासवदत्ता] उस प्रकार प्रसन्नता को प्राप्त नहीं हुई जैसी कि स्वयं रोती हुई उसने आसुओं से मानों क्रोध को धोकर बहा दिया हो ।'

इत्यादि कथन के द्वारा सागरिका की प्राप्ति में बाधक वासवदत्ता के कोप की शान्ति होने से 'शक्ति' [नामक अवमर्श सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'उत्तररामचरित' में लव कहते हैं—

'[रामचन्द्रजी के आ जाने से चन्द्रकेतु के साथ होने वाले युद्ध में हम दोनों अर्थात् लव और चन्द्रकेतु का] विरोध शान्त हो गया और आनन्द प्रदान करने वाला प्रेम [रस] उत्पन्न हो रहा है । वह उद्दण्डता [जो मेरे भीतर थी] न जाने कहाँ चली गई, और विनय मुझे [उनके सामने] विनम्र बना रही है । इनको देखकर न जाने क्यों मैं तुरन्त ही परवश-सा हो गया हूँ, अथवा तीर्थों के समान महापुरुषों का कुछ अनिर्वचनीय प्रभाव

---

१. 'भृशं' ना० द० । २. 'यथा' ना० द० ।

अथ द्युतिः—

—तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा वेणीसंहारे [पृ० २५४]—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्ज-पूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरःसलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥' [वेणी० ६.७]

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्' [वेणी० ६.९] इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता ॥

होता है ।' [यहाँ पर लव के विरोध का प्रशमन होने से 'शक्ति' नामक अवमर्श-सन्धि का अंग है ।]

६. अब **'द्युति'** [नामक अवमर्श-सन्धि के छठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

तर्जन [अर्थात् डाटना फटकारना] और उद्वेजन [अर्थात् **भयान्वित करके उद्वेलित कर देने] को 'द्युति' कहते हैं ।**

जैसे 'वेणीसंहार' में [पाञ्चालक युधिष्ठिर को बतलाता है कि]—

'बलराम के भाई [श्रीकृष्ण] के इस वाक्य को सुनकर भीमसेन ने उस जलाशय के जल को आलोडित कर दिया; और आलोडन करने से उसका जल दिशाओं के गह्वरों को पूरित करता हुआ बह चला; सम्पूर्ण जलचर विकल हो गए, मगर और घड़ियाल व्यग्र हो उठे, और इसके बाद कुमार भीमसेन ने भयङ्कर गर्जना के साथ पुनः कहा—[अरे रे ! मिथ्या बल और पराक्रम का अभिमान करने वाले तथा द्रौपदी के केश और वस्त्र के आकर्षण करने वाले महापातकी दुर्योधन !]—

'अरे नरपशु ! तुम अपना जन्म चन्द्रवंश में बताता है और अब भी गदा धारण करता है । दुःशासन के कुछ गरम रुधिर से प्रमत्त मुझको अपना शत्रु बतलाता है, अभिमान से अन्धा होकर भगवान् विष्णु [श्रीकृष्ण] में भी अनुचित व्यवहार करता है और इस समय मेरे डर के मारे युद्ध छोड़कर कीचड़ में छिपा पड़ा है ।'

इत्यादि से लेकर 'दुर्योधन का तालाब छोड़कर वेग से निकल आना' इत्यादि बातों से और भीम के दुर्वचन एवं जलावलोडन से, जो कि दुर्योधन को तर्जित [=भर्त्सित] एवं उद्वेलित करने वाला है; पाण्डवों के विजय के अनुकूल होने से तथा दुर्योधन को जलाशय से उठाने में कारण होने से यहाँ 'द्युति' कही गई है ।

अथ प्रसङ्गः—

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १८७]—वसुभूतिः—'देव ! याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता ।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालकः—एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविणअदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णीअदि । एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवण्णलोभेण वावादिदत्ति ।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते । एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति ।')

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥' [मृच्छ० १०.१२]

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः ॥

---

७. अब **प्रसंग** [नामक अवमर्श-सन्धि के सातवें अंग का लक्षण करते हैं]—

गुरुजनों [अर्थात् महान् पूर्वजों] के कीर्तन को 'प्रसङ्ग' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'वसुभूति [का यह कथन]—देव ! सिंहलेश्वर ने वासवदत्ता को जली हुई सुनकर अपनी रत्नावली नाम की आयुष्मती पुत्री को जो पहले से ही प्रार्थित थी उसे स्वामी को प्रदान कर दिया है ।' इत्यादि कथन के द्वारा रत्नावली लाभ के अनुकूल उच्च वंश को प्रकाशित करने के लिए प्रसंगवश गुरुजन का अर्थात् सिंहलेश्वर का कीर्तन होने से यहाँ पर 'प्रसंग' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'मृच्छकटिक' नाटक में—'चाण्डालक—यह सागरदत्त का पुत्र एवं आर्य विनयदत्त का पौत्र चारुदत्त वध के लिए वध्य स्थान पर ले जाया जा रहा है । कहा जाता है सुवर्ण के लोभ से इसने वसन्तसेना नाम की गणिका को मार दिया है ।' इस पर चारुदत्त इस प्रकार कहता है—

'सैकड़ों यज्ञ करने से पवित्र मेरा गोत्र जो सभा में ब्रह्मवादी ब्राह्मणों के द्वारा उच्चारित होता था वह आज मेरे मरने के समय पापवश कुत्सित मनुष्यों [चाण्डालों] के द्वारा घोषणा पर कहा जा रहा है ।'

इत्यादि कथन के द्वारा वध की सूचना और यज्ञादि के अभ्युदय के अनुकूल प्रसंग से चारुदत्त के द्वारा गुरु कीर्तन होने से यहाँ 'प्रसंग' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथ छलनम्—

—छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १६६]—राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी ।' इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद् वत्सराजस्यावमाननात् छलनम् ।

यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननात् छलनमिति ॥

अथ व्यवसायः—

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'ऐन्द्रजालिकः—

किं धरणिए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ जेहि आणत्तिम् ॥ [रत्ना० ४.८]

अहवा किं बहुणा जम्पिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम् ।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥' [रत्ना० ४.९]
('किं धरण्यां मृगांक आकाशे महीधरो जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन ।

---

८. अब **छलन** [नामक अवमर्श-सन्धि के आठवें अंग का लक्षण करते हैं]—

अपमान [=तिरस्कार या अवहेलना] को 'छलन' कहते हैं ॥ ४६ ॥

जैसे 'रत्नावली' में—'**राजा**—आश्चर्य है कि देवी [वासवदत्ता] मेरे विषय में बिलकुल प्रतिकूल हैं ।' इत्यादि के द्वारा यहाँ पर वासवदत्ता के [सागरिका को अन्यत्र भेज देने रूप] कार्य से वत्सराज के [अभीष्ट की सिद्धि में विघ्न होने से] अपमानित होने के कारण 'छलन' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'रामाभ्युदय' नाटक में सीता के परित्याग के द्वारा उनका अपमान होने से 'छलन' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

९. अब **व्यवसाय** [नामक अवमर्श-सन्धि के नौवें अंग का लक्षण करते हैं]—

अपनी शक्ति के कथन को 'व्यवसाय' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में **ऐन्द्रजालिक** इस प्रकार कहता है—

'महाराज ! आपकी जिस वस्तु को देखने की आज्ञा हो सब मैं दिखा सकता हूँ । आज्ञा हो तो पृथ्वी पर चन्द्रमा आकाश में पर्वत, जल में आग का प्रज्वलित होना एवं दोपहर को सन्ध्या होना दिखा सकता हूँ ।'

अथवा अधिक कहने की क्या आवश्यकता—

मम प्रतिज्ञैपा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम् ।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥')

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिकादर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसंहारे—

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः ॥' [वेणी० ६.६]

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम्—

—संरब्धानां[1] विरोधनम् ।

यथा वेणीसंहारे [पृ० २३१]—'राजा—रे रे मरुत्तनय ! किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।

'मैं हृदय से प्रतिज्ञापूर्वक इस बात को कहता हूँ कि अपने गुरुमंत्र के प्रभाव से आप जो कुछ भी चाहते हों सब दिखा सकता हूँ ।'

इत्यादि कथन के द्वारा ऐन्द्रजालिक ने मिथ्या अग्नि को भ्रांति उत्पन्न करके वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति का प्रकाशन किया है [अतएव यहाँ 'व्यवसाय' नामक अवमर्श-सन्धि का अंग है] ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में [युधिष्ठिर इस प्रकार कह रहे हैं]—

'प्रतिज्ञा-भंग से डरने वाले उस वीर भीम के द्वारा आज अवश्य ही तुम्हारे केश-पाश बाँधे जायेंगे और इस केश को खींचने में [प्रेरक] वह दुर्योधन भी मारा जाएगा ।'

इत्यादि कथन के द्वारा युधिष्ठिर ने अपनी दण्ड-शक्ति का प्रकाशन किया है ।

१०. अब **विरोधन** [नामक अवमर्श-सन्धि के दसवें अङ्ग का लक्षण करते हैं]—

[क्रोध आदि में] आवेशयुक्त पात्रों के द्वारा अपने पराक्रम के कथन को 'विरोधन' कहते हैं ।

जैसे 'वेणीसंहार' में—'राजा—[दुर्योधन] अरे ! रे ! मरुत् पुत्र [भीम] वृद्ध राजा [धृतराष्ट्र] के सामने इस प्रकार अपने निन्दनीय कर्मों की क्या प्रशंसा कर रहे हो ? और भी [सुनो]—

तुझ [भीम और], तुम अर्जुन के एवं उस राजा [युधिष्ठिर] तथा उन दोनों [नकुल और सहदेव] के सामने और समस्त राजाओं के सामने भुवनों के अधिपति मेरी आज्ञा से जूए में दासी बनाकर लाई गई तुम्हारी भार्या द्रौपदी के बालों को पकड़कर जब खींचा गया

१. संरम्भोक्तिः इति वा पाठः ।

अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥ [वेणी० ५.३०]

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य ! प्रसीद । किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥ [वेणी० ५.३१]

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
निर्भिद्यमानरणितास्थनि ते शरीरे ॥ [वेणी० ५.३२]

अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत् तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥ [वेणी० ५.३३]

[तब तुम कहाँ थे ?] इस शत्रुता के बदले में बताओ तो सही कि उन राजाओं ने क्या बिगाड़ा था जिसको तुमने मार डाला [और मारकर तुम लोग गर्व से फूल रहे हो] । बाहु के वीर्यातिरेक रूप महान् धन का अतिशय अभिमान रखने वाले मुझे बिना ही जीते हुए यह क्या घमण्ड कर रहे हो ?

(भीम क्रोध का अभिनय करते हैं) **अर्जुन**—आर्य ! प्रसन्न हों । यहाँ क्रोध से क्या लाभ है ?

'यह वचन से हमारा अप्रिय कर रहा है क्योंकि कर्म से अपकार करने की इनमें शक्ति ही नहीं है । सौ भाइयों के वध से दुःखी इसके [इस प्रकार] बड़बड़ाने से हमें क्या व्यथा है ?'

भीम—अरे ! रे । भरत-वंश के कलङ्क [दुर्योधन]—

'हे कटु-प्रलाप करने वाले ! यदि [धृतराष्ट्र] विघ्नस्वरूप उपस्थित न होते तो अपनी गदा की चोट से तेरे शरीर की अस्थियों को चरचराहट के साथ तोड़कर आज ही तुम्हें दुःशासन के पथ का पथिक क्या मैं न बना देता ?'

और भी; हे मूर्ख !

'तेरे कुलरूप कमलिनी के लिए हाथी के समान [विनाशक] भीम के क्रुद्ध होने पर भी तेरे जैसे दुष्ट राजा के अब तक जीवित रहने का यही कारण था कि स्त्रियों की भाँति आँसुओं के द्वारा [अपने सम्बन्धियों का नाश देखकर] तुम शोक प्रकट करो और भाई [दुःशासन] की छाती को फाड़ने [और उसका रक्तपान करने] में तुम साक्षी बनो ।

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किंतु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥' [वेणी० ५.३४]

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वस्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ॥

अथ प्ररोचना—

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ॥ ४७ ॥

यथा वेणीसंहारे–'पाञ्चालकः–अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं संदेहेन–

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥' [वेणी० ६.१२]

इत्यादिना 'मंगलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' [पृ० २६५] इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ॥

राजा—[=दुर्योधन]—अरे नीच ! भरत-कुल-कलङ्क ! पाण्डव-पशु ! मैं तेरे समान आत्मश्लाघा में निपुण तो नहीं हूँ, किन्तु—

'तेरे बान्धव लोग शीघ्र ही मेरी गदा से भिन्न हुई छाती की अस्थियों की माला से भयङ्कर-भूषणों से युक्त तुझको युद्धभूमि में सोता हुआ देखेंगे ।'

इत्यादि के द्वारा भीम और दुर्योधन के आपस में वैरभाव से अपनी-अपनी शक्ति का कथन 'विरोधन' है ।

११. अब **प्ररोचना** [नामक अवमर्श-सन्धि के ग्यारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—
किसी सिद्ध पुरुष के द्वारा, भविष्य में होने वाले कार्य के विषय में पहले से कथन [कि 'यह तो सिद्ध ही है'] 'प्ररोचना' कहलाता है ॥ ४७ ॥

जैसे 'वेणीसंहार' में [पृ० २६२] —**पाञ्चालक**—'मुझे देव चक्रपाणि [=कृष्ण] ने' [आप (युधिष्ठिर) के पास भेजा है] यहाँ से लेकर 'सन्देह करना व्यर्थ है'—[क्योंकि—]

'आप [=युधिष्ठिर] अपने राज्याभिषेक के लिए रत्नों के कलशों को जल से भरवायें; और द्रौपदी बहुत दिनों से खुले हुए केश-पाश को बाँधने का उत्सव करें; क्योंकि, तीक्ष्ण कुदार से दीप्त करने वाले क्षत्रिय रूप वृक्षों को काटने वाले परशुराम और क्रोधान्ध भीम के संग्राम में आ जाने पर [विजय में] क्या सन्देह है ?

इत्यादि से लेकर 'महाराज युधिष्ठिर मंगल करने की आज्ञा देते हैं ।' इत्यादि पर्यन्त इस [पाञ्चालक के कथन] में आगे होने वाले भी द्रौपदी के केश-संयमन और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का सिद्ध पुरुष [भगवान् कृष्ण] द्वारा कथन होने से यहाँ 'प्ररोचना' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथ विचलनम्—

विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—अर्जुनः—तात ! अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥ [वेणी० ५.२७]

अपि च । भीमः—

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा !
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ॥' [वेणी० ५.२८]

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद् विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम् [पृ० २०१]—'यौगन्धरायणः—

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।

---

१२. अब '**विचलन**' [नामक अवमर्श-सन्धि के बारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—
आत्मप्रशंसा को 'विचलन' कहते हैं ।

जैसे 'वेणीसंहार' में—**अर्जुन**—हे तात ! हे मातः !

'तुम्हारे पुत्रों ने जिसके ऊपर सारे शत्रुओं को विजय करने की आशा बाँध रक्खी थी, और जिसके अभिमान के कारण सारे संसार को तिनके के समान तिरस्कृत कर दिया गया था, उस राधा-पुत्र [कर्ण] को युद्धिभूमि में मारने वाला यह मध्यम पाण्डव [अर्जुन] आप दोनों के चरणों में प्रणाम करता है ।

और भी; जैसे **भीम**—

'समस्त कौरवों का नाश कर डालने वाला, दुःशासन के रक्त से मत्त हुआ एवं दुर्योधन की जंघाओं को तोड़कर यह भीम [भी] आपको शिर से प्रणाम करता है ।'

यहाँ पर विजय रूप बीज के अनुकूल अपने गुणों का प्रकाशन होने से 'विचलन' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथवा जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—**यौगन्धरायण**—

'जब देवी वासवदत्ता ने मेरे कहने से पति से वियुक्त होकर रहना स्वीकार किया; तब मैंने स्वामी का दूसरी पत्नी से सम्बन्ध कराकर उन [देवी] को दुःख में डाल दिया

तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः

सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥' [रत्ना० ४.२०]

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः । इति स्वगुणानुकीर्तनाद् विचलनमिति ॥

अथादानम्—

—आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा वेणीसंहारे—'भीमः—ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः !

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं

निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व-

स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥ [वेणी० ६.३७]

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम् [पृ० १९३]—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ सामन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम् ।' ('दिष्टया

और यह भी सच है कि प्रभु की जगत्स्वामित्व की प्राप्ति उस [देवी वासवदत्ता] को आनन्दित करेगी । किन्तु फिर भी लज्जावश मैं उनके सामने मुँह नहीं दिखा सकता ।'

इत्यादि कथन में यद्यपि यौगन्धरायण का अभिप्राय कुछ और है किन्तु 'मैंने वत्सराज के लिए ऐसी कन्या की प्राप्ति करा दी जिसका फल जगत्प्रभुत्व की प्राप्ति है ।' इत्यादि के द्वारा स्व-गुण-कीर्तन होने से यहाँ 'विचलन' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

१३. अब आदान [नामक अवमर्श-सन्धि के तेरहवें अंग का लक्षण करते **हैं]—**

कार्य-संग्रह [अर्थात् नाटक के विस्तार को समेटना] 'आदान' कहलाता है ।

जैसे 'वेणीसंहार' में—[दुर्योधन का वध करके लौटे हुए भीम अपने सैनिकों और सम्बन्धियों से इस प्रकार कहते हैं—] **भीम**—अरे ! ओ समन्त पञ्चक में घूमने वालो !

'मैं राक्षस नहीं हूँ; भूत नहीं हूँ; किन्तु शत्रु के रुधिर रूप जल से आप्लावित अंगों वाला और महान् प्रतिज्ञारूपी गहन समुद्र को पार करने वाला क्रोधी क्षत्रिय हूँ । समराग्नि की ज्वाला द्वारा दग्ध होने से बचे हुए हे वीर क्षत्रियो ! आपको इस प्रकार डरने की आवश्यकता नहीं है, जो कि मरे हुए हाथी और घोड़ों के पीछे तुम लोग छिप रहे हो ।'

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ सम्पूर्ण शत्रुओं के वध रूपी कार्य के संग्रहीत करने से 'आदान' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—**सागरिका**—[दिशाओं को देखकर] भाग्य-वशात् चारो ओर भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित हैं; आज हमारे दुःख का वे अन्त कर

समन्तात् प्रज्वलितो भगवान् हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्' ।) इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखावमानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च—'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः' [रत्ना० ४.२०] इति दर्शितमेवम् ।

इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि । तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ॥

अथ निर्वहणसंधिः—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥

ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे [पृ० ३१६]—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे, वर्धसे । अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्षव्यक्तिः, इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।

यथा च रत्नावल्यां [पृ० १९७] सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसंध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूतिः—(सागरिकां निर्वर्ण्या-

---

देंगे । इस कथन के द्वारा यद्यपि कुछ और ही कहा गया है तथापि दुःखावसान रूप कार्य के समेटने से यहाँ 'आदान' [नामक अवमर्श-सन्धि का अंग] है । अथवा, जैसे ['रत्नावली' में ही] 'स्वामी के जगत्प्रभुत्व की प्राप्ति·····' इत्यादि [यौगन्धरायण के इस कथन में 'आदान'] ही प्रदर्शित किया गया है ।

ये तेरह अवमर्श-सन्धि के अंग हैं । इनमें से अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान मुख्य [अंग] हैं ।

५. निर्वहण सन्धि और उसके विभाग—

अब **निर्वहण-सन्धि** [का लक्षण करते हैं]—

बीज से सम्बन्धित मुख आदि पूर्व-कथित चारो सन्धियों में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए अर्थ जब एक [प्रधान] प्रयोजन की सिद्धि के लिए समेट लिए जाते हैं तब उसे 'निर्वहण-सन्धि' कहते हैं ॥ ४८-४९ ॥

जैसे 'वेणीसंहार' में—**कञ्चुकी**—(पास जाकर हर्ष के साथ) [युधिष्ठिर से कहता है] महाराज ! अभ्युदयकाल है । यह कुमार भीमसेन ही हैं । सुयोधन के घावों से निकलते हुए रक्त से रंग जाने के कारण इनका सम्पूर्ण शरीर अरुण [=लाल] हो रहा है । अतएव पहचाने नहीं जा रहे थे ; अब संदेह न कीजिए ।' इत्यादि कथन के द्वारा मुख आदि संधियों में द्रौपदी के केश-संयमन आदि अर्थात् राज्य लाभ रूप जो बीज यत्र तत्र बिखरा हुआ है उसका एक प्रयोजन के लिए एकत्रित हो जाना 'निर्वहण संधि' है ।

अथवा, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सागरिका रत्नावली, वसुभूति तथा बाभ्रव्य आदि रूप अर्थों [=कार्यों] का जो मुख-सन्धि आदि में बिखरे हैं वत्सराज के ही एक [रत्नावली समागम रूप] कार्य के लिए एकत्रित हो जाना है ।[यह सब कुछ और]—'**वसु-भूति**—(सागरिका को देखकर दूसरी ओर मुँह करके) बाभ्रव्य ! यह तो बिल्कुल राजपुत्री

पवार्य) बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः ॥

अथ तदङ्गानि—

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः[1] ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

संधिर्बीजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १९७]—'वसुभूतिः—बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या। बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात् संधिरिति।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३२१]—'भीमः भवति यज्ञवेदिसंभवे ! स्मरति भवती यत् तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥' [वेणी० १.२१]

रत्नावली के जैसी है'। इत्यादि के द्वारा यहाँ निर्वहण-संधि दिखलाई गई है।

अब उस [निर्वहण-संधि] के अंगों का नाम निर्देश करते हैं—

१. सन्धि ; २. विबोध ; ३. ग्रथन ; ४. निर्णय ; ५. परिभाषण ; ६. प्रसाद ; ७. आनन्द ; ८. समय ; ९. कृति ; १०. भाषा ; ११. उपगूहन ; १२. पूर्वभाव ; १३. उपसंहार और १४. प्रशस्ति—ये चौदह निर्वहण-सन्धि के अंग हैं ॥ ४९-५० ॥

नाम निर्देश के ही क्रम से लक्षण बतलाते हैं—

१. अब सन्धि [नामक निर्वहण-सन्धि के प्रथम अंग का लक्षण करते हैं]—

बीज के उपगमन [पुनरान्वेषण] को 'सन्धि' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**वसुभूति**—बाभ्रव्य ! यह बिल्कुल ही राजपुत्री रत्नावली के समान प्रतीत हो रही है। **बाभ्रव्य**—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ रहा है।' इत्यादि कथन के द्वारा [छिपे हुए] नायिका रूप बीज का अन्वेषण [=उपगमन] करने से यहाँ 'सन्धि' [नामक निर्वहण सन्धि का अंग] है।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—**भीम**—हे देवि ! हे यज्ञ-वेदि से उत्पन्न द्रौपदी ! क्या तुम्हें यह बात स्मरण है जो मैंने तुम्हें कही थी—

'हे देवि ! अपनी चञ्चल भुजाओं से घुमाई हुई भयंकर गदा के प्रहार से चूर-चूर हुई दुर्योधन की दोनों जंघाओं के गाढ़े जमे हुए प्रचुर रक्त से रंगे हुए हाथों से ही यह भीम तुम्हारे बालों को बाँधेगा।'

---

१. 'कृतिर्भाषोपगूहने' इति वा पाठः।

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् संधिरिति ॥

अथ विबोधः—

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १९७]—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका? राजा—देवी जानाति। वासवदत्ता—अज्जउत्त ! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे निहिदा। अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि। ('आर्यपुत्र ! एषा सागरात् प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता। अत एव सागरिकेति शब्द्यते।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता। कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद् विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३१९]—'भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम्? भीमः—सुमहदवशिष्टम्। संयमयामि तावदनेन दुःशासन-शोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद् विबोध इति ॥

यहाँ मुखसन्धि में उपक्षिप्त बीज का पुनः उपगमन [=अन्वेषण] किया जाने से 'सन्धि' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है।

२. अब **विबोध** [नामक निर्वहण-सन्धि के दूसरे अंग का लक्षण करते हैं]—

कार्य अर्थात् फलान्वेषण को 'विबोध' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में—'**वसुभूति**—(ध्यान से देखकर) महाराज ! यह लड़की कहाँ से प्राप्त हुई ? **राजा**—देवी जानती हैं। **वासवदत्ता**—आर्यपुत्र ! 'यह लड़की सागर से प्राप्त हुई है'—यह कहकर अमात्य यौगन्धरायण के द्वारा मेरे हाथों सौंपी गई थी। इसीलिए इसे 'सागरिका' कहते हैं। **राजा**—(मन में सोचता है) अमात्य यौगन्धरायण ने रख दिया था ? यह मुझे बिना बतलाए ऐसा क्यों करेगा ? इत्यादि के द्वारा यहाँ रत्नावली रूप कार्य [=फल] का अन्वेषण किया जाने से 'विबोध' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है।

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में—'**भीम**—छोड़ दें, आर्य ! मुझे क्षणभर के लिए छोड़ दें। **युधिष्ठिर**—अब और क्या शेष रह गया है ? भीम—सबसे अधिक महत्त्व का कार्य तो बच ही गया। दुःशासन के रक्त से भींगे हुए हाथ से मैं 'दुःशासन द्वारा खींचे गये द्रौपदी के जूड़े को तो' बाँध दूँ। युधिष्ठिर—जाओ भाई ! वह तपस्विनी केश संवारने के सुख का अनुभव करे।' यहाँ पर केश-संयमन रूप कार्य [=फल] के अन्वेषण से विबोध [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है।

अथ ग्रथनम्—

ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०२]—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत् कृतम् ।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३१४]—'भीमः—पाञ्चालि । न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु । स्वयमेवाहं संहरामि ।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ॥

अथ निर्णयः—

—ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०३]—यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव ! श्रूयताम् । इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति । तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता, तदा लावाणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः ।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः ।

---

३. अब **ग्रथन** [नामक निर्वहण-सन्धि के तृतीय अंग का लक्षण करते हैं]—

उस [कार्य] के उपक्षेप [=उपसंहार] को 'ग्रथन' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में —'**यौगन्धरायण**—महाराज ! आपसे बिना बताए ही मैंने जो यह सब कार्य कर दिया; अतः क्षमा करें ।' इत्यादि कथन के द्वारा वत्सराज के रत्नावली प्राप्ति रूप कार्य का उपक्षेप होने से यहाँ 'ग्रथन' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—'**भीम**—हे पाञ्चालि ! मेरे जीवित रहते दुःशासन के द्वारा बिखेरे गए केशों को अपने हाथ से मत बाँधना । ठहरो, मैं स्वयं ही बाँधता हूँ ।' इत्यादि कथन के द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन रूप कार्य [=फल] का उपक्षेप [=उपसंहार] होने से यहाँ 'ग्रथन' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

४. अब **निर्णय** [नामक निर्वहण-सन्धि के चौथे अंग का लक्षण करते हैं]—

अनुभव के कथन को 'निर्णय' कहते हैं ॥ ५१ ॥

जैसे 'रत्नावली' में—'**यौगन्धरायण**—(हाथ जोड़कर) सुनिए, महाराज ! यह सिंहलेश्वर की पुत्री हैं । सिद्ध पुरुष ने बताया था कि जो इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा । उनके विश्वास से हमारे द्वारा स्वामी के लिए अनेक बार माँगे जाने पर भी, जब सिंहलेश्वर ने देवी वासवदत्ता के चित्त के खेद को बचाने के लिए [रत्नावली] को नहीं दिया तब मैंने 'लावाणक में देवी [वासवदत्ता] जल गई' यह अफवाह फैलाकर बाभ्रव्य को उन [सिंहलेश्वर] के पास भेजा था ।' इत्यादि कथन के द्वारा यौगन्धरायण ने अपनी अनुभव की बात का ख्यापन किया है; अतः यहाँ 'निर्णय' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३१७]—'भीमः—देव देव अजातशत्रो ! क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः,—

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
　　लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
　　नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥' [६.३९]

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान् निर्णय इति ॥

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मिथो जल्पः—

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २००]—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम् (कृतापराधा देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्) । 'वासवदत्ता—(सास्त्रं, पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे । इदाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि । (अपवार्य) अज्जउत्त ! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण । ता लहुँ अवणेहि से बन्धणम् । ('एहि अयि निष्ठुरे ! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय । आर्यपुत्र ! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन । तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम् ।') राजा—यथाह देवी । (बन्धनमपनयति)

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—**भीम**—देव ! देव ! अजातशत्रु ! अब वह नीच दुर्योधन कहाँ है ? क्योंकि मैंने तो उस दुरात्मा [दुर्योधन] के—

'शरीर को पृथ्वी पर पटककर उसका यह रक्त मैंने चन्दन के समान अपने शरीर में लगा लिया है । [यही नहीं अपितु] चारों समुद्रों का जल जिसकी सीमा है, उस प्रकार की पृथ्वी के साथ लक्ष्मी को आर्य [युधिष्ठिर] में स्थापित कर दिया है । [कौरवों के] भृत्य, मित्र, योधागण, कुरुसेना और [दुर्योधन के] भाई सब इस रणाग्नि में भस्म हो गए । हे राजन् [युधिष्ठिर] अब धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का जो आप नाम ले रहे हैं वह नाम ही केवल शेष रह गया है ।'

इत्यादि कथन के द्वारा अपने अनुभूत अर्थ के कथन से यहाँ 'निर्णय' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

५. अब **परिभाषण** [नामक निर्वहण-सन्धि के पाँचवें अंग का लक्षण करते हैं]—

आपस की बातचीत को 'परिभाषण' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**रत्नावली**—(मन में) देवी का अपराध करने वाली मैं मुँह दिखाने में समर्थ नहीं हूँ । **वासवदत्ता**—(आँसू भरकर पुनः हाथों को फैलाती हुई) अरी निष्ठुरे ! अब भी तो बन्धु-स्नेह प्रदर्शित कर । [फिर राजा से कहती हैं] आर्यपुत्र ! मुझे अपनी इस क्रूरता के कारण लज्जा आ रही है । अतएव जल्दी ही इसके बन्धनों को खोल दें ।' **राजा**—देवी जैसा कहें (बन्धन खोलता है) । **वासवदत्ता**—(वसुभूति को

वासवदत्ता—(वसुभूर्ति निर्दिश्य) । अज्ज ! 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदह्मि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खि दम् ।' ('आर्य ! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम् ।')'' इत्यनेनान्योन्यवचनात् परिभाषणम् ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३२०]—भीमः—कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन ।' [६.४१] इत्यादिना 'क्वासौ 'भानुमती योपहसति पाण्डवदारान् ।' [पृ० ३२१] इत्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम् ॥

अथ प्रसादः—

—प्रसादः पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०२]—'देव ! क्षम्यताम् ।' इत्यादि दर्शितम् ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३१९]—'भीमः—(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये ! दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात् प्रसाद इति ॥

अथानन्दः—

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः—

लक्ष्य करके) आर्य ! अमात्य यौगन्धरायण के द्वारा मैं दुर्जन बना दी गई; जिन्होंने जानते हुए भी मुझे नहीं बताया ।' इत्यादि कथन के द्वारा परस्पर वार्तालाप होने से यहाँ 'परिभाषण' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—**भीम**—[राजपुत्रि !] 'जिस नरपशु दुःशासन के द्वारा राजाओं की सभा में तुम आकृष्ट की गई थी उस दुःशासन के द्वारा·····' इत्यादि से लेकर 'वह भानुमती कहाँ है जो पाण्डवों की पत्नी का उपहास किया करती थी' यहाँ तक परस्पर बातचीत होने से 'परिभाषण' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

६. अब **प्रसाद** [नामक निर्वहण-सन्धि के छठवें अंग का लक्षण करते है]—
प्रसन्न करने [के प्रयत्न] को 'प्रसाद' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'महाराज क्षमा कीजिए' इत्यादि [यौगन्धरायण की इस उक्ति से प्रसन्न करने का प्रयत्न] प्रदर्शित किया गया है ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—**भीम**—(द्रौपदी के पास जाकर) हे देवि ! हे पाञ्चालराजपुत्रि ! शत्रु-कुल के विनाश से, सौभाग्यवश तुम वृद्धि को प्राप्त हो रही हो । इत्यादि कथन से भीमसेन के द्वारा [द्रौपदी की] आराधना होने से यहाँ 'प्रसाद' [नामक निर्वहण सन्धि का अंग] है ।

७. अब **आनन्द** [नामक निर्वहण-सन्धि के सातवें अंग का लक्षण करते हैं]—
अभिलषित वस्तु को प्राप्ति को 'आनन्द' कहते हैं ।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०२]—'राजा—यथाह देवी । (रत्नावलीं गृह्णाति)' ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३२२]—द्रौपदी—णाध ! विसुमरिदह्मि एदं वावारं । णाधस्स पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान् बध्नाति) (नाथ ! विस्मृतास्म्येतं व्यापारम् । नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्यामि ।') इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ॥

अथ समयः—

—समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥

यथा रत्नावल्याम् [पृ० १९९]—'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिंग्य) समस्सस समस्सस बहिणिए ।' ('समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके ।') इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समयः ।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३२४]—'भगवन् । कुतस्तस्य विजयादन्यत् यस्य भगवान् पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**राजा**—जैसी देवी की आज्ञा ।' (रत्नावली को स्वीकार करता है) । [यहाँ पर रत्नावली की प्राप्ति से राजा के अभीष्ट की सिद्धि होने से 'आनन्द' नामक निर्वहण सन्धि का अंग है] ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—'**द्रौपदी**—नाथ ! मैं इस कार्य-कलाप को भूल गई हूँ । आपकी ही कृपा से फिर सीखूँगी (भीम केशों को बाँधते हैं) ।' इस प्रकार इन दोनों ही उदाहरणों के द्वारा वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति तथा द्रौपदी का भीम द्वारा केश-संयमन रूप अभीष्ट की प्राप्ति होने से 'आनन्द' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

८. अब **समय** [नामक निर्वहण-सन्धि के आठवें अंग का लक्षण करते हैं]—
दुःख के दूर हो जाने को 'समय' कहते हैं ॥ ५२ ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**वासवदत्ता**'—(रत्नावली का आलिंगन कर) बहिन ! धीरज धरो; धीरज धरो ।' इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर दोनों बहनों के समागम से दुःख के दूर हो जाने के कारण 'समय' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—भगवन् ! स्वयं पुराणपुरुष भगवान् नारायण जिसके मंगल की कामना करते हों उसकी विजय के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

हे देव ! स्वीय-परिणाम से उत्पन्न गुरु [=पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश] तथा महत्तत्त्वादिकों के क्षुब्ध होने से [अर्थात् सृष्टि के अनुगुण प्रवृत्ति से] सम्भूत मूर्ति [अर्थात् अवतार धारण करने वाले]. गुणी [अर्थात् सत्त्व, रज एवं तम से विशिष्ट]

अजममरमचिन्त्य चिन्तयित्वाऽपि न त्वां

भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा।।' (वेणी० ६.४३)

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति।।

अथ कृतिः—

कृतिर्लब्धार्थशमनम्–

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०५] 'राजा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते? वासवदत्ता—अज्जउत्त ! दूरे से मादुउलम् । ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं न सुमरेदि।' ['आर्यपुत्र। दूरेऽस्या मातृकुलम् । तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।'] इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञःसुश्लिष्टये उपशमनात् कृतिरिति।

यथा च वेणीसंहारे [पृ० ३२६]—'कृष्णः—एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि—' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्त स्तिष्ठन्ति।' इत्यनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमंगलैः स्थिरीकरणं कृतिः।।

अथ भाषणम्—

–मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

संसार के चर और अचर प्राणियों के जन्म, पालन और संहार करने वाले; अजन्मा, अमर और ध्यान में न आने वाले [आकृतिहीन] आपका स्मरण करके ही इस संसार में कोई दुःखी नहीं रह सकता; और आपका दर्शन हो जाने पर तो कहना ही क्या है।

इत्यादि कथन के द्वारा यहाँ पर युधिष्ठिर के दुःख का दूर होना दिखलाया गया है। [अतः 'समय' नामक निर्वहण-सन्धि का अंग है]।

९. अब **कृति** [नामक निर्वहण-सन्धि के नौवें अंग का लक्षण करते हैं]—

प्रयोजन की प्राप्ति के द्वारा उत्पन्न शान्ति को [अर्थात् लब्ध अर्थ के स्थिरीकरण को] 'कृति' कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' में—'**राजा**—देवी के प्रसाद का कौन समादर नहीं करता है? [इसलिए मैं देवी का प्रसाद समझकर रत्नावली को स्वीकार करता हूँ]। **वासवदत्ता**—आर्यपुत्र ! इसका मायका दूर है। अतः ऐसा कीजिए कि यह अपने बन्धु-बान्धवों को याद न करे।' इत्यादि परस्पर कथनों के द्वारा रत्नावली-प्राप्ति के अनन्तर राजा के भली प्रकार से समागम के लिए [प्राप्त अर्थ का] उपशमन करने से यहाँ 'कृति' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है।

अथवा, जैसे 'वेणीसंहार' में—'**कृष्ण**—ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि आदि......... अभिषेक का आरम्भ करते हुए खड़े है—' इत्यादि के द्वारा प्राप्त हुए राज्य का अभिषेक रूप मंगल द्वारा स्थिरीकरण ही 'कृति' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है।

१०. अब **भाषण** [नामक निर्वहण-सन्धि के दसवें अंग का लक्षण करते है]—

सम्मान आदि की प्राप्ति को 'भाषण कहते हैं।

यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०६]—'राजा—किमतःपरमपि प्रियमस्ति ?

यातो [1]विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले

सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।

देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोशलाः

किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ।।' [रत्ना०४.२१]

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद् भाषणमिति ।।

अथ पूर्वभावोपगूहने—

कार्यदृष्टयद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ।। ५३ ।।

कार्यदर्शनं=पूर्वभावः । यथा रत्नावल्याम् [पृ० २०४]—'यौगन्धरायणः—एवं विज्ञाय भगिन्याः संप्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता—फुडं ज्जेव किं ण भणेसि ? पडिवाएहि से रअणमालं त्ति ।' ('स्फुटमेव किं न भणसि ? प्रतिपादयास्मै

जैसे 'रत्नावली' में [यौगन्धरायण के यह पूछने पर कि आपका और कौन-सा प्रिय कार्य करूं ? राजा कहते हैं] '**राजा**—क्या इससे अधिक और भी कुछ प्रिय हो सकता है ?

विक्रमबाहु आत्मसमता को प्राप्त हुए [अर्थात् सम्बन्धी हो गए]; सम्पूर्ण पृथ्वी का सार, समुद्रपर्यन्त-भूमण्डल की प्राप्ति का एकमात्र कारण यह प्रिया सागरिका प्राप्त कर ली गई । अपनी बहन की प्राप्ति से देवी वासवदत्ता [भी] प्रसन्न हो गईं तथा कोशलराज्य पर भी मेरी विजय हुई । अब आप जैसे श्रेष्ठ अमात्य के रहते ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसकी मैं कामना करूं ?'

इत्यादि कथन के द्वारा काम, अर्थ, और मान आदि की प्राप्ति हो जाने से यहाँ पर 'भाषण' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

११., १२. अब **पूर्वभाव** तथा **उपगूहन** [नामक निर्वहण-सन्धि के ग्यारहवें और बारहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

कार्य के दर्शन को 'पूर्वभाव' तथा अद्भुत वस्तु की प्राप्ति को 'उपगूहन' कहते हैं ।। ५३ ।।

कार्य अर्थात् मुख्य फल का दर्शन पूर्वभाव है; जैसे 'रत्नावली' नाटिका में—'**यौगन्धरायण**—इस सबको जानकर अब अपनी बहिन के लिए क्या करना चाहिए ? इसमें देवी वासवदत्ता ही प्रमाण हैं । **वासवदत्ता**—स्पष्ट रूप से क्यों नहीं कहते कि

१. 'नीतः' इति वा पाठः ।

रत्नमालामिति ।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति ॥

अद्भुतप्राप्तिः=उपगूहनम् । यथा वेणीसंहारे: [पृ० ३२२]—'(नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥ [६.४२]

युधिष्ठिरः—'देवि ! एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन ।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । लब्धार्थशमनात् कृतिरपि भवति ॥

अथ काव्यसंहारः—

वराप्तिः काव्यसंहारः—

यथा [रत्नावल्याम् पृ० २०६] यौगन्धरायणः—'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति ॥

रत्नावली इन [उदयन] को दे दो ।' इत्यादि कथन के द्वारा यौगन्धरायण के अभिप्राय के भीतर अनुप्रविष्ट 'वत्सराज को रत्नावली दे दो' इस मुख्य कार्य का वासवदत्ता के द्वारा दर्शन होने से 'पूर्वभाव' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

अद्भुत अर्थ की प्राप्ति 'उपगूहन' है । जैसे 'वेणीसंहार' में—(नेपथ्य में) महायुद्ध की अग्नि में जलने से बचे हुए क्षत्रियों का कल्याण हो ।

'जिस [केशपाश] के खुल जाने से क्रोध में अंधे होकर राजाओं का संहार करने वाले पाण्डु के पुत्रों ने प्रत्येक दिशा में राजाओं के अन्तःपुरों को इस समय प्रतिदिन के लिए खुले हुए केशों वाला कर दिया था; कुपित यमराज के मित्र के समान उसी कृष्ण [=द्रौपदी] का केशपाश जो कि कुरुवंश के लिए धूमकेतु [=उतपातक ग्रह] के समान था, भाग्य से आज बँध गया है । अतः प्रजाओं के विनाश का अन्त हो और राजाओं के वंशों का कल्याण हो ।'

'युधिष्ठिर—हे देवि ! अन्तरिक्षचारी सिद्ध जनों के द्वारा भी इस केश-संयमन का अभिनन्दन किया जा रहा है ।' इत्यादि कथन के द्वारा अद्भुत अर्थ की प्राप्ति का प्रदर्शन होने से यहाँ 'उपगूहन' [नामक निर्वहण सन्धि का अंग] है; और अभिलषित वस्तु के उपशमन अर्थात् स्थिरीकरण के कारण यहाँ 'कृति' भी है ।

१३. अब काव्यसंहार [नामक निर्वहण-सन्धि के तेरहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति को 'काव्यसंहार' कहते हैं ।

जैसे 'रत्नावली' में—यौगन्धरायण—'और मैं आपका क्या उपकार करूँ ?' इत्यादि कथन के द्वारा काव्य के अर्थ का उपसंहार होने से यहाँ 'काव्यसंहार' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है ।

अथ प्रशस्तिः—

—प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

यथा वेणीसंहारे [पृ० ३२८]—'प्रीततरश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—

अकृपणमतिः कामं[1] जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवन् भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः ॥' [वेणी० ६.४६]

इति शुभशंसनात् प्रशस्तिः । इत्येतानि चतुर्दश निर्वहणाङ्गानि । एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंधयः प्रतिपादिताः ॥

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह—

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

कानि पुनस्तानि षट् प्रयोजनानि ? [तान्याह]—

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥

---

१४. अब प्रशस्ति [नामक निर्वहण-सन्धि के चौदहवें अंग का लक्षण करते हैं]—

कल्याण की कामना को 'प्रशस्ति' कहते हैं ।

जैसे 'वेणीसंहार' में—'युधिष्ठिर—यदि आप बहुत प्रसन्न हों तो यह आशीर्वाद दें कि—

लोग छद्म-बुद्धिरहित होकर [शास्त्रों में निर्धारित] पुरुष की आयुपर्यन्त जीवित रहें । भगवान् पुरुषोत्तम में अनन्य भक्ति हो; प्रजा-प्रेमी होते हुए राजा विद्वानों का बन्धु, गुणों का विशेषज्ञ, सर्वदा पुण्य-कृत्य करने वाला एवं राजाओं के समूह को प्रसन्न करने वाला हो ।'

इस प्रकार से प्रस्तुत कथन में कल्याण की कामना होने से 'प्रशस्ति' [नामक निर्वहण-सन्धि का अंग] है । ये निर्वहण-सन्धि के चौदह अंग हैं । इस प्रकार आचार्य के द्वारा चौसठ अंगों से समन्वित पञ्चसन्धियों का प्रतिपादन किया गया है ।

चौंसठ सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन—

अब सन्धि के इन अङ्गों के छः प्रकार के प्रयोजन बतलाते हैं—

ऊपर बताई हुई चौंसठ सन्धियों के अंगों के छः प्रकार के प्रयोजन होते हैं ॥ ५४ ॥

तो फिर वे छः प्रकार के प्रयोजन कौन-कौन से हैं ? [उन्हीं को बतला रहे हैं]—

१. इष्ट अर्थात् विवक्षित अर्थ की रचना ; २. छिपाने योग्य वस्तु को छिपाके ही रखना ; ३. जिस बात का कहना उचित हो उसे प्रकाश में लाना ; ४. दर्शकों के अन्दर नाट्य के विषय में प्रीति पैदा करना ; ५. चमत्कार पैदा करना ; ६. कथा का उपक्षय अर्थात् विच्छिन्न न होने देना ॥ ५५ ॥

---

१. अकृपणमरुक्श्रान्तं जीव्यात्' इति वा पाठः ।

विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयरागवृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि संपाद्यन्त इति ॥

पुनर्वस्तुविभागमाह—

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत् किंचिद् दृश्यश्राव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

---

१. विवक्षित अर्थ का निबन्धन, २. गोप्य वस्तु को गुप्त ही रखना, ३. प्रकाशित करने योग्य वस्तु को ही प्रकाशित करना, ४. अभिनय [=प्रयोग] के विषय में दर्शकों में अनुराग जागृत करना, ५. प्रयोग को चमत्कारपूर्ण बनाना, ६. काव्य की कथावस्तु को विस्तृत करना—इन छः प्रयोजनों का सम्पादन सन्धि के अंगों के द्वारा होता है ।

परिष्कार—(क) प्रश्न है कि जब मुख आदि सन्धियाँ [=अंगी] हैं तो फिर सन्धि के अंगों की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर ५५ वीं कारिका में दिया गया है। एक अंगी के द्वारा बहुत से और परस्परविरुद्ध प्रयोजन का सम्पादन नहीं हो सकता। इसलिए उसके बहुत से अंगों के द्वारा अनेक प्रकार के प्रयोजनों का सम्पादन होने के कारण उसका प्रयोजनत्व ठीक है। (ख) 'अभिनेयरागवृद्धि' पद का अर्थ है 'अभिनयदर्शनेन सामाजिकानां कुतूहलवृद्धिः'। (ग) इन सन्ध्यंगों के माध्यम से कवि नाट्य-रचना को उत्कृष्ट रूप प्रदान करता है; जिसका निरूपण नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा इस प्रकार किया गया है—जिस प्रकार अंगों से रहित मनुष्य युद्ध आरम्भ करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार अंगों से रहित काव्य प्रयोग के योग्य कभी नहीं हो सकता। जो काव्य हीन अर्थ वाला भी हो किन्तु ठीक रूप में अंगों से युक्त हो, प्रदीप्त अंगों के कारण ही वह शोभा को प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। यदि कोई काव्य उच्चकोटि के अर्थ वाला हो किन्तु अंगों से रहित हो तो प्रयोग की हीनता के कारण वह सज्जनों के मन को पसन्द नहीं आता। अतएव कवि को चाहिए कि रस और विधान के अनुसार ठीक रूप में अंगों का प्रयोग अवश्य करें।

कथावस्तु की योजना की दृष्टि से सम्पूर्ण इतिवृत्त का विभाजन—

पुनः कथावस्तु के दो प्रकार बतलाए जा रहे हैं—

समस्त कथावस्तु का दो प्रकार से विभाजन करना चाहिए—कथावस्तु के कुछ अंश मात्र सूच्य होते हैं [और कुछ अंश असूच्य। असूच्य वस्तु] दृश्य तथा श्राव्य दोनों ही होती है ॥ ५६ ॥

परिष्कार—(क) पहले प्रख्यात और उत्पाद्य आदि कथावस्तु का विभाजन दिखलाते हुए क्रमशः अंगों के सहित उनकी सन्धियों का प्रतिपादन हो चुका है। पुनः इसी वस्तु का विभाजन करते हैं। (ख) 'सर्वस्यापि' पद का अर्थ मात्र आधिकारिक वस्तु से नहीं अपितु प्रासंगिकात्मक वस्तु से भी है। (ग) किसी वस्तु का अंक में प्रवेश आवश्यक नहीं है। अतः वह वस्तु मात्र सूच्य होनी चाहिए। (घ) 'अपरम्' का अर्थ है असूच्य। दृश्यं च श्राव्यं च दृश्यश्राव्यम्। समस्त वस्तु दो प्रकार की होती है सूच्य और असूच्य। असूच्य कथावस्तु पुनः दो प्रकार की है—दृश्य और श्राव्य अर्थात् उन्हें मंच पर दिखाया भी जाता है और सुनाया भी जाता है। फलतः वस्तु त्रिविध हुई सूच्य, दृश्य और श्राव्य।

कीदृक् सूच्यं, कीदृग् दृश्यश्राव्यमित्याह—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

तत्र विष्कम्भः—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

कैसी वस्तु सूच्य होती है, एवं कैसी दृश्य तथा श्राव्य होती है ?—यह बतलाते हैं—

१. सूच्य—नाट्य में आने वाली ऐसी कथावस्तु को, जो नीरस तथा अनुचित हो, उसकी केवल सूचना-मात्र दे देनी चाहिए। २. दृश्य—जिस कथावस्तु में माधुर्य, उदात्तता, रस एवं भाव पूर्णतया लबालब भरे हैं उसी को रङ्गमंच पर दिखाना चाहिए ॥ ५७ ॥

सूच्य वस्तु के प्रतिपादन का प्रकार बतलाते हैं—

१. विष्कम्भक, २. चूलिका, ३. अङ्कास्य, ४. अङ्कावतार और ५. प्रवेशक—इन पाँच अर्थोपक्षेपकों अर्थात् कथावस्तु के सूचकों के द्वारा कथावस्तु का प्रतिपादन करना चाहिए ॥ ५८ ॥

परिष्कार—त्रिविध प्रकार की वस्तु में सूच्य और दृश्य की व्यवस्था बतलाकर श्राव्य को बाद में कहेंगे। इसलिए सूच्य वस्तु के सूचना के प्रकार का प्रतिपादन इस कारिका के द्वारा किया गया है।

१. उन [अर्थोपक्षपकों] में विष्कम्भक [नामक प्रथम अर्थोपक्षेपक का लक्षण कहते हैं]—

जो कथा पहले हो चुकी है अथवा जो आगे आने वाली हो, संक्षेप में उन कथांशों का मध्यम श्रेणी के पात्रों के द्वारा दिग्दर्शन करा देने वाला अर्थोपक्षेपक 'विष्कम्भक' कहलाता है ॥ ५९ ॥

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविधः—शुद्धः, सङ्कीर्णश्चेत्याह—

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति । मध्यमाधमपात्रैर्युगपत् प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ॥

अथ प्रवेशकः—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः[1] शेषार्थस्योपसूचकः ।

बीते हुए अथवा भविष्य में घटित होने वाले कथांशों का ज्ञापन जब एक या दो मध्यम पात्रों के द्वारा होता है तो उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं ।

वह दो प्रकार का होता है—१. **शुद्ध** और २. **संकीर्ण** । इनका लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—

एक या अनेक मध्यम श्रेणी के पात्रों के द्वारा सम्पादित विष्कम्भक 'शुद्ध' कहलाता है; और मध्यम तथा अधम श्रेणी के पात्रों द्वारा मिलकर प्रयुक्त विष्कम्भक 'संकीर्ण' कहलाता हैं ।

एक या दो मध्यम पात्रों से सम्पादित 'शुद्ध विष्कम्भक' होता है; मध्यम तथा अधम पात्रों के द्वारा युगपत् सम्पादित 'संकीर्ण विष्कम्भक' होता है ।

परिष्कार—(क) कारिका में प्रयुक्त 'मध्यमपात्रप्रयोजितः' का समास इस प्रकार होगा—मध्येन प्रयोजितः मध्याभ्यां वा प्रयोजितः'—इति विगृह्णाति मध्येन मध्याभ्यां वा प्रयोजितः । प्रस्तुत स्थल में 'असम्पृक्ते' (पा० सू० ४-३-९) सूत्र से उत्कर्षापकर्षक अर्थ में मध्य शब्द की निष्पत्ति की गई है; और इस सन्दर्भ में इसका अर्थ होगा ऐसा पात्र जो न उत्तम हो और न नीच हो । (ख) जब एक या दो मध्यम पात्र होते हैं तब विजातीय संस्पर्श के अभाव के कारण संकीर्णता नहीं होती; किन्तु जब नीच पात्रों का संस्पर्श विजातीय के अनुप्रवेश से सम्भव हो तभी होती है । इसलिए जब एक मध्यम पात्र के द्वारा और एक नीच पात्र के द्वारा द्वित्व होता है तभी सांकर्य कहा गया है । (ग) वृत्तिकार के द्वारा 'युगपत्' इसीलिए कहा गया है कि एक ही अर्थ में उक्ति प्रत्युक्ति क्रम से प्रतिपाद्यमान होने से सांकर्य है ।

२. अब **प्रवेशक** [नामक द्वितीय अर्थोपक्षेपक का लक्षण बतलाते हैं]—

उसी तरह [अर्थात् विष्कम्भक की ही भाँति] अनुदात्त उक्तियों से [अर्थात् निम्न भाषा से] नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने वाला दो अंकों के बीच में स्थित और शेष अर्थ की सूचना देने वाला 'प्रवेशक' कहलाता है ॥ ६०-६१ ॥

---

१. 'अन्ते' इति वा पाठः ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः । अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ॥

'तद्वदेव' इस पद से भूत एवं भविष्य के अर्थ की ज्ञापकता कही गई है । 'अनुदात्त उक्ति से एक या अनेक नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त होता है'—कारिका में इस कथन से विष्कम्भक के लक्षण का अपवाद प्रस्तुत किया गया है । 'दो अंकों के मध्य में'—कारिका में इस कथन के द्वारा प्रथम अंक में प्रवेशक का निषेध किया गया है ।

परिष्कार—(क) ५८वीं कारिका में यतः प्रवेशक का पाँचवाँ स्थान है किन्तु विष्कम्भक के अनन्तर ही इसका लक्षण इसलिए प्रस्तुत किया गया क्योंकि यह उसके समान है । अतः यहाँ अतिदेश, अर्थात् एक पदार्थ के धर्म का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध, दिखलाने के, सौकर्य के लिए किया गया है । (ख) जब अतिदेश प्राप्त ही है और विष्कम्भक के सभी धर्म उसमें हैं तो उसका फिर से कथन वृत्तिकार के अनुसार इसलिए किया गया है कि यह भी भूत एवं भविष्यत् के अर्थ का ज्ञापन कराने वाला होता है । (ग) 'अनुदात्तोक्त्या' इस पद से 'पात्रानुगुण्य के द्वारा उक्त होने पर भी उदात्तत्व नहीं है'—यह समझाया गया है । (घ) 'नीचपात्रप्रयोजितः' इस पद से एक, दो अथवा बहुत से पात्रों द्वारा प्रयुक्त हों किन्तु वे सभी नीच ही हों—ऐसा कहते हुए संकीर्णता मात्र का निवारण किया गया है ।

विष्कम्भक तथा **प्रवेशक** में भेद इस प्रकार हम देख सकते हैं—

विष्कम्भक	प्रवेशक
१. यह भूत एवं भावी कथांशों का सूचक है ।	१. यह भी भूत एवं भावी कथांशों [=घटनाओं] का सूचक है ।
२. (i) इसमें एक या अनेक मध्यमपात्र का प्रयोग किया जाता है । (ii) कभी-कभी मध्यमपात्र के साथ अधम पात्रों का भी प्रयोग होता है ।	२. (i) इसमें एक या अनेक अधम पात्रों का प्रयोग होता है । (ii) इसमें सभी पात्र अधम होते हैं ।
३. इसकी भाषा प्रायः संस्कृत होती है । किन्तु अधम पात्रों की भाषा [शौरसेनी] प्राकृत होती है ।	३. इसकी भाषा संस्कृत न होकर निश्चित रूप से निम्नकोटि की प्राकृत ही होती है ।
४. इसका प्रयोग नाटक के प्रथम अंक में भी हो सकता है और बाद के दो अङ्कों के बीच में भी ।	४. इसका प्रयोग निश्चित रूप से दो अङ्कों के बीच में होता है ।
५. संक्षेप में यह कथावस्तु की कड़ी को जोड़ने का कार्य करता है ।	५. संक्षेप में यह भी कथावस्तु की कड़ी को जोड़ता है ।

अथ चूलिका—

[१]अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनम्=चूलिका । यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ [पृ० ८१]—'(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः । (ततः प्रविशति तपोधना) ।' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनात् चूलिका ।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ [पृ० १४२]—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः ! प्रवर्त्यन्त प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥ [महावीर० ४.१]

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनात् चूलिका ॥

अथाङ्कास्यम्—

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

३. अब चूलिका [नामक तृतीय अर्थोपक्षेपक का लक्षण बतलाते हैं]—

जहाँ अर्थ अर्थात् कथावस्तु की सूचना जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा दी जाय, वहाँ 'चूलिका' [नामक अर्थोपक्षेपक होता] है ॥ ६१ ॥

अर्थात् नेपथ्य पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना 'चूलिका' है। जैसे, 'उत्तररामचरित' के द्वितीय अंक के आदि में—'नेपथ्य में—तपोधना [आत्रेयी] का स्वागत है । (इसके बाद तपोधना आत्रेयी प्रवेश करती हैं) ।' इस प्रकार यहाँ नेपथ्य पात्र के द्वारा [वन देवता] वासन्ती को आत्रेयी के आगमन के विषय में सूचना दी गयी है, अतः 'चूलिका' है।

अथवा, जैसे [भवभूति के ही अन्य नाटक] 'महावीरचरित' के चतुर्थ अंक के आदि में—'(नेपथ्य से) वायुयान से भ्रमण करने वाले देवताओं ! मंगल करो; मंगल करो ।

'कृशाश्वमुनि के शिष्य विश्वामित्र, जिनका प्रताप सूर्यवंश में आज भी विराज रहा है, उनकी जय हो, जय हो ! और साथ ही क्षत्रियों के वैरी परशुरामजी पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र, जो संसार को अभय प्रदान करने का व्रत धारण करते हैं और जो तीनों लोकों को रक्षा करने वाले तथा सूर्यकुल के लिए चन्द्रमा के समान हैं, उनकी जय हो ।'

यहाँ पर नेपथ्य के पात्र देवताओं द्वारा 'परशुराम पर राम ने विजय प्राप्त कर ली', इस बात की सूचना दी गई है, अतः यहाँ 'चूलिका' है ।

४. अब अङ्कास्य [नामक चतुर्थ अर्थोपक्षेपक का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं]—

अगले अंक के अन्त में आने वाले पात्रों द्वारा असम्बद्ध अगले अंक की कथावस्तु [=अर्थ] की सूचना देने को अंकास्य कहते हैं ।

१. 'अन्तर्यवनिका' इति वा पाठः ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रम् । तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति ।

यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते [पृ० १०४]—'(प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः । इतरे—क्व भगवन्तौ ? सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे—तदनुरोधात् तत्रैव गच्छामः' । इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्र-परशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेद उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति ॥

अंक के अन्त में आने वाले पात्र ही अंकान्तपात्र कहलाते हैं । इस प्रकार के पात्र के द्वारा जहाँ विश्लिष्ट और अगले अंक के प्रारम्भ में आने वाली कथावस्तु की सूचना दी जाय वह उत्तराङ्कावतार 'अङ्कास्य' कहा गया है ।

जैसे 'महावीरचरित' के द्वितीय अङ्क के अन्त में प्रविष्ट होकर सुमन्त्र कहते हैं—'आप लोगों को भार्गव परशुराम के साथ-साथ पूज्य वसिष्ठ और विश्वामित्र बुला रहे हैं ।

अन्य दोनों—वे दोनों भगवान् [वसिष्ठ और विश्वामित्र] कहाँ हैं ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के निकट [विद्यमान] हैं ।

अन्य दोनों—तो उनके अनुरोध से हम वहीं चल रहे हैं । इस प्रकार द्वितीय अंक समाप्त हो जाने पर [तीसरे अंक के प्रारम्भ में] (तब बैठे हुए वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम प्रवेश करते हैं) । पूर्व अङ्क में शतानन्द और जनक की कथा आई थी । उसका विच्छेद हो जाने पर उसी अंक के अन्त में सुमन्त्र नामक पात्र ने प्रविष्ट होकर वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम के मिलने की सूचना दी और [उसी सूचना का आश्रय लेकर] अग्रिम अंक की कथा का अवतार हुआ । अतएव उत्तर अंक के मुख या प्रारम्भिक भाग को सूचित करने के कारण इस सूचना को 'अङ्कास्य' [नामक अर्थोपक्षेपक कहा] गया है ।

परिष्कार—(क) 'अङ्कान्तः' का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि अङ्क के मध्य में प्रविष्ट अर्थात् पूरे अङ्क में अनुवर्तमान पात्र भी अङ्कान्त पात्र है । ऐसा अर्थ कोई न कर ले इसीलिए वृत्तिकार ने 'अङ्कान्त एव.....' से अङ्क के अन्त में आए हुए पात्र अङ्कान्त पात्र हैं—यह बतला दिया । अर्थात् वक्ष्यमाणाङ्कार्थ सूचनाय अङ्कान्ते एव प्रविष्टं पात्रमङ्कान्तपात्रम् । (ख) अङ्कास्य में अगला अङ्क पूर्व अङ्क से असम्बद्ध रूप में आरम्भ होता है और अङ्कावतार में पूर्व अङ्क के अंग रूप में ही नया अङ्क आरम्भ होता है ।

अथाङ्कावतारः—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते[1] पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

यत्र प्रविष्टपात्रेणासूचित एव[2] पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यः सोऽङ्कावतारः ।

यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः—तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं कदुअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेध । अधवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि ।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम् । अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति ।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति ॥

---

५. अब अङ्कावतार [नामक पाँचवें अर्थोपक्षेपक का लक्षण बतलाते हैं]—

जहाँ पूर्व अंक की वस्तु का तारतम्य टूटे बिना दूसरे अंक को वस्तु का अवतरण हो जाय वह 'अङ्कावतार' कहलाता है ॥ ६२ ॥

जहाँ सूचना के लिए पात्रान्तर के प्रवेश के बिना ही, पूर्व अङ्क में आए हुए पात्रों को ही पात्र बनाकर, पूर्व अङ्क के कथाभाग को बिना विच्छिन्न किए ही दूसरा अङ्क अवतरित हो जाता है और जहाँ प्रवेशक एवं विष्कम्भक आदि [अर्थात् अङ्कास्य और चूलिका] का प्रयोग नहीं होता है वह 'अङ्कावतार' है ।

जैसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अङ्क के अन्त में विदूषक कहता है—'अतएव तुम दोनों जाकर देवी के प्रेक्षागृह में गाने की सामग्री एकत्र करके श्रीमान् के पास दूत भेज देना', अथवा 'मृदङ्ग का शब्द ही इनको उठा देगा ।' इस प्रकार के उपक्रम के चलते रहने पर मृदङ्ग के शब्द के सुनने के अनन्तर सभी प्रथम अङ्क के पात्र द्वितीय अङ्क के आरम्भ में [हरदत्त तथा गणदास के शिष्यशिक्षाक्रम के] संक्रमण का दर्शन करते हैं । इस तरह प्रथम अङ्क की वस्तु अविच्छिन्न रूप में ही द्वितीय अङ्क में अवतरित हुई हैं; अतः यहाँ 'अङ्कावतार' नामक [अर्थोपक्षेपक है ।]

परिष्कार—(क) वृत्तिकार द्वारा 'यत्र' से आरम्भ करके अङ्कावतार के लक्षण को ही साफ किया गया है; और इस सन्दर्भ में कारिका में आए 'अविभागतः' पद का अर्थ 'असूचित एव' किया गया है । इस प्रकार अङ्कावतार उसे कहते हैं जहाँ उत्तराङ्कपात्र के प्रवेश में पूर्व अङ्क में सूचित पात्र बिना किसी पृथक् सूचना के ही (अविभागतः असूचित एव) उपस्थित हो जायँ वह 'अङ्कावतार' है । अङ्कास्य और अङ्कावतार में बहुत ही साम्य है । इनका तुलनात्मक भेद हम इस प्रकार देख सकते हैं—

---

१. 'पात्राङ्कस्य' इति वा पाठः । २. 'सूचितमेव' इति वा पाठः ।

एभिः संसूचयेत् सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥ ६३ ॥

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र,—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमितिशब्दाभिधेयम् ।

	अङ्कास्य	अङ्कावतार
साम्य	१. कथा का तारतम्य नहीं टूटना चाहिए ।	१. कथा विच्छिन्न नहीं होनी चाहिए ।
	२. पूर्व अङ्क के अन्त में आए पात्र सूचना देते हैं ।	२. पूर्व अङ्क के ही पात्र द्वितीय अङ्क में अवतरित होते हैं ।
वैषम्य	१. यह प्रथम अंक के अन्त में घटित होता है ।	१. यह द्वितीय अंक के प्रारम्भ में पूर्व के पात्रों के अवतरण के ही साथ घटित होता है ।
	२. द्वितीय अंक की कथा की सूचना प्रथम अंक के अन्त में ही हो जाती है ।	२. द्वितीय अंक की कथा की सूचना इसी अंक के आरम्भ में पूर्व पात्रों के अवतरण के साथ ही होती है ।

उपर्युक्त अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूक्ष्म कथावस्तु को सूचित करना चाहिए और दृश्य कथावस्तु को अङ्कों के द्वारा दिखलाना चाहिए ।।

नाट्य की प्रकृति की दृष्टि से कथावस्तु के भेद—

पुनः कथावस्तु के विभाग को तीन प्रकार का बतलाते हैं—

नाट्य-धर्म [अर्थात् नाट्य या रूपक की प्रकृति; अथवा अभिनय की मर्यादा] की दृष्टि से कथावस्तु पुनः तीन प्रकार की बतलाई गई है ॥ ६३ ॥

यह [=३. श्राव्य] किस तरह तीन प्रकार का होता है ? उसी को कहते हैं—

१. सभी के सुनने योग्य वस्तु [=सर्वश्राव्य]; २. यत्किंचित् नियत जनों के ही सुनने योग्य वस्तु [=नियत श्राव्य]; तथा ३ किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु [=अश्राव्य] ।

उनमें—

सभी के सुनने योग्य वस्तु को 'प्रकाश' तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु को 'स्वगत' कहते हैं ॥ ६४ ॥

जो वस्तु सभी के सुनने योग्य होती है वह 'प्रकाश' शब्द से कही जाती है और जो वस्तु सभी के सुनने योग्य नहीं होती है 'स्वगत' शब्द से अभिहित होती है ।

नियतश्राव्यमाह—

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

अथापवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ॥

परिष्कार—कथावस्तु का पुनः विभाग करते हुए ५६ वीं कारिका में वस्तु के सूच्यत्व और दृश्यत्व को दिखलाते हुए उन्हीं का कथन ६३ वीं कारिका तक हुआ । वहीं पर गिनाए हुए वस्तु के श्राव्यत्व वाले विभाग का विवेचन अवशिष्ट था । उसी का प्रकार ६४ वीं कारिका में कहा गया है ।

'नियतश्राव्य' को कहते हैं—

'नियतश्राव्य' नामक अन्य नाट्यधर्म दो प्रकार का है—१. जनान्तिक, और २. अपवारित ।

दूसरा अर्थात् नियतश्राव्य तो जनान्तिक और अपवारित भेद से दो प्रकार का होता है ।

उनमें से 'जनान्तिक' का लक्षण बतलाया जा रहा है—

अन्तरा अर्थात् उक्ति प्रत्युक्ति के मध्य में जो त्रिपताका रूप हाथ की मुद्रा के द्वारा दूसरों को अपवार्य अर्थात् बचाकर कुछ पात्रों के मध्य में दो पात्र आपस में जो बात-चीत करते हैं—उसे 'जनान्तिक' कहा गया है ॥ ६५-६६ ॥

जिस पात्र को कोई बात नहीं सुनानी है तो उसके और अपने बीच में अनामिका तथा अँगूठे को कुछ टेढ़ा करके सभी अंगुलियों को ऊपर की ओर उठाकर और त्रिपताकाकार रूप में हाथ की मुद्रा को करके दूसरे पात्र के साथ जो मन्त्रणा की जाती है उसे 'जनान्तिक' कहा गया है ।

अब अपवारित [नामक नियतश्राव्य के दूसरे भेद का लक्षण बतलाते हैं]—

पास में विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेरकर उससे छिपाकर जब किसी रहस्य की बात अन्य पात्र से की जाती है तो वह 'अपवारित' कहलाता है ॥ ६६ ॥

दूसरी ओर मुँह फेरकर दूसरे से गोपनीय बात कहना ही 'अपवारित' है ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

स्पष्टार्थः ।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि । तेषामभारतीयत्वान्नाममात्रप्रसिद्धानां केषांचिद् देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं-

रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।

परिष्कार—अन्य के साथ जब बातचीत कर रहे हों तभी उससे मुँह को फेरकर (=परावृतकरके) दूसरे के कान में जो कहा जाय वह 'अपवारित' होता है । जनान्तिक से इसका भेद हम इस प्रकार देख सकते हैं—

	जनान्तिक	अपवारित
साम्य	१. यह गुप्त मन्त्रणा है ।	१. यह भी गुप्त कथन है ।
	२. किसी न किसी से बातचीत होती रहती है ।	२. इसमें बात चलती रहती है; उसी बीच हटते हैं ।
वैषम्य	१. इसमें त्रिपताका मुद्रा से कर से मुँह छिपाकर बात कही जाती है ।	१. किसी से बातचीत के दौरान उससे मुँह फेरकर अन्य से बातचीत की जाती है ।
	२. जनान्तिक का कथन जन-समुदाय के बीच ही होता है ।	२. जबकि जन-समुदाय से एक ओर हटकर कोने आदि में अपवारित कथन होता है ।

नाटक की प्रकृति [=धर्म] के कथन के सन्दर्भ में ही 'आकाशभाषित' का लक्षण बतलाते हैं—

जब अकेला ही कोई पात्र दूसरे पात्र के बिना ही तथा किसी के बिना कुछ कहे भी मानों जैसे सुनकर ही 'क्या कह रहे हो ?' इत्यादि प्रश्न करके आकाश में कुछ बोलता है तो उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं ॥ ६७ ॥

इस कारिका का अर्थ स्पष्ट ही है ।

कुछ लोगों ने 'प्रथम कल्प' इत्यादि कुछ और भी नाट्यधर्मों का उल्लेख किया है; किन्तु वे नाट्यधर्म भरतसम्मत नहीं हैं; तथा वे केवल नामावली में ही प्रसिद्ध हैं [अर्थात् उनके लक्षण आदि नहीं कहे गए हैं] । यहीं नहीं अपितु उनमें से कुछ देश-भाषा अर्थात् स्थान विशेष की बोली मात्र हैं । अतः वे नाट्य धर्म नहीं हैं । इसीलिए यहाँ उनका लक्षण नहीं किया गया है । अतः धनञ्जय अब उपसंहार प्रस्तुत कर रहे हैं—

इस प्रकार [कवि] वस्तु के उपर्युक्त [इह] समस्त भेद-प्रभेदों को [समझकर] तथा रामायण आदि [अर्थात् महाभारत और पुराण] एवं बृहत्कथा का भलीभाँति परिशीलन करके तब [=तवनु] नेता की प्रकृति के अनुकूल और रस के भी अनुरूप,

आसूत्रयेत् तदनु नेतृरसानुगुण्या-
च्चित्रां-कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥ ६८ ॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥

[वस्तुविभेदजातम्—वस्तु=वर्णनीयं, तस्य विभेदजातं नाना[1] भेदाः । रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य=आलोच्य । तदनु=एतदुत्तरम् । नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम्=चित्ररूपाम्, कथाम्=आख्यायिकाम् । चारूणि यानि वचांसि तेषां प्रपञ्चैर्विस्तारैरासूत्रयेदनुग्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

'चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः ।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ॥
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः ।
चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥' [बृ० क० २.२१६]

इति बृहत्कथायां सूचितम् । श्रीरामायणोक्तकथामूलं वीरचरितादि । आदिपदात् भारताद्युक्तदुष्यन्तशकुन्तलादिकथामूलमभिज्ञानशाकुन्तलादि ज्ञेयम्] ॥

॥इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके वस्तुविभागो नाम प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥

उचित और सुन्दर [=चारु] उक्तियों के विस्तार के द्वारा विचित्र प्रकार की [=चित्रा] कथा का गुम्फन करे ॥ ६८ ॥

॥ इस प्रकार धनञ्जयरचित दशरूपक के प्रथम प्रकाश का सुधाकर मालवीय कृत 'विद्याद्विनोदिनी' नामक हिन्दी समाप्त हुई ॥

प्रस्तुत श्लोक में आए हुए 'वस्तुविभेदजातम्' इस पद में 'वस्तु' का अर्थ है वर्णनीय विषय, उसका भेद समूह अर्थात् नाना प्रकार के भेद । रामायण आदि और गुणाढ्य-रचित बृहत् कथा का [विभाव्य अर्थात्] अनुशीलन करके । तदनु अर्थात् इसके बाद । कारिका में आए नेतृ आदि पदों का अर्थ है नेता और रस; जिसका लक्षण आगे [द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश] में किया जायगा । उनके अनुकूल, चित्राम् अर्थात्, विचित्र रूप वाली कथा अर्थात् आख्यायिका को, सुन्दर उक्तियों के विस्तार से, आसूत्रयेत् अर्थात् ग्रथित करे । उनमें से उदाहरण के लिए 'मुद्राराक्षस' नाटक की कथा का मूलश्रोत बृहद् कथा में इस प्रकार मिलता है—

'चाणक्य नामक उस व्यक्ति ने एकान्त में, शकटाल के घर में [मारण की देवी] कृत्या [की प्रतिमा] बनाकर पुत्र सहित राजा को सहसा मार डाला । इसके बाद जब योगानन्द का यशमात्र शेष रह गया तब महान् ओजस्वी चाणक्य के द्वारा पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त राजा बनाए गए ।'

इस प्रकार [मुद्राराक्षस की कथा का मूलश्रोत] बृहत्कथा में मात्र सूचित भर कर दिया गया है । इसी प्रकार 'महावीरचरित' आदि की कथा का मूलश्रोत रामायण में कही गई रामकथा है । श्लोक में आए 'आदि' पद का अर्थ है—'अभिज्ञानशाकुतल' की कथा का मूलश्रोत महाभारत आदि में [अर्थात् पुराणों में] कही गई दुष्यन्त की कथा है—ऐसा जानना चाहिए ।

॥ इस प्रकार श्रीविष्णु के पुत्र धनिक रचित दशरूपक की 'अवलोक' नामक टीका के 'वस्तु विभाग' नामक प्रथम प्रकाश की **'विद्वद्विनोदिनी'** नामक हिन्दी समाप्त हुई ॥

---

१. 'नाम भेदाः' इति वा पाठः ।

द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं **नायकभेदः** प्रतिपाद्यते—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता=नायकः, विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र **विनीतः** । यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे
विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात् कृतस्त्वयि मया विनयापचार-
स्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥' [महावीर० ४.२१]

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ॥

रूपकों के आपस में एक दूसरे से भेद की सिद्धि के लिए अर्थात् जानकारी के लिए वस्तु के भेदों का **प्रतिपादन** [प्रथम प्रकाश में] करके अब नायक के भेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है—

नायक के सामान्य लक्षण

[रूपक के] नायक को, विनीत, मधुर, त्यागी, कुशल, प्रिय बोलने वाला, सबका प्रिय, शुचि, वाग्मी, प्रसिद्ध वंश वाला, स्थिर, युवक, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मरणशक्ति वाला, प्रज्ञा तथा कलाओं से युक्त, मानी, शूर, तेजस्वी, शास्त्रों के अनुसार कार्य करने वाला एवं धार्मिक होना चाहिए ॥ १-२ ॥

नेता अर्थात् नायक विनय आदि गुणों से सम्पन्न होता है ।

१. उन [गुणों] में **विनीत** इस प्रकार का होता है जैसे 'महावीरचरित' में [धनुष के टूटने से प्रकुपित परशुराम के प्रति राम की उक्ति इस प्रकार है]—

'ब्रह्मज्ञानियों के द्वारा जिनके वन्दनीय चरणों की उपासना की जाती है; जो विद्या, तप, एवं व्रत के निधान हैं ; जो तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे आप [परशुराम] के प्रति मैंने [अज्ञानवशात्] दैवयोग से जो विनय का उल्लंघन किया है इसके लिए आप प्रसन्न होवें । हे भगवन् ! यह आपके लिए हाथ जोड़कर प्रणामाञ्जलि है ।'

శ్రీః

నాట్యశాస్త్రము

విషయసూచిక

	విషయము	పేజి
	ప్రస్తావన	1-58
1.	నాట్యశాస్త్రము - దాని ముద్రితప్రతులలోని పాఠభేదాదులు	1-4
2.	నాట్యశాస్త్రస్వరూపం	5
3.	నాట్యశాస్త్రగాంధర్వవేదాల సంబంధం	9
4.	నాట్యశాస్త్రంలోని విషయాలు - అధ్యాయక్రమంలో	19-30
5.	నాట్యశాస్త్రాన్ని గూర్చి ప్రొ. A.L. Basham	30-32
6.	నాట్యశాస్త్రం కాలం	33-39
7.	నాట్యశాస్త్రవ్యాఖ్యానాలు	39-52
8.	బాలానందినీవ్యాఖ్యను గూర్చి	52
	నాట్యశాస్త్రము - బాలానందినీవ్యాఖ్యతో :	
	1. ప్రథమాధ్యాయము : నాట్యోత్పత్తి	**59-82**
1.	ఆత్రేయాదిమునులు నాట్యోత్పత్తిని గూర్చి భరతమునిని ప్రశ్నించుట	59
2.	భరతముని నాట్యోత్పత్తిని గూర్చి చెప్పుట	60
3.	భరతుని పుత్రుల పేర్లు	64
4.	నాట్యప్రయోగనిపుణులైన అప్సరసల పేర్లు	67
5.	బ్రహ్మదేవుని ఆజ్ఞచే ప్రథమనాట్యప్రయోగం	68
6.	సంతసించిన దేవతలు నాట్యప్రయోక్తలకు నాటకోపకరణాలిచ్చుట	69
7.	దైత్యులు నాట్యప్రయోగానికి విఘ్నాలు కలిగించుట	70
8.	విఘ్న నివారణకై జర్జరం అను దండం ఆవిర్భవించుట	71
9.	విశ్వకర్మ నాట్యశాల నిర్మించుట	73
10.	నాట్యమండపరక్షణకై బ్రహ్మదేవుడు దేవతలను ఆదేశించుట	73
11.	బ్రహ్మదేవుడు సామోపాయమును ప్రయోగిస్తూ దైత్యులకు నాట్యస్వరూపం విశదీకరించుట	77
12.	రంగదేవతాపూజ [illegible]	

	6. షష్ఠాధ్యాయము : రసాధ్యాయము	206-237
44.	స్థాయిభావాలు	212
45.	రస లక్షణసూత్రం	214
46.	శృఙ్గారరసప్రకరణం	220
47.	హాస్యరసప్రకరణం	223
48.	కరుణరసప్రకరణం	226
49.	రౌద్రరసప్రకరణం	227
50.	వీరరసప్రకరణం	229
51.	భయానకరసప్రకరణం	230
52.	బీభత్సరసప్రకరణం	232
53.	అద్భుత రసప్రకరణమ్	232
54.	రసాలలో మూడేసి విధాలు, అద్భుతంలో రెండు విధాలు	234
55.	శాన్తరసవిచారము	235
	షష్ఠాధ్యాయానికి అనుబంధం	**238-258**
56.	రససిద్ధాంతం	238
57.	రసప్రాధాన్యాన్ని గూర్చి దండి - భామహ - వామనాదుల అభిప్రాయం	239
58.	రసం - మానసికశాస్త్రం	241
59.	రసం సామాజికాశ్రయం - 'భావప్రకాశనం', 'దశరూపకం'	244
60.	భరతుని రససూత్రం	244
61.	ఈ సూత్రానికి భరతుని వ్యాఖ్యానం	247
62.	లోల్లటుని వ్యాఖ్యానం	249
63.	శంకుకుని వ్యాఖ్యానం	249
64.	భట్టనాయకుని వ్యాఖ్యానం	251
65.	సాధారణీకరణం	251
66.	అభినవగుప్తుని వ్యాఖ్యానం	252
67.	జగన్నాథపండితరాయల వ్యాఖ్యానం	255
68.	రససంఖ్య	256

శ్రీః

ఓం స్వస్తి శ్రీగణేశాయ నమః

శ్రీశఙ్కరభగవత్పాదాః విజయన్తే

ప్రస్తావన

భరతుని నాట్యశాస్త్రం : మన కిపుడు లభించే అలంకారశాస్త్రగ్రంథాలలో అతిప్రాచీన మైనది భరతుని నాట్యశాస్త్రం. అంకారశాస్త్రంలో అతిప్రధానమైన రససిద్ధాంతమే కాకుండా, ఈ శాస్త్రానికి సంబంధించిన ఎన్నో విషయాలు **నాట్యశాస్త్రం**లో ప్రతిపాదింపబడ్డాయి.

నాట్యశాస్త్రం తొలిసారిగా 1920 ప్రాంతంలో పూర్తిగా నిర్ణయసాగరప్రెస్సు ద్వారా ప్రకటించబడింది. తరువాత 1929 ప్రాంతంలో చౌఖంబాప్రెస్ వారు ప్రకటించారు. (ఈ గ్రంథంలో నిర్దేశాలు ఈ పుస్తకంనుండి, స్పష్టంగా చెప్పినచోట ఇతర పుస్తకాలనుండీ చేయబడ్డాయి.) నాట్యశాస్త్రం అభినవగుప్తుడు రచించిన **అభినవభారతి** అనే వ్యాఖ్యానంతో గాయక్వాడ్ ఓరియంటల్ సీరీస్ ద్వారా 1926 లో ప్రారంభించి నాలుగు భాగాలుగా ప్రకటించబడింది. (i) సంపుటం - 1-7 అధ్యాయాలు 1926; (ii) సం. 8-18 అ. 1936, (iii) సం. 19-27 అ. 1954; (iv) సం. 28-37 అ. 1964. **నాట్యశాస్త్రా**నికి సంబంధించిన కొన్ని అధ్యాయాల ఆంగ్లానువాదాలు కూడా ఏసియాటిక్ సొసైటీ, కలకత్తా మొదలైన సంస్థలు ప్రకటించాయి. అయితే అక్కడక్కడ లభ్యం అవుతూన్న వ్రాతప్రతులలోను ప్రకటించిన పుస్తకాలలోనూ కూడ అధ్యాయసంఖ్యాశ్లోకాదులలో వ్యత్యాసం ఎక్కువగా కనబడుతున్నది. నిర్ణయసాగర ప్రతిలో 37 అధ్యాయాలుండగా చౌఖంబా ప్రతిలో 36 అధ్యాయా లున్నాయి. చివరి అధ్యాయం 36వ అధ్యాయంలో కలిపివేయబడింది. **నాట్యశాస్త్రం**లో మొత్తం 36 అధ్యాయా లున్నట్లుగా అభినవగుప్తుడు అక్కడక్కడ చెప్పిఉన్నాడు. **నాట్యశాస్త్ర** ప్రమాణం 6000 శ్లోకా లని కూడా అతడు చెప్పాడు. (32 అక్షరాలు ఒక శ్లోకంగా పరిగణించి గ్రంథ పరిమాణాన్ని శ్లోకసంఖ్యలో నిర్దేశించడం అలవాటు). అధ్యాయాలలోని శ్లోకాల సంఖ్య కూడ వేరు వేరుగా ఉన్నది. ఈ విధంగా **నాట్యశాస్త్రా**నికి సంబంధించిన వ్రాతప్రతులను ముద్రితగ్రంథాలనూ పరిశీలించగా దీనిలో అడుగడుగునా ఎన్నో మార్పులూ, చేర్పులూ, పాఠభేదాలూ, శ్లోకక్రమాదిభేదాలు కనబడుతున్నాయి. అలాంటి కొన్ని అంశాలు. క్రింద చూపబడు తున్నాయి.

1. భరతముని నాట్యంలో ఎనిమిది రసాలుంటా యని అంగీకరించి నట్లూ, అప్సరసల సాహాయ్యంతో అతడు ఇంద్రసభలో నాట్యప్రదర్శన చేసినట్లూ కాళిదాసు **"విక్రమోర్వశీయం"** లో అంటాడు. -

"మునినా భరతేన యః ప్రయోగో భవతీష్వష్టరసాశ్రయః ప్రయుక్తః,
లలితాభినయం తమద్య భర్తా మరుతాం ద్రష్టుమనాః సలోకపాలః". (2.18).

ఈ శ్లోకంలో చెప్పిన ప్రధానాంశాలు మనకు ప్రస్తుతం లభిస్తూన్న నాట్యశాస్త్రంలో కనబడుతున్నాయి. భరతుడు **నాట్యశాస్త్రం** రచించి శిష్యులకు బోధించి నట్లు, అప్సరసల సాహాయ్యంతో నాట్యాన్ని ప్రయోగించినట్లు చౌఖంభాప్రతి ప్రథమాధ్యాయంలో 47-50 శ్లోకాలలో చెప్పబడింది. నాట్యప్రయోగం శక్రుడు, లోకపాలులూ మొదలైనవారి సమక్షంలో జరిగినట్లు 55వ శ్లోకంలో చెప్పబడింది. చౌఖంభా ప్రతి ఆరవ అధ్యాయంలో

"శృఙ్గారహాస్యకరుణరౌద్రవీరభయానకాః,
బీభత్సాద్భుతసంజ్ఞౌ చేత్యష్టౌ నాట్యే రసాః స్మృతాః" (6.15)

అని ఎనిమిది రసాలు చెప్పబడ్డాయి.

ఈ అధ్యాయం -

"ఏవమేతే రసా జ్ఞేయా హ్యష్టౌ లక్షణలక్షితాః" (6.83)

అనే శ్లోకార్ధంతో ముగుస్తుంది. ఏడవ శతాబ్దం నాటికి కూడ ఎనిమిది రసాలే అంగీకరించబడ్డాయి అని

"ఇహ త్వష్టరసాయత్తా రసవత్తా స్మృతా గిరామ్" (కావ్యాదర్శ. 2.292)

అను కావ్యాదర్శంలోని వాక్యంవల్ల తెలుస్తూన్నది. కొందరు ఎనిమిది రసాలు మాత్రమే అంగీకరించా రనీ, అయితే తనకు తొమ్మిదవదైన శాంతరసానికీ, దాని స్థాయిభావ మైన శమానికి సంబంధించిన చర్చ ఉన్న ప్రాచీనమైన వ్రాతప్రతి కనబడిందనీ అభినవగుప్తు డన్నాడు, **"యే పునః నవ రసాః ఇతి పఠన్తి తన్మతే శాన్తస్వరూపమ్ అభిధీయతే"** (గాయక్వాడప్రతి. మొ.సంపుటం పే. 333). **"తస్మాదస్తి శాన్తో రసః తథా చ** చిరన్తనపుస్తకేషు **"స్థాయిభావాన్ రసత్వముపనేష్యామః"** ఇత్యనన్తరం **"శాన్తో నామ** శమస్థాయిభావాత్మకః" ఇత్యాది శాన్తలక్షణం లక్ష్యతే" (పే. 340). దీనిని పట్టి (కొందరి అభిప్రాయం ప్రకారం కాళిదాసుకాలం క్రీ.శ. 350 - 450 ప్రాంతం అని అంగీకరించినా) కాళిదాసు కాలం నాటికి శాంతం రసంగా అంగీకరించబడలేదనీ, అయితే అభినవగుప్తునికి చాల పూర్వం, అనగా క్రీ.శ. 1000 కి కొన్ని శతాబ్దాలు పూర్వం, శాంతం తొమ్మిదవ రసంగా అంగీకరించబడిన దనీ, అభినవగుప్తుడు నాట్యశాస్త్రానికి రెండు పాఠాలు చూచి ఉన్నా డనీ తెలుస్తూన్నది.

కావ్యాలంకారసార సంగ్రహంలో ఉద్భటుడు తొమ్మిది రసాలు పేర్కొన్నాడు -

"శృఙ్గారహాస్యకరుణరౌద్రవీరభయానకాః,
బీభత్సాద్భుతశాన్తాశ్చ నవ నాట్యే రసాః స్మృతాః" (4.5)

శాంతరసాన్ని క్రొత్తగా వాసుకి చేర్చా డని శారదాతనయుడు **భావప్రకాశనంలో** (పే.46.48) అన్నాడు. ఈ మాటల ప్రామాణ్యాప్రామాణ్యాల మాట ఎలా ఉన్నా ఇంతవరకు మనం చూచిన దానిని పట్టి నాట్యశాస్త్రానికి సంబంధించిన కొన్ని వ్రాతప్రతులలో క్రీ.శ. 400 తరవాత క్రీ.శ.750కి పూర్వం శాంతరసం రసంగా అంగీకరించబడినట్లు స్పష్టం అవుతున్నది.

2. అయిదవ అధ్యాయం చివర ఉన్న 40 శ్లోకాలు (నిర్ణయసాగరప్రతిలో 181-220, చౌఖంభాప్రతిలో 176-25) చాలా లిఖితప్రతులలో లేవు. వీటికి అభినవగుప్తాచార్యులు కూడా వ్యాఖ్యానం వ్రాయలేదు. బహుశా అవి నందికేశ్వరుని నుండి గ్రహించబడి ఉంటాయి.

3. చౌఖంభాప్రతిలోని 207 శ్లోకాల తొమ్మిదవ అధ్యాయము 55 శ్లోకాల పదవ అధ్యాయమూ కలిసి నిర్ణయసాగరప్రతిలో 267 శ్లోకాల తొమ్మిదవ అధ్యాయంగా ఉంది. అభినవగుప్తుడు కూడ వీటిని ఒకే అధ్యాయంగా కలిపివేశారు.

4. ఛందస్సును గూర్చిన పదిహేనవ అధ్యాయం ప్రారంభంలో అభినవగుప్తుడు అక్కడ రెండు పాఠా లున్నట్లుగా చెప్పాడు. - **"తత్రేహాధ్యాయే భరతమునికృతమితి త్రికైః మకారాదిభిః కైశ్చిత్ కించిల్లక్షణం స్వీకృతమితి ద్వివిధః పాఠో దృశ్యతే, మధ్యే చ చిరన్తనేషు పుస్తకేషు ఉభయమపి పఠ్యతే."** (అ.భా. రెండవ సంపుటం. పే. 252-253). నిర్ణయసాగర ప్రతిలో రెండవపాఠం ఉన్నది.

5. నిర్ణయసాగరప్రతిలోని 16వ అధ్యాయంలోను, చౌఖంభా ప్రతిలోని 17వ అధ్యాయంలోను ఐదు అనుష్టుప్ శ్లోకాలలో 36 నాట్యలక్షణాలు చెప్పబడ్డాయి. గాయక్వాడ్ ప్రతిలోని 16వ అధ్యాయంలో ఇవి నాలుగు ఉపజాతివృత్తాలలో చెప్పబడ్డాయి. అంతే కాకుండా, రెండు పట్టికలలోనూ ఉన్న పేర్లు సమంగా లేవు; రెండింటిలోను సమంగా ఉన్నవి పదిహేడు పేర్లు మాత్రమే. ఇక్కడ అభినవగుప్తుడు - "భరతుడు తానే చెప్పిన లక్షణాల పేర్లకంటె వేరుగా కొన్ని పేర్లు చెపుతున్నాడు. అందుచేతనే లిఖితప్రతులలో నున్న లక్షణాల పేర్లలోను, వాటి క్రమంలోను భేదం కనబడుతూన్నది. అయితే నేను మా గురువుగారైన భట్టతౌతుని సంప్రదాయం అనుసరిస్తున్నాను" అని అన్నాడు - **"తథా చ మతాన్తరేణ భరతమునిరేవ అన్యథాప్యుద్దేశలక్షణేన నామాన్తరైరపి చ వ్యవహారం కరోతి. తత ఏవ పుస్తకేషు భేదో దృశ్యతే. తం చ దర్శయిష్యామః. పఠితోద్దేశక్రమస్తు అస్మదుపాధ్యాయపరమ్పరాగతః"** (అ.భా.రెండవ సంపుటం, పే.298). దీనిని పట్టి అభినవగుప్తాచార్యుల కాలంనాటికి లక్షణాలను గూర్చి చెప్పిన అధ్యాయానికి రెండు విధాలైన పాఠా లున్నట్లు తెలుస్తూన్నది. ధనికుడు **దశరూపకంలోను** (4.78), రాఘవభట్టు **అర్థద్యోతనికలోను** ఉపజాతివృత్తంలో చెప్పిన లక్షణాలను ఉదాహరించగా **సాహిత్య**

దర్పణకారుడు, మరి కొందరూ అనుష్టుప్ శ్లోకాలలో ఇచ్చిన లక్షణాలను ఉదాహరించారు.

6. నిర్ణయసాగర ప్రతిలోని 24వ అధ్యాయం చౌఖంభా ప్రతిలోని 34, 35 అధ్యాయాలలో పంచబడి ఉంది. నిర్ణయసాగరప్రతిలోని 36, 37 అధ్యాయాలు చౌఖంభాప్రతిలోను, **అభినవభారతి**లోనూ కూడ 36వ అధ్యాయంగా కూర్చబడ్డాయి.

7. నిర్ణయసాగరప్రతిలోని 31వ అధ్యాయంలో 334 శ్లోకా లున్నాయి. చౌఖంభాప్రతిలోని అదే అధ్యాయంలో 545 శ్లోకా లున్నాయి. **"ఆకారవృత్తమన్యత్స్యాత్ చతుష్కం త్రికమేవ వా"** (నిర్ణయసాగరప్రతిలో 293వ శ్లోకం. చౌఖంభాప్రతి. 397వ శ్లోకం) అనే శ్లోకం తరవాత ఒక లిఖితపుస్తకంలో 92 శ్లోకాలు చేర్చబడ్డాయి అని క్రొత్త నిర్ణయసాగరప్రతిలో 520వ పేజీలో ఒక సూచన (Note) ఉంది. అభినవగుప్తాచార్యుల వ్యాఖ్యానం ప్రకారం వీటిలోని సగం శ్లోకాలు మాత్రమే విడిచివేయబడ్డాయి అని అభినవభారతీసహిత**నాట్యశాస్త్రా**నికి సంపాదకు డైన రామకృష్ణకవి రెండవ సంపుటం ప్రస్తావనలో పద్నాల్గవ పేజీలో వ్రాశారు. తాను నలభై **నాట్యశాస్త్ర**లిఖితపుస్తకాలను సంపాదించి పరిశీలించినట్లూ వాటిలోని ఏ రెండూ పూర్తి సామ్యంతో లేవు అనీ కూడ కవి మొదటి సంపుట ప్రస్తావన ఏడవ పేజీలో అన్నారు. **నాట్యశాస్త్రానికి** ఔత్తరభారత పాఠమూ, దాక్షిణాత్యపాఠమూ అని రెండు పాఠా లున్నాయనీ, దాక్షిణాత్యపాఠం ప్రాచీన మైన దనీ ఆయన తమ అభిప్రాయం వెలిబుచ్చారు.

ప్రస్తావనలలో కవి వ్రాసినదానిని పట్టి **అభినవభారతి**ని యథాతథంగా సంపాదించడానికి తగిన లిఖితపుస్తకా లేవీ లేవని స్పష్టం అవుతుంది. ముప్పైఆరు అధ్యాయాలన్నింటికీ పూర్తిగా **అభినవభారతి** ఉన్న లిఖితపుస్తకం ఏదీ లభించలేదు. కొన్ని చోట్ల అభినవభారతికే రెండు పాఠా లున్నట్లు, ఇది **నాట్యశాస్త్రా**నికి భిన్నంగా ఉన్నట్లూ కనబడుతుంది. ఏడు - ఎనిమిది అధ్యాయాలకు **అభినవభారతీ**వ్యాఖ్య కవికి లభించలేదు. ఏడవ అధ్యాయం ప్రారంభంలో కొన్ని వాక్యపుంజాలు మాత్రమే లభించాయి. అసంపూర్ణంగా ఉన్న కొన్ని లిఖితపుస్తకాలలో దూరదూరంగా చెదిరి పడి ఉన్న భాగాలను తీసికొని వ్యాఖ్యానాన్ని పూరించవలసి ఉండడంచేత ఈ వ్యాఖ్యానం చాల వరకు అతుకుల బొంతయే అయి సంతృప్తికరంగా ఉండదు. కొన్ని చోట్ల **అభినవభారతి** లభించక పోవడంచేత తన వ్యాఖ్యానం చేర్చినట్లుగా కవి వ్రాశాడు. తాను ఎక్కడ పూరించాడో స్పష్టంగా ఆయన అక్కడ వ్రాసినా కూడ ఇది **అభినవభారతి**యే అని కొందరు భ్రాంతి పడడానికి అవకాశం ఏర్పడింది. గ్రంథం మధ్యలో కాక గ్రంథాంతంలో అనుబంధంగా తన వ్యాఖ్యలు ఇస్తే ఇలాంటి భ్రాంతికి అవకాశం ఉండేది కాదని కొందరు పండితుల అభిప్రాయం.

ఈ విధంగా **నాట్యశాస్త్రమూ**, దాని వ్యాఖ్యయైన **అభినవభారతీ** కూడ మనకీనాడు లభిస్తూన్న రూపంలో అసంపూర్ణంగాను, అసంతృప్తికరంగానూ ఉండడంచేత మూల **నాట్యశాస్త్రం** ఏది, దాని రచయిత ఎవ్వరు అనే రెండు ప్రశ్నలు, సరియైన సమాధానం చెప్పడానికి శక్యం కాని ప్రశ్నలు, ఉదయిస్తున్నాయి.

ప్రస్తుతం మనకు లభిస్తూన్న **నాట్యశాస్త్ర** స్వరూపం ఈ విధంగా ఉంది. -

1. ఈ గ్రంథం అంతా శ్లోకరూపంలో ఉంది. ఆరు ఏడు అధ్యాయాలలో అక్కడక్కడ కొన్ని గద్యభాగా లున్నాయి.

2. "ఆ(అ)నువంశ్యాలు", అనే పేరుతో కనీసం పదిహేను శ్లోకాలు (అనుష్టుప్పులు). 16 ఆర్యలు ఉన్నాయి.

3. **"సూత్రానుబద్ధే ఆర్యే భవతః"** (సూత్రానికి సంబంధించిన రెండు ఆర్యలున్నాయి.) అని ప్రారంభించి చాలా శ్లోకాలు చెప్పబడ్డాయి.

4. **"భవన్తి చాత్ర శ్లోకాః", "అత్రార్యే భవతః" "అత్ర శ్లోకాః"** అని ప్రారంభించి వేరు వేరు స్థానాలలో దాదాపు 100 శ్లోకాలు ఉదాహరించబడ్డాయి.

5. **నాట్యశాస్త్రం**లో ఐదు వేలకు పైగా శ్లోకా లున్నాయి. వీటిలో చాలా వరకు శ్లోకంఛందస్సులో ఉన్నాయి. కొన్ని శ్లోకాలు మాత్రమే ఆర్యా - ఉపజాతివృత్తాలలో ఉన్నాయి.

పైన చెప్పిన అంశాలలో ప్రతీ అంశాన్నీ జాగర్తగా పరిశీలించవలసి ఉంది.

1. గద్యభాగాలు నిరుక్తంలోని వాక్యాల వలె సూత్ర-భాష్యపద్ధతిలో ఉన్నాయి. ఇందుకు ఆరవ అధ్యాయంలోని **"విభావానుభావవ్యభిచారిసంయోగాద్రసనిష్పత్తిః, కో వా దృష్టాన్త ఇతి చేత్ - ఉచ్యతే - యథా నానావ్యఞ్జనౌషధి ... రసత్వమాప్నువన్తి. ఋషయ ఊచుః, రస ఇతి కః పదార్థః? అత్రోచ్యతే ఆస్వాద్యత్వాత్"** అను రససూత్ర వాక్యసందర్భాన్ని ఉదాహరణంగా చూపవచ్చును. ఇక్కడ నున్న మొదటి వాక్యం సూత్రం వలె తరవాతి వాక్యాలు భాష్యంవలె ఉన్నాయి. ఇంకా **"వ్యభిచారిణ ఇదానీం వక్ష్యామః. అత్రాహ, వ్యభిచారిణ ఇతి కస్మాదుచ్యన్తే? వి అభి ఇత్యేతౌ ఉపసర్గౌ. చర గతౌ ధాతుః"** (పే. 34) ఇత్యాదివాక్యాలను ఉదాహరణలుగా చూపవచ్చును. ఈ వాక్యాలను **"అపత్యం కస్మాత్? అపతితం భవతి, నానేన పతతీతి వా"** (నిరు. 3.1) అను నిరుక్తంలోని వాక్యాలతోను, **"కో ధర్మః? కథం లక్షణః? కాన్యస్య సాధనాని? కాని సాధనాభాసాని? కింపరశ్చేతి"** (శాబరభాష్యం. పే. 9) అను శాబరభాష్యవాక్యాలతోను పోల్చి చూడవచ్చును. అభినవగుప్తుడు నాట్యశాస్త్రాన్ని **'భరతసూత్రం'** అనే పేరుతో నిర్దేశించడం గమనార్హం.

ఈ గ్రంథం సూత్రాలు. భాష్యం, సంగ్రహం, కారికలు, నిరుక్తమూ వీటి రూపంలో ఉన్నట్లు మన కిపుడు లభ్యం అవుతున్న గ్రంథంలోనే సూచన లున్నాయి.

"విస్తరేణోపదిష్టానామర్థానాం సూత్రభాష్యయోః,
నిబన్ధో యః సమాసేన సంగ్రహం తం విదుర్బుధాః,
రసా భావా హ్యభినయా ధర్మివృత్తిప్రవృత్తయః,
సిద్ధిః స్వరాస్తథాతోద్యం గానం రఙ్గం చ సంగ్రహః.
అల్పాభిధానేనార్థో యః సమాసేనోచ్యతే బుధైః,
సూత్రతః సా తు విజ్ఞేయా కారికార్థప్రయోగినీ". **(6.9-11)**

"ఏవమేషోఽల్పసూత్రార్థో వ్యాదిష్టో నాట్యసంగ్రహః,
అతః పరం ప్రవక్ష్యామి సూత్రగ్రన్థవికల్పనమ్" (6.31)

సూత్రం అనగా లక్షణం. సూత్రాన్ని పరీక్షించి దాని అర్థాన్ని విశదీకరించేది భాష్యం." (**సూత్రం లక్షణమ్. భాష్యం తద్వ్యక్తీకరణరూపా పరీక్షా.** (మొదటి సంపుటం పే.256) అని అభినవగుప్తుడు సూత్ర - భాష్య శబ్దాల అర్థం వివరించాడు. సూత్రాన్నే కారిక అనవచ్చుననీ, సూత్రం తరవాత వచ్చినది, సూత్రంతో సంబంధించి దాని అర్థాన్ని విశదీకరించేదీ అయిన శ్లోకం కూడ కారికయే అనీ ఈయన వ్యాఖ్యానించారు. - **"సూత్రతః సూత్రణేన, తేన సూత్రమపి కారికా. తత్ సూత్రమ్ అపేక్ష్య యా అను పశ్చాత్ పఠితా శ్లోకరూపా సాపి కారికా"** (మొ.సం.పే 266). ఆరవ అధ్యాయంలోని 39వ శ్లోకంలో ఉన్న **"సూత్రం సూత్రకం, లక్షణం, వక్ష్యామి. తేనైవ చ కారికా సంగృహీతా. గ్రన్థః భాష్యం తత్కృతం చ వికల్పనమ్. ఆక్షేపప్రతిసమాధానాత్మకమ్ ఇతి పరీక్షా నిరుక్త శబ్దవాచ్యా ప్రతిజ్ఞాతా. సూత్రవివరణస్వభావా తు కారికా సూత్రమపి ప్రకాశయన్తీ బహుతరాక్షేపసమాధానవ్యాకులశిష్యజనస్థితిపక్షం నిరూపణేన ఉపకరోతీతి భాష్యస్య పశ్చాదస్యాః పాఠః"** (మొ.సం.పే.273) అని అన్నారు. **"విభావానుభావ ... నిష్పత్తిః"** అను వాక్యానికి అవతారికగా అభినవగుప్తుడు **"ఏవం క్రమహేతుమభిధాయ లక్షణ సూత్రమాహ విభావేతి"** అనీ, **"కో దృష్టాన్తః? అత్రాహ యథా హి..."** ఇత్యాది వాక్యాన్ని వివరిస్తూ **"అత్ర ప్రశ్నే భాష్యేణ ప్రతివచనమాహ యథేత్యాదినా ఆప్లువన్తీత్యన్తేన"** (మొ.సం.పే. 289) అనీ అన్నారు. ఆరవ అధ్యాయంలో **"తత్ర శృఙ్గారో నామ రతిస్థాయిభావప్రభవః ఉజ్జ్వలవేషాత్మకః"** అనే వాక్యానికి అవతారికగా **"అత్ర రతిస్థాయీతి సూత్రభాగం భాష్యేణ స్పష్టయతి స చేత్యాదినా"** అనే అభినవభారతీవాక్యం - పై వాక్యం సూత్ర - భాష్యాత్మకమైన దని సూచిస్తూన్నది.

భవభూతి **ఉత్తరరామచరిత్ర** నాల్గవ అంకంలో భరతుడు "తౌర్యత్రిక సూత్రధారుడు" అని అంటాడు. సూత్రం అనేది గద్యరూపంలోనే ఉండాలనే నియమం లేదు.

ఐతరేయబ్రాహ్మణ - శతపథబ్రాహ్మణాదులైన ప్రాచీన గ్రంథాలలో కూడ శ్లోకాలున్నాయి. ఆపస్తంబ - బోధాయన - వాసిష్ఠాది ధర్మసూత్రాలలోను గృహ్యసూత్రాలలోనూ కూడా శ్లోకాలున్నాయి. మధ్యయుగానికి సంబంధించిన **కావ్యప్రకాశాది** గ్రంథాలలోని కారికలను సూత్రా లని కూడా నిర్దేశించడం ఉన్నది. అందుచేత నాట్యశాస్త్రంలోని మూలభూతమైన ప్రధానభాగంలో పద్యగద్యాలు రెండూ కలిసి ఉండేవని చెప్పవచ్చును.

2. ఇంక - అక్కడక్కడ ఆర్యలను అనుష్టుప్ శ్లోకాలను ఉదాహరించే సందర్భంలో ప్రయోగించిన "ఆనువంశ్య" అనే పదానికి గల అర్థాన్ని పరిశీలించవలసి ఉన్నది. ఈ పేరుతో ఉదాహరించబడిన శ్లోకాలు ముఖ్యంగా ఆరు - ఏడు అధ్యాయాలలో మాత్రమే అధిక సంఖ్యలో ఉన్నా యనే ప్రధాన విషయాన్ని మనం గుర్తు ఉంచుకోవాలి. ఇతర అధ్యాయాలలో ఇవి చాల తక్కువగా కనబడుతున్నాయి. 'ఆనువంశ్యశ్లోకం' అనే పదం తరచుగా **మహాభారతంలో** ప్రయోగించబడింది. కొన్నిచోట్ల 'అనువంశం' అనే పదం కూడా ప్రయోగించబడింది -

**"యత్రానువంశం భగవాన్ జామదగ్న్యస్తథా జగౌ
విశ్వామిత్రస్య తాం దృష్ట్వా విభూతిమతిమానుషీమ్"** (వనపర్వం. 87.16)

వనపర్వంలో (88.5) 'ఆనువంశ్యా' అనే పదం 'గాథా'కు విశేషంగా ప్రయోగించ బడింది. వనపర్వంలోనే **"అత్రానువంశం పఠతః శృణు మే కురు నన్దన"** అనే శ్లోకంలోని 'ఆనువంశ' శబ్దానికి నీలకంఠుడు "పరమ్పరాగతమాఖ్యానశ్లోకమ్" (గురుశిష్యపరంపరయా వస్తూన్న ఒక విషయప్రతిపాదకమైన శ్లోకం) అని అర్థం వ్రాశాడు. **మత్స్యపురాణంలో** కూడా (271.15) ఒక ఆనువంశ్య శ్లోకం ఉంది. **నాట్యశాస్త్రం** ఆరవ అధ్యాయంలో 35-36 శ్లోకాలకు ముందున్న **"ఆనువంశ్యశ్లోకౌ భవతః"** అనే దానిని వివరిస్తూ అభినవగుప్తుడు - **"అత్రేతి భాష్యే అనువంశభవౌ శిష్యాచార్యపరమ్పరాసు వర్తమానౌ శ్లోకాఖ్యౌ వృత్తవిశేషౌ సూత్రార్థసంక్షేపప్రకటీకరణేన కారికాశబ్దవాచ్యౌ భవన్తౌ పఠతి యథేత్యాది"** (మొ.సం.పే.290). ఇక్కడ 'అత్ర' అనే దానికి 'భాష్యే' అని అర్థం చెప్పడం చేత **"విభావా ... నిష్పత్తిః"** అనేదానిని సూత్ర మనీ, అక్కడ గద్యరూపాలైన వాక్యాలను భాష్యం అనీ అభినవగుప్తుడు గ్రహిస్తూన్నట్లు స్పష్టం అవుతున్నది.

దీని నంతనీ పట్టి - ఆనువంశ్యశ్లోకా లనేవి చాలా కాలం క్రితమే రచితములై సంప్రదాయానుసారం తండ్రినుండి కుమారునకు లేదా గురువునుండి శిష్యులకు అందింపబడుతూ వస్తూన్న నాట్యానికి సంబంధించిన శ్లోకాలనీ, వాటినే నాట్యశాస్త్రంలో చేర్చడం జరిగిన దనీ, అంతేనే కాని అవి ప్రస్తుత నాట్యశాస్త్రకర్త రచించినవి కావనీ స్పష్టం అవుతున్నది.

3. కొన్ని ఘట్టాలలో ప్రయోగించిన **"సూత్రానువిద్ధే"** లేదా **"సూత్రానుబద్ధే ఆర్యే భవతః"** అనేదానికి ఈ శ్లోకాలు అంతకు ముందే చెప్పిన సూత్రానికి చాల దగ్గరగా సంబంధించినవి అని లేదా అవి సూత్రంయొక్క అర్థాన్ని సులభమైన భాషలో స్పష్టీకరిస్తాయి అని అర్థం. అవి గ్రంథకారుడు రచించిన శ్లోకాలే అని చెప్పవచ్చును. **"అపి చ సుఖ..."** (మొ.సం.పే. 311-12) అనే దాని దగ్గర - **"ఏవం సూత్రార్థే పరీక్ష్య స్థాపితే తదర్థస్య సుఖగ్రహణార్థం సూత్రార్థవివరణరూపత్వాత్ సూత్రసమీపేఽపి ఉచితపాఠాత్ కారికామధునా పఠతి అపి చేతి. న కేవలం సూత్రం, పరీక్షాపి యావదియం కారికేతి, ఏవం సర్వత్ర మన్తవ్యమ్. తామేవ కారికాం పఠతి - సుఖేతి"** అని అభినవభారతిలో చెప్పబడింది. ఇక్కడ చెప్పినది సూత్రానుబద్ధాలుగా ఉదాహరించబడిన ఆర్యలకు కూడ వర్తిస్తుంది.

"అత్రార్యాః" (మొ.సం.పే. 327-28) అనేచోట అభినవగుప్త డిలా అన్నాడు. "కొందరు ప్రాచీనాచార్యులు రసాలకీ, వాటికి సంబంధించిన కొన్ని విషయాలకీ సంబంధించిన కొన్ని అంశాలను కూర్చిన కొన్ని ఆర్యలను సేకరించి ఉంచారు; భరతుడు వాటినుంచి కొన్ని ఆర్యలను గ్రహించి ఆ యా రసాలను గూర్చి చెప్పేటప్పుడు తగు ప్రదేశాలలో ఆ ఆర్యాశ్లోకాలను చేర్చాడు. - **"తా ఏతా హ్యార్యాః ఏకప్రఘట్టకతయా పూర్వాచార్యైః లక్షణత్వేన పఠితాః. మునినా తు సుఖసంగ్రహాయ యథాస్థానం నివేశితాః"** (మొ.సం.పే. 328). దీనిని పట్టి అభినవగుప్తుని అభిప్రాయం ప్రకారం **నాట్యశాస్త్రంలో** ఉన్న ఆర్యలు భరతవిరచితాలు కావని తెలుస్తూన్నది. **భావప్రకాశనంలో** వాసుకి రచించిన ఒక శ్లోకం ఉదాహరించబడింది. **నాట్యశాస్త్రంలోని** ఆరవ అధ్యాయంలో **"భవన్తి చాత్ర శ్లోకాః"** లేదా **"అత్ర శ్లోకాః"** అని ప్రారంభించి ఉదాహరించిన ఐదు శ్లోకాలలో ఈ శ్లోకం ఉంది.

> **"నానాద్రవ్యౌషధైః పాకైర్వ్యఞ్జనం భావ్యతే యథా,**
> **ఏవం భావా భావయన్తి రసానభినయైః సహ,**
> **ఇతి వాసుకినాప్యుక్తో భావేభ్యో రససంభవః."** (భా.ప్ర.పే. 36, 37)

ఇంక మిగిలిన నాట్యశాస్త్రగ్రంథానికి సంబంధించిన వ్రాతప్రతులలోని శ్లోకాల సంఖ్యలో భేదం వందలలో ఉన్నది. అందుచేత అసలు మూల**నాట్యశాస్త్రంలో** ఏముందో చెప్పడం చాల కష్టం. అయితే దాని స్వరూపం ఈ క్రింది విధంగా ఉండి ఉండవచ్చునని కొందరు పండితుల అభిప్రాయం. ప్రస్తుతం మనకు లభిస్తూన్న ఆరు - ఏడు అధ్యాయాలూ, వివిధాభినయాలను ప్రతిపాదించే ఎనిమిదినుండి పద్నాలుగు వరకు ఉన్న ఆరు అధ్యాయాలూ, పదిహేడవ అధ్యాయం నుంచి ముప్పైయైదవ అధ్యాయం వరకూ ఉన్న

పందొమ్మిది అధ్యాయాలూ - ఇవన్నీ ఒక కాలానికి చెందినవి. ఆరు - ఏడు అధ్యాయాలలోని గద్యభాగాలు, ప్రాచీనాచార్యులనుండి గ్రహింపడినట్లుగా అభినవగుప్తుడు చెప్పే ఆర్యాశ్లోకాలు బహుశా క్రీ.పూ. 200 సంవత్సరం ప్రాంతానికి చెంది ఉంటాయి. వాటిని పైన చెప్పిన అధ్యాయాలను రచించినపుడు వాటిలో చేర్చడం జరిగి ఉంటుంది. ఈ కాలాన్ని చెప్పడానికి కారణాలు ఇవి - **గౌతమధర్మసూత్రంలో** (11.19) నాలుగు ఉపవేదాలు చెప్పబడ్డాయి. **ఆయుర్వేదం, ధనుర్వేదం, గాంధర్వవేదం, అర్థశాస్త్రం** (కొందరి ప్రకారం స్థాపత్యం) అనేవి నాలుగు వేదాలకు ఉపవేదాలుగా అతిప్రాచీనకాలంనుంచీ చెప్పబడుతున్నాయి. అర్జునుడు విశ్వావసుపుత్రుడైన చిత్రరథుని వద్ద **గాంధర్వవేదం** నేర్చినట్లు వనపర్వంలో (91.14-15) చెప్పబడింది. సామమంత్రాలు, గానము, నృత్యము, వాద్యవాదనము **గాంధర్వవేదానికి** సంబంధించిన విషయాలు. **గాంధర్వవేదాన్ని** మొట్టమొదట ప్రచారంలోనికి తీసికొనివచ్చినవాడు నారదుడని **శాంతిపర్వంలో** (210.21) చెప్పబడింది. **గాంధర్వవేదానికి నాట్యవేదానికి** కొంత భేదం ఉంది. **గాంధర్వవేదం** పరిమితమైన పరిధి గల ఉపవేదం. **నాట్యవేదం** అన్ని వర్గాలవారి కోసమూ ఉద్దిష్టమైన పంచమవేదం. అందుచేత దీని పరిధి అతివిస్తృతమైనది. గానము, నృత్యము అనేవి దీనిలోని ఒక భాగం మాత్రమే. గాంధర్వాన్ని **గాంధర్వవేదం** నుండి భరతుడు గ్రహించినట్లు **నాట్యశాస్త్రంలోనే** చెప్పబడింది. -

> **"గాన్ధర్వమేతత్కథితం మయా హి పూర్వం యదుక్తం త్విహ నారదేన,**
> **కుర్యాద్య ఏవం మనుజః ప్రయోగం సంమానమగ్ర్యం కుశలేషు గచ్ఛేత్"**
> (నా.శా. 32.484)

శృంగారం పుష్పాలచేత, గాంధర్వంచేత, కావ్యపఠనంచేతా ఉత్తేజితం అవుతుంది అని **నాట్యశాస్త్రం** చెపుతున్నది.

> **"ఋతుమాల్యాలఙ్కారైః ప్రియజనగాన్ధర్వసేవాభిః,**
> **ఉపవనగమనవిహారైః శృఙ్గారరసః సముద్భవతి"** (నా.శా. 6.47)

ఈ విధంగా **నాట్యశాస్త్రానికి** గాంధర్వంతో సన్నిహితసంబంధం ఉన్నట్లు స్పష్టం అవుతున్నది. అయితే ఈ రెండూ స్వతంత్రమైన రెండు విద్య లని భరతుని అభిప్రాయం అని కొందరు అంటారు. అందుకు ప్రమాణంగా నాట్యశాస్త్రంలో అక్కడక్కడ ఉన్న **"గాన్ధర్వం చైవ నాట్యం చ యః సమ్యగనుపశ్యతి"** ఇత్యాదివాక్యాలను చూపుతూ ఉంటారు. సామాన్యవిశేషన్యాయంచేత (వృక్షాలు చూతవృక్షాలు అని వేరు వేరుగా చెప్పినట్లు) వీటిని వేరు వేరుగా చెప్పడం జరిగింది కాని ఈ రెండింటిని అత్యంత భిన్నము లైన రెండు విద్యలుగా గ్రహించవలసిన పని లేదు. **నాట్యశాస్త్రం** ప్రారంభంలోనే బ్రహ్మదేవుడు

నాట్యవేదాన్ని సృష్టించా డనీ, దీనికి వేదాలతోనూ ఉపవేదాలతోనూ సంబంధం ఉన్నదనీ, ఇది అత్యంత లలిత మైన వేద మనీ భరతుడు చెప్పి ఉన్నాడు -

"వేదోపవేదైః సంబద్ధో నాట్యవేదో మహాత్మనా,
ఏవం భగవతా సృష్టో బ్రహ్మణా లలితాత్మకః" (నా.శా. 1.18)

అని కాణే మొదలైన పండితుల అభిప్రాయం. అయితే - **నాట్యవేదం గాంధర్వవేదం**నుండి విషయాలు సేకరించినది అని అంగీకరించి నప్పుడు ఈ రెండూ వేరు వేరు విద్యలు అని చెప్పడంలో తప్పులేదు. పైన ఉదాహరించిన శ్లోకంలో చెప్పినట్లు నాట్యవేదానికి వేదోపవేదాలతో సంబంధం ఉన్నా వాటికంటె ఇది భిన్నం అని అంగీకరిస్తున్నాం కదా?

కళింగదేశరాజైన "ఖారవేలుడు" **గాంధర్వవేదబుధుడు** అని, ఖారవేలుడు వ్రాయించిన హథిగుఫాశిలాశాసనంలో చెప్పబడింది. ఈ శాసనం క్రీ.పూ. రెండవ శతాబ్దానికి చెందినదిగా అంగీకరించబడింది. అందుచేత గాంధర్వవేదాన్ని ఒక వేదంగా (ఉపవేదంగా) క్రీస్తుకు కొన్ని శతాబ్దాలకు పూర్వమే అంగీకరించి ఉంటారు. ఈ వేదంలోని కొన్ని అంశాలను అలవాట్లను గ్రహించిన **నాట్యశాస్త్రం** క్రీ.పూ. 200 సంవత్సరాల ప్రాంతానికి చెందినదని చెప్పవచ్చు.

నాట్యశాస్త్ర ప్రవర్తకుడు భరతుడు అని కాళిదాసు - భవభూతి - దామోదరగుప్తులు చెప్పి ఉన్నారు. అందుచేత ప్రస్తుతం లభిస్తూన్న **నాట్యశాస్త్రంలోని** మొదటి అధ్యాయం, బహుశా తరువాతి నాలుగు అధ్యాయాలూ కూడ క్రీ.శ. ఐదవ శతాబ్దికంటె కొన్ని శతాబ్దాలకు పూర్వమే చేర్చబడి ఉండాలి. ఇప్పుడు లభించే అధ్యాయాలలో చాలవరకు క్రీ.శ.మూడవ లేదా నాల్గవ శతాబ్దానికే ఉండి ఉంటాయని అనేక ప్రమాణాల ద్వారా నిర్ధారించడానికి అవకాశం ఉంది.

క్రీ.శ. 1000-1030 ప్రాంతంలో **నాట్యశాస్త్రా**నికి వ్యాఖ్యానం రచించిన అభినవగుప్తుడు నాట్యశాస్త్రాని కున్న అనేక ప్రాచీనవ్యాఖ్యానాలను గూర్చి ప్రస్తావించాడు. తొమ్మిదవ అధ్యాయంలో ఉన్న -

"ఉత్తానో వర్తులస్త్ర్యస్రః స్థితోఽధోముఖ ఏవ చ,
పఞ్చ ప్రచారా హస్తస్య నాట్యనృత్తసమాశ్రయాః" (9.182)

అనే శ్లోకాన్ని భట్టోద్భటుడు -

"ఉత్తానోఽధస్తలస్త్ర్యశ్రోఽగ్రగోఽధోముఖ ఏవ చ,
పఞ్చ ప్రకారా హస్తస్య..."

అని మరొక విధంగా పఠించినట్లు ఆయన వ్రాశారు. అట్లే పద్దెనిమిదవ అధ్యాయంలోని "వృత్తాని సమవకారే కవిభిస్తాని ప్రయోజ్యాని" (18.76) అనే శ్లోకాన్ని ఉద్భటుడు -

"వృత్తాని సమవకారే కవిభిర్నైవ ప్రయోజ్యాని" అని పఠించాడట. పందొమ్మిదవ అధ్యాయంలోని 42వ శ్లోకంలో ఉద్భటుడు 'విమర్శ' కు బదులు 'అవమర్శ' అని పఠించాడని చెపుతూ అభినవగుప్తుడు దాని అర్థం వివరించాడు. అదే అధ్యాయంలోని 69వ శ్లోకంలో సంధ్యంగాల విషయంలో ఉద్భటుడు అంగీకరించిన క్రమాన్ని అభినవగుప్తుడు విమర్శిస్తాడు. ఉద్భటుడు ఎనిమిదవ శతాబ్దం ఉత్తరార్థంలో ఉన్నాడు. దీనిని పట్టి ప్రస్తుతం లభిస్తూన్న గ్రంథంలో తొమ్మిదవ అధ్యాయం, పద్దెనిమిదవ అధ్యాయం కూడ ఎనిమిదవ శతాబ్ధానికి చాల పూర్వమే ఉన్నట్లు చెప్పాలి. లోల్లటుడు ఉద్భటుని మతాన్ని ఖండించినట్లుగా అభినవగుప్తుడు ఆరవ అధ్యాయంలోని పదవ శ్లోకంలో చెప్పాడు. లోల్లటుడు అంగీకరించిన అనేక పాఠభేదాలను కూడా అక్కడక్కడ చూపించాడు. అట్లే **నాట్యశాస్త్రం**లోని 3, 18, 19, 29, అధ్యాయాలలోని కొన్ని శ్లోకాలపై శంకుకుడు చేసిన వ్యాఖ్యను అభినవగుప్తుడు ఉదాహరించాడు. దీనిని పట్టి కనీసం ఎనిమిదవ శతాబ్దం నాటికి **నాట్యశాస్త్రం**లోని ప్రధానమైన అధ్యాయా లన్నీ ప్రచారంలో ఉన్నా యని తెలుస్తూన్నది. **కావ్యాదర్శం**లో (2, 281, 283, 286) దండి రతి - క్రోధ - ఉత్సాహాలు, శృంగార - రౌద్ర - వీరరసాలకు స్థాయిభావా లని చెప్పాడు. అదే విధంగా ఇతరులు చెప్పిన సంధ్యంగ - వృత్త్యంగలక్షణాలు కూడా మా మతంలో అలంకారాల క్రిందికే వస్తాయి అని అంటాడు.

"యచ్చ సంధ్యఙ్గవృత్త్యఙ్గలక్షణాద్యాగమాన్తరే,
వ్యావర్ణితమిదం చేష్టమలంకారతయైవ నః" (కావ్యాదర్శ 2.367)

ఇక్కడ దండి చెప్పిన ఆగమాంతరం **నాట్యశాస్త్రం** అని వ్యాఖ్యాత లందరూ వ్యాఖ్యానించారు. నాట్యశాస్త్రంలో సంధ్యంగాలు 21వ అధ్యాయంలోని 58-69 శ్లోకాలలోను, వృత్తులు వృత్త్యంగాలు 22వ అధ్యాయంలోని 25-64 శ్లోకాలలోను, లక్షణాలు 17వ అధ్యాయంలోని 1-42 శ్లోకాలలోను చెప్పబడ్డాయి. దండి చెప్పిన దానిని పట్టి **నాట్యశాస్త్రం** లోని ప్రధానమైన అధ్యాయాలు ఉద్భటునికంటె ఒకటి రెండు శతాబ్దాలకు పూర్వమే ఉన్నట్లు చెప్పవచ్చును.

కుమారసంభవం ఏడవ సర్గలోని ఈ క్రింది శ్లోకాల భావాన్ని పరిశీలిస్తే మన **నాట్యశాస్త్ర**కాలం ఇంకా వెనుకకు నెట్టవచ్చును.

"తౌ సన్ధిషు వ్యఞ్జితవృత్తిభేదం రసాన్తరేషు ప్రతిబద్ధరాగమ్,
అపశ్యతామప్సరసాం ముహూర్తం ప్రయోగమాద్యం లలితాఙ్గహారమ్."(7-91)
"ప్రమథముఖవికారైర్హాసయామాస గూఢమ్" (7.95)

ఈ శ్లోకాలలో నాట్యశాస్త్రంలోని 6, 21, 22 అధ్యాయాలలో చెప్పిన విషయాల నిర్దేశం ఉంది. నాట్యశాస్త్రంలోని 21వ అధ్యాయం 37వ శ్లోకంలో అయిదు సంధులు, 22వ అధ్యాయంలోని 24-57, 65 శ్లోకాలలో వృత్తులు చెప్పబడ్డాయి. 22వ అధ్యాయం 17వ శ్లోకంలో సులలితైరఙ్గహారైః అనే పదా లున్నాయి. **శృఙ్గారో విష్ణుదైవత్యః హాస్యః ప్రమథదైవతః** (నా.శా. 6.44) అనే శ్లోకంలో హాస్యరసానికి ప్రమథులు దేవత అని చెప్పబడింది. అందుచేత ప్రమథుల చేష్టలు హాస్యజనకా లవడం యుక్తమే. చాలామంది పండితులు అంగీకరించి నట్లు ఐదవశతాబ్దం పూర్వార్థం కాళిదాసుని కాలం అని గ్రహించినా ప్రస్తుతం మనకు లభిస్తూన్న **నాట్యశాస్త్రం** క్రీ.శ. 350-450కి కనీసం ఒకటి రెండు శతాబ్దాలకు పూర్వమే ఉన్న దని చెప్పవచ్చును. కాళిదాసు కాలం క్రీ.పూ. ప్రథమశతాబ్ది అని అంగీకరించిన పక్షంలో **నాట్యశాస్త్ర**కాలం ఇంకా వెనుకకు వెళ్ళవచ్చును.

క్రీ.శ. 100 ప్రాంతంలో ఉన్న అశ్వఘోషుడు రచించిన **శారిపుత్రప్రకరణం** అనే ప్రకరణంలోని కొన్ని భాగాలు మాత్రమే లభించాయి. **నాట్యశాస్త్రంలో** చెప్పిన ప్రకరణనియమాలకు ఈ ప్రకరణంలో అనుసరించిన పద్ధతికీ చాల సామ్యం ఉంది. అశ్వఘోషుడు ఆ కాలంలో చూడడానికి అవకాశం ఉన్న శాస్త్రగ్రంథం నాట్యశాస్త్రమే అయి ఉండాలి. దీనిని పట్టి **నాట్యశాస్త్రం** కాలం క్రీ.శ. 100కి కనీసం ఒకటి రెండు శతాబ్దులకు పూర్వం అయి ఉండాలి.

వేదకాలంలో సంగీతానికీ వాద్యసంగీతానికి అత్యధిక మైన ప్రచారం ఉండేది. "పారాశర్యశిలాలిభ్యాం **భిక్షునటసూత్రయోః**" (పా.సూ. 4.3.110) "**కర్మన్దకృశా శ్వాదినిః**" (పా.సూ. 4.3.111) అను పాణినిసూత్రాలను పట్టి పాణినికి పూర్వం అనగా క్రీ.పూ. ఏడవ శతాబ్దానికి పూర్వం, శిలాలి, కృశాశ్వుడు రచించిన నాట్యసూత్రా లున్నట్లు తెలుస్తూన్నది. అయితే అవి పూర్తిగా విస్మృతము లైపోయాయి. వాటి పేర్లు కూడా నాట్యానికి సంబంధించిన ఏ గ్రంథాలలోను కనబడడంలేదు. ఈ ఇద్దరు సూత్రకారుల పేర్లూ కూడ కాలక్రమంలో భరతశబ్దం వలె నటు డనే అర్థంలో ప్రచారంలోనికి వచ్చాయి. అమరకోశంలో

"శైలాలినస్తు శైలూషా జాయాజీవాః **కృశాశ్వినః**
భరతా ఇత్యపి నటాశ్చారణాస్తు కుశీలవాః"

అని ఈ పేర్లు కనబడుతున్నాయి. శైలాలిన్, కృశాశ్వన్ అనే పదాలు నట వాచకాలుగా ప్రయోగించబడడానికి పాణినిసూత్రాలే మూలం. "భరతాః" అనే పదం "భరతస్య అపత్యాని పుమాంసః" అనే అర్థంలో భరతశబ్దానికి "**అన్వృష్యానన్తర్యే** బిదాదిభ్యోఽఞ్" (పా.సూ. 4.1104) అనే సూత్రంచేత **అఞ్** ప్రత్యయం చేర్చి "**యఞఞోశ్చ**"

(పా.సూ. 2.4.64) అనే సూత్రంచేత దానికి లోపం చేయగా నిష్పన్నం అయిన దని క్షీరస్వామి (అమరకోశవ్యాఖ్యాత) అన్నాడు. "భరతుడు **నాట్యశాస్త్రం** రచించాడు; దాని అధ్యయనం చేసిన భరతశిష్యులు భరతపుత్రు లనడం యుక్తమే. అందుచేత వాళ్ళు "**భరతాః**" అనబడుతున్నారు" అని కూడా క్షీరస్వామి విశదీకరించాడు. "భరత" శబ్దానికి అసలు అర్థం నటుడు. అందుచేత దీనికి నటశాస్త్రం అని కూడ అర్థం ప్రచారంలోనికి వచ్చి ఉంటుంది. కాలాంతరంలో నటశాస్త్రం రచించిన వానినే భరతుడనే పేరుతో పిలవడం జరిగింది" అని కొందరి అభిప్రాయం అంత యుక్తంగా లేదు. 'భరత' అనేది అతిప్రాచీనమైన పేరు. **ఋగ్వేదంలోను**, **శతపథబ్రాహ్మణంలోను**, **ఐతరేయ బ్రాహ్మణంలోను** అనేక స్థలాలలో ప్రయోగించబడింది. ఈ శబ్దం **యాజ్ఞవల్క్యస్మృతిలో** (3.62) నటు డనే అర్థంలో ప్రయోగించబడింది. అందుచేత పాణిని తరవాత కాళిదాసుకు పూర్వం భరతు డనే ఒక రచయిత నాట్యానికి సంబంధించిన ఒక గ్రంథం (అది ఈ **నాట్యశాస్త్రం** కాకపోవచ్చు) రచించి ఉంటాడు, అదే కాలక్రమేణ ఎన్నో చేర్పులతో మార్పులతో ప్రస్తుతనాట్యశాస్త్రంగా తయా రైనది అని కొందరి ఊహ.

ధర్మశాస్త్రాలు, ప్రాచీనస్మృతులు బయలుదేరే కాలంనాటికి సాంప్రదాయికుల దృష్టిలో నట - నర్తక - గాయకాదులను అపవిత్రులనగా నీతిబాహ్యులనుగా పరిగణించడం ప్రారంభం అయింది. విద్యార్థి నృత్యం చూడకూడదు, సభకు గాని సమితికి గాని వెళ్ళకూడదు అని **అపస్తంబధర్మసూత్రం** (1.1.3.11-12) నిషేధించింది. విద్యార్థి నృత్య - గాన - వాద్యసంగీతాదులకు దూరంగా ఉండాలి అని **మనుస్మృతి** (2.178) విధించింది. నృత్య - గీత - వాద్యసంగీతతాలాదులు అభ్యసించే బ్రాహ్మణులు శ్రాద్ధభోజనానికి అనర్హు లని **గౌతమధర్మసూత్రం** (15.18) చెప్పింది. **మనుస్మృతి** ప్రకారం (8.102) బ్రాహ్మణుడు వడ్రంగిపని చేసినా, నటుడుగా ఉన్నా అతడు శూద్రునితో సమానుడు. అలాంటివాడు సాక్ష్యం ఇవ్వడానికి అనర్హుడు (8.65). నటుణ్ణి మతానికి సంబంధించిన కర్మలకు ఆహ్వానించకూడదు (3.155). శూద్రుడు నటించవచ్చు ననీ, స్త్రీవేషం ధరించవచ్చుననీ మూకాభినయప్రదర్శనం చేయవచ్చునీ శాంతిపర్వంలో (295 - 4 - 5) చెప్పబడింది. నటుడు ఏడు రకాలైన అంత్యజుల జాతిలో చేర్చబడ్డాడు (చూ. హిస్టరీ ఆఫ్ ధర్మశాస్త్ర II సంపుటం. పే. 70,84).

ఈ వెలివేతను ఎదుర్కొనడానికి **నాట్యశాస్త్రంలో** ప్రబలమైన ప్రయత్నం చేయబడింది. నాట్యంలో ధార్మిక - ఆధ్యాత్మిక విషయాలను ప్రవేశపెట్టడం ద్వారా దీనికి అత్యున్నత మైన, పూజనీయ మైన స్థానాన్ని కల్పించడంకోసం ప్రయత్నం జరిగింది. నాట్యశాస్త్రంలోని మొదటి ఐదు అధ్యాయాలు ఈ ప్రయోజనాన్నే ఉద్దేశించి చేర్చబడి

ఉంటాయి. మహాపండితుడు, గొప్ప శైవసిద్ధాంతాచార్యుడూ అయిన అభినవగుప్తుడు అత్యుత్తమమైన ఈ నాట్యవిద్య విషయంలో యుక్తియుక్తమూ, పూర్తిగా ఆచరణయోగ్యమూ అయిన తాత్త్వికదృక్పథాన్ని ప్రదర్శించాడు. **"ఏతేన, కామజో దశకో గణః ఇతి వర్జనీయత్వేన నాట్యస్యానుపాదేయతా ఇతి యత్ కేచిదాశశఙ్కిరే తదయుక్తీకృతమ్. యాజ్ఞవల్క్యస్మృతిపురాణాదౌ చ అస్య ప్రశంసాభూయస్త్వశ్రవణాత్. న చాగమాదృతే ధర్మః అనుమానగమ్యః ఇతి న్యాయాత్. ఏతత్తు వృద్ధైవాస్థానభీరూన్ ప్రతి శఙ్కాశమనార్థమ్ అభిధీయతే నామ. తథా హి నటానాం తావదేతత్స్వధర్మామ్నాయరూపత్వాత్ అనుష్ఠేయమేవ. న చాస్మాకం తచ్చేష్టితం విచార్యమ్. సోమక్రయోపదేశినో హి వాక్యస్య న తద్విక్రయిబ్రాహ్మణాన్తరగతకృత్యాకృత్యవిచారణోద్యోగః యుక్తః. న చాప్యస్య ఉపదిశ్యతే గాయేత్ నృత్యేదితి"** (నా.శా.మొ.సం.పే.3,4). పై వాక్యంలోని 'ఏతేన' అనుపదం నాట్యశాస్త్రం మూడవ అధ్యాయంలోని 74-75 శ్లోకాలను నిర్దేశిస్తుంది. ఎవరు **నాట్యవేదం** వింటారో, అధ్యయనం చేస్తారో వాళ్లకు, వేదాధ్యయనం చేసినవాళ్లకు లేదా యజ్ఞాలు చేసినవాళ్ళకు ఎలాంటి ఫలం లభిస్తుందో అలాంటి ఫలమే లభిస్తుంది అని ఆ శ్లోకాలలో చెప్పబడింది. **మనుస్మృతి** - సాధారణంగా మానవు లందరూ ఆనందం కోసం చేసే పనులను పేర్కొని రాజు వాటియందు ఆసక్తుడు కాకూడదు అని బోధించింది.

> **"మృగయాక్షో దివాస్వప్నః పరివాదః స్త్రియో మదః,**
> **తౌర్యత్రికం వృథాట్యా చ కామజో దశకో గణః"** (మ.స్మృ. 7.47)

పై విషయాలన్నీ దృష్టిలో ఉంచుకొని పరిశీలించగా క్రీ.శ. మూడు నాలుగు శతాబ్దాలకు పూర్వం ఎవరో నాట్యశాస్త్రం పునర్నిర్మాణం చేసి దానిలో సూత్ర - భాష్యపద్ధతిలో గద్యభాగాలను, ప్రాచీన ఆర్యలను, శ్లోకాలను తాను రచించిన కొన్ని కారికలను చేర్చి ఉంటా డని అనుకొనడానికి అవకాశం ఉంది. తరవాత కాలాంతరాలలో ఈ శాస్త్రంలో నైపుణ్యం గల మరి కొందరు కొన్ని శ్లోకాలు చేర్చి ఉంటారు.

ఏమైనా కూడ కోహల - నందికేశ్వరాదులు రూపకాలపైన రచించిన గ్రంథాలు, ఉద్భటాదుల వ్యాఖ్యానాలు లభించేవరకూ నాట్యశాస్త్రగ్రంథస్వరూపానికీ, దీని రచయితకూ, దీని రచనా, కాలమూ మొదలైన అంశాలకూ సంబంధించిన ప్రశ్నలకు సరియైన సమాధానాలు దొరకడం కష్టమే.

నాట్యశాస్త్రరచయిత ఎవరు అనే ప్రశ్నకు సమాధానం చెప్పాలంటే చాలా చిక్కులు ఎదురవుతాయి. మొదటి అధ్యాయం ప్రారంభంలో ఉన్న ఐదు శ్లోకాలు భరతుని శిష్యుడు రచించిన వనీ, అట్లే ఈ గ్రంథంలోని ప్రశ్నలు సమాధానాలు కూడా భరతుని శిష్యుడే చేర్చా డనీ, మిగిలిన గ్రంథం మాత్రం భరతుని రచనయే అనీ చెప్పిన పండితులు

అభినవగుప్తునికి పూర్వమే ఉండేవారు. అయితే అభినవగుప్తుడు ఈ అభిప్రాయాన్ని చాల గట్టిగా ఖండించాడు. ఎందువల్ల ననగా - ఈ గ్రంథంలో మరి కొందరి హస్తక్షేపం ఉన్న దని చెప్పడానికి తగిన ప్రమాణం ఏదీ లేదు. ఒక విషయాన్ని గూర్చి చర్చించే టప్పుడు రచయిత తనను ప్రథమపురుషలో నిర్దేశించడం అనేది అన్ని శాస్త్రాలలోనూ ఉన్న సంప్రదాయం. **"ఏకస్య గ్రన్థస్య అనేక వక్తృవచనసందర్భమయత్వే ప్రమాణాభావాత్. స్వపరవ్యవహారేణ పూర్వపక్షోత్తరపక్షాదీనాం శ్రుతిస్మృతివ్యాకరణతర్కాదిశాస్త్రేషు ఏకవి రచితేష్వపి దర్శనాత్"** (అ.భా.మొ.సం.పే.9). **నాట్యవేద**ప్రవర్తకు లైన సదాశివ - బ్రహ్మ - భరతులలో బ్రహ్మచెప్పిన సిద్ధాంతాలే ప్రామాణిక మైనవి అని స్థాపించడం కోసమే **నాట్యశాస్త్రం** రచించబడింది అని చెప్పిన కొందరు 'నాస్తికాగ్రేసరులైన ఉపాధ్యాయుల' అభిప్రాయాన్ని కూడ అభినవగుప్తుడు ఖండించాడు - **"ఏతేన సదాశివబ్రహ్మభరత మతత్రయవివేచనేన బ్రహ్మమతసారతాప్రతిపాదనాయ మతత్రయీసారాసారవివేచనం తద్గ్రన్థఖణ్డప్రక్షేపేణ విహితమిదం శాస్త్రం, న తు మునివిరచితమితి యదాహుః నాస్తికధుర్యోపాధ్యాయాః తత్ ప్రత్యుక్తమ్. సర్వానపహ్నవనీయాబాధితశబ్దలోకప్రసిద్ధి విరోధాచ్చ"** (అ.భా.మొ.సం.పే.8).

ఈ గ్రంథం నందిభరతులు రచించిన దనీ, సంగీతానికి సంబంధించిన దనీ నిర్ణయసాగరప్రతి చివర ఉన్నది. కొన్ని వ్రాతప్రతులను పట్టి నందికేశ్వరునికి **నాట్యశాస్త్రం**తో ఏదో సంబంధం ఉన్నట్లు కనబడుతున్నది. కోహలునికి **నాట్యశాస్త్రం**తో ఎలాంటి సంబంధం ఉన్నదో స్పష్టంగా తెలియదు. **నాట్యవేదా**న్నీ దాని ప్రయోగాన్నీ భరతుడు నూరుగురు కుమారులకు లేదా శిష్యులకు (చౌఖంభాప్రతి ప్రకారం 105 లేదా 106 గురికి) ఉపదేశించి నట్లు చెప్పబడింది. వాళ్లలో శాండిల్యుడు, వాత్స్యుడు, కోహలుడు, దంతిలుడు అనేవాళ్ల పేర్లు ముందున్నాయి. **నాట్యశాస్త్రం**లో చెప్పని విషయాలను మరొక గ్రంథంలో కోహలుడు కాలాంతరంలో చెప్పగలడు అని జోస్యం చెప్పినట్లు చివరి అధ్యాయంలో (36.65) చెప్పబడింది. కోహల - వాత్స్య - శాండిల్య - ధూర్తిలులు నాట్యశాస్త్రాన్ని ప్రయోగించారని కూడ చెప్పబడింది (36-71). నాట్యశాస్త్రాన్ని తిరిగి వ్రాసినవాళ్లమీద కోహలుని ఏదో ఒక గ్రంథం యొక్క ప్రభావం ప్రసరించి ఉంటుంది. అభినవగుప్తుడు కోహలుని అనేక స్థలాలలో పేర్కొన్నాడు. కొన్ని చోట్ల ఆతనిని భరతునికి సమకాలికు డన్నట్లు కూడ వ్రాశాడు. దామోదరగుప్తుడు (క్రీ.శ. ఎనిమిదవ శతాబ్దం ఉత్తరార్ధం) కుట్టనీమతంలో భరతునితో పాటు కోహలుణ్ణి కూడ నాట్యాచార్యుణ్ణిగా పేర్కొన్నాడు. **"విటఖటకే కా నృత్యతి కోహలభరతోదితక్రియయా"** (కు.మ.81). **రాజశేఖరుని బాలరామాయణం**లో కోహలు డనే నాట్యాచార్యు డున్నాడు. అతడు **"పరమేష్ఠినో మానసభువః ప్రథమపుత్రస్య**

నాట్యయోనేః భరతాచార్యస్య కృతిః అభినవం సీతాస్వయంవర ఇతి నాటకం ప్రయోక్తవ్యమ్" (3.12) అని రావణునితో అంటాడు. భరతుడు, శాండిల్యుడు, కోహలుడు, దత్తిలుడు, మతంగుడు నాట్యశాస్త్రానికి సంబంధించిన గ్రంథాలు రచించా రని శింగభూపాలుడు రసార్ణవసుధాకరంలో (1.50-2) అన్నాడు. **కుట్టినీమతంలో** కామశాస్త్రరచయిత లైన వాత్స్యాయన - దంతిలులతో పాటు భరత - విశాఖిల - దత్తిలాచార్యులు పేర్కొనబడ్డారు. ఎపిగ్రాఫియా కర్ణాటకాలో ఉన్న క్రీ.శ.517 నాటి శాసనంలో కొంగణీవర్మ కుమారుడైన మాధవుడు **దత్తకసూత్రవృత్తి** రచించి నట్లు చెప్పబడింది. దంతిలుడు భరతపుత్రులలో ఒకడు. దత్తిలుడు ధ్రువల విషయంలోను, తాళాల విషయంలోను ప్రామాణికు డనీ గంధర్వవేదసారం అనే అతని గ్రంథం లభ్యం అవుతున్న దన్నీ కొంద రంటున్నారు.

అభినవభారతి మొదటి సంపుటం ప్రస్తావనలో రామకృష్ణకవి **యామిలాష్టక** తంత్రంనుండి ఒక శ్లోకం ఉదాహరించాడు. దాని ప్రకారం ఉపవేదమైన గాంధర్వవేదంలో 36000 శ్లోకా లున్నాయి. భరతులు నాట్యవేదంనుంచి రెండు సంగ్రహగ్రంథాలు రచించా రనీ, ఒకదానిలో 12000 శ్లోకాలు, రెండవదానిలో 6000 శ్లోకాలూ ఉన్నా యనీ భావప్రకాశనంలో (10.34-35) చెప్పబడింది. వృద్ధభరతుడు 12000 శ్లోకాలతో ఒక గ్రంథం నిర్మించాడనీ, భరతుడు 6000 శ్లోకాలతో నాట్యశాస్త్రం రచించా డనీ రామకృష్ణకవి అన్నాడు. భరతుడు నాట్యవేదంలో రసాలను ప్రతిపాదించా డనీ భరతవృద్ధుడు గద్యభాగాలను కూర్చా డనీ శారదాతనయుని **భావప్రకాశనంలో** చెప్పబడింది.

"ఏవం హి నాట్యవేదోఽస్మిన్ భరతేనోచ్యతే రసః,
తథా భరతవృద్ధేన కథితం గద్యమీదృశమ్"

"యథా నానాప్రకారైః వ్యఞ్జనౌషధైః **పాకవిశేషైశ్చ"** ఇత్యాదివాక్యాలు ఉదాహరణంగా చూపబడ్డాయి. **నాట్యసర్వస్వదీపికా** అనే ఒక వ్రాతప్రతి ఉన్నది. ఆదిభరతుని గ్రంథానికి వ్యాఖ్యాన మని చెప్పబడే దీనిలో సమవాయం, శిక్ష, భావం, ఉల్లాసం, వైశేషికం అనే ఐదు స్కంధా లున్నాయి. 32 అధ్యాయాలు, 221 ప్రకరణాలు కల ఈ గ్రంథంలో 6000 శ్లోకా లున్నాయి. కొందరు సంస్కృతరూపకవ్యాఖ్యాతలు ఆదిభరతునినుంచీ భరతుని నుంచీ కూడ శ్లోకాలు ఉదాహరిస్తుంటారు. ఉదాహరణకి - **శాకుంతల** వ్యాఖ్యాన మైన **అర్థద్యోతనికలో** రాఘవభట్టు కనీసం పదిహేడు సార్లు ఆదిభరతుని నుంచి శ్లోకాలు ఉదాహరించాడు. వీటిలో చాలా వరకు శ్లోకాలు మనకు లభిస్తున్న **నాట్యశాస్త్రంలో** కనబడుతున్నాయి. కొన్నింటితో సామ్యం ఉన్న శ్లోకాలు **నాట్యశాస్త్రంలో** ఉన్నాయి. అదే విధంగా ఇతడు కనీసం పదకొండు సార్లు భరతునినుంచి శ్లోకాలు ఉదాహరించాడు. భరతునినుంచి శ్లోకాలను ఉదాహరించే టప్పుడు ఇతడు సాధారణంగా అధ్యాయం కూడ

నిర్దేశించాడు. ఆదిభరతునినుంచి మాత్రం అధ్యాయం పేర్కొనకుండానే ఉదాహరించాడు. దీనిని పట్టి రాఘవభట్టు దగ్గర, ఆనాడు భరతుని గ్రంథం ఒకటి ఆదిభరతుని గ్రంథం ఒకటీ ఉన్నట్లు తెలుస్తున్నది. అయితే చాలా వరకు వాక్యాలు రెండింటిలోను సమానంగానే ఉండి ఉంటాయి. ఒక చోట ఇతడు - **"సూత్ర - మూలభరత - టీకాకారాభినవగుప్తాచార్యసంమతా... ద్వాదశపదా ఉదాహృతా"** అని అంటాడు. దీనిని పట్టి ఇతడు సూత్రమూ మూలభరతమూ వేరు వేరని భావిస్తున్నట్లు తెలుస్తున్నది. సాధారణంగా అర్వాచీనరచయితలు మాత్రమే భరత - ఆదిభరతులను వేరువేరుగా చూపారు. ఉదాహరణకి బహురూపమిశ్రుడు **దశరూపక** వ్యాఖ్యానంలో ఒక "షట్సహస్రీకారుణ్ణి" (అనగా భరతుని నాట్యశాస్త్రం) పేర్కొన్నాడు. - **"సూత్రణం సకలాజ్ఞానాం జ్ఞేయమజ్ఞముఖం బుధైః"** ఇతి **"షట్సహస్రీకారః"**. మరొక చోట "ద్వాదశసహస్రీకారుణ్ణి" పేర్కొన్నాడు.

"సమాప్యమాన ఏకస్మిన్నితరాజ్ఞస్య సూచనమ్,
సమాసతో హి నాట్యజ్ఞైరజ్ఞావతార ఇష్యతే.

ఇతి ద్వాదశసహస్రీకారః".

దీనినంతనీ పట్టి నాట్యశాస్త్రానికి సంబంధించిన రెండు వ్రాతప్రతులు ఉండి ఉండవచ్చు ననీ, వాటిలోని శ్లోకసంఖ్య వేరువేరుగా ఉండడంచేత ఒకదానికి భరతునిగ్రంథ మనీ, మరొకదానికి వృద్ధభరతుని గ్రంథ మనీ ప్రచారం వచ్చి ఉంటుం దనీ ఊహించ వచ్చును.

యాజ్ఞవల్క్యస్మృతిలో భరతశబ్దం నటు డనే అర్థంలో ప్రయోగించబడింది. -

"యథా హి భరతో వర్ణైర్వర్ణయత్యాత్మనస్తనుమ్
నానారూపాణి కుర్వాణస్తథాత్మా కర్మజాస్తనూః" (3.162)

ఈ శబ్దం నాట్యశాస్త్రంలోనే నటవాచకంగా ప్రయోగింపబడింది.

"పృష్ఠే కృత్వాస్య కుతపం నాట్యం యుఙ్క్తే యతోముఖం భరతః,
సా పూర్వా మన్తవ్యా ప్రయోగకాలే తు నాట్యజ్ఞైః" (14.25)

అభినయసంప్రదాయంలో మంచి ప్రావీణ్యం సంపాదించిన ఎవరోఒక విద్వాంసునికి భరతుల (నటుల) విషయంలో ఎక్కువ ఆదరాభిమానాలు ఉండి ఉంటాయి. అతడు నేటి నాట్యశాస్త్రంలోని విషయా లన్నింటిని ఒక చోట క్రోడీకరించి ఈ గ్రంథం భరతుడనే ఒక కాల్పనికవ్యక్తి రచించి నట్లుగా ప్రచారంలోనికి తీసికొనివచ్చి ఉంటాడు. సంస్కృతవాఙ్మయంలో ఇలాంటి పనులు సర్వసాధారణంగా జరుగుతూ ఉంటాయి. ఉదాహరణకి అతివిశాల మైన పురాణవాఙ్మయం అంతా వ్యాసునికి అంటకట్టబడింది.

పద్దెనిమిది మహాపురాణాలు, పద్దెనిమిది ఉపపురాణాలు వ్యాసు డనే ఒక వ్యక్తి రచించాడనేది ఎవ్వరూ కూడ నమ్మడానికి శక్యం కాని విషయం. ఆనువంశ్యశ్లోకా లని చెప్పబడే కొన్ని ఆర్యలను, శ్లోకాలను చూడగా - అతిప్రాచీనకాలంనుంచీ అనేక మైన నాట్యసంబద్ధాలైన శ్లోకాదులు గాలిలో తిరుగుతూండే వనీ, వాటిని సేకరించి నియమబద్ధరీతిలో రచించిన నాట్యశాస్త్రంలో తగిన చోట్ల కూర్చడం జరిగిం దనీ ఊహించడానికి అవకాశం ఉంది. నాట్యశాస్త్రంలో ఒక చోట శబ్దలక్షణాల విషయంలో ప్రాచీనాచార్యుల అభిప్రాయాలను సేకరించి సంక్షిప్తంగా వాటిని ఇక్కడ చేర్చడం జరిగిం దని చెప్పబడింది.

"పూర్వాచార్యైరుక్తం శబ్దానాం లక్షణం తు విస్తరశః,
పునరేవ సంహృతార్థం లక్షణతః సంప్రవక్ష్యామి" (15.12)

భావప్రకాశనంలోని 10వ అధికరణంలో (పే 285-287) నాట్యవేదావిర్భావాన్ని గూర్చిన ఒక కథ ఉన్నది. బ్రహ్మకు **నాట్యవేదం** ఉపదేశించివలసినదిగా శివుడు నందికేశ్వరుణ్ణి ఆజ్ఞాపించాడు. భరతుడు ఐదుగురు శిష్యులతో కలిసి బ్రహ్మదగ్గరికి వెళ్లగా బ్రహ్మ "ఈ నాట్యవేదాన్ని భరించండి" **"తానబ్రవీన్నాట్యవేదం భరతేతి పితా మహః"** అన్నాడు. అందువల్ల మొట్టమొదట నటించిన ఆ నటులకు 'భరతులు' అను పేరు వచ్చింది. జగత్పాలనవల్ల మనుచక్రవర్తికి కలిగిన అలసటను తొలగించడంకోసం వాళ్లు తొలిసారిగా ఆతని ఎదుట ఒక రూపకం ప్రదర్శించారు. భరతులు నాట్యవేదంనుండి కొన్ని అంశాలు గ్రహించి రెండు గ్రంథాలు రచించారు. ఒకదానిలో 12000 శ్లోకాలు, మరొక దానిలో 6000 శ్లోకాలూ ఉన్నాయి. అందుచేత రెండవ దానికి భరతుల పేరు పెట్టబడింది.

"నాట్యవేదాచ్చ భరతః సారముద్ధృత్య సర్వతః,
ఏకం ద్వాదశసాహస్రైః శ్లోకైరేకం తదర్ధతః.
షడ్భిః శ్లోకసహస్రైర్యో నాట్యవేదస్య సంగ్రహః,
భరతైర్నామతస్తేషాం ప్రఖ్యాతా భరతాహ్వయాః"

ఈ కథను పట్టి శారదాతనయుడు ప్రస్తుతం లభిస్తున్న నాట్యశాస్త్రాన్ని పౌరాణికు డైన భరతు డనేవాని రచనగా అంగీకరించ లేదనీ ఇది నాట్యాన్ని అభ్యసించిన భరతుల రచన అని అతడు అంగీకరిస్తున్నా డనీ తెలుస్తూన్నది. స్వాతి - నారదులు గాంధర్వ - వాద్యవిద్యల ప్రవర్తకు లని చెప్పబడింది. (నా.శా. 33.3; 32.484). గుహుడనేవాడు ఛందస్సును ప్రవర్తింపచేసి నట్లు కూడ చెప్పబడింది. (16.112) ధ్రువలను గూర్చి చెప్పిన సందర్భంలో నారదుని పేరు కూడా పేర్కొనబడింది (32.1). తండు అంగహారాల ప్రయోగాన్ని, వివిధకరణాలను, రేచకాలను భరతునికి ఉపదేశించి నట్లు చెప్పబడింది.

(4.17-19). ఇక్కడ ప్రయోగించిన తండు - మునిశబ్దాలు నంది - భరతుల ఉపనామాలని అభినవగుప్తుడు వ్యాఖ్యానించాడు. **"తణ్డుమునిశబ్దౌ నన్దిభరతయోరు పనామనీ"** (అ.భా.మొ.సం.పే 90). నాట్యశాస్త్రంలో రెండు మూడు స్థలాలలో **కామతంత్ర** (24.182; 25.65) **కామసూత్రాలు** (24.142) పేర్కొనబడ్డాయి. రాజు, సేనాపతి, మంత్రులు, ప్రధాన న్యాయాధికారి మొదలైనవాళ్ల కుండవలసిన లక్షణాలను బృహస్పతి చెప్పిన రీతిగా గ్రహించాలి అని చెప్పబడింది. **"బృహస్పతిమతాదేతాన్ గుణాంశ్చాప్యభి లక్షయేత్"** (34.79). అర్థశాస్త్రకర్తగా ప్రసిద్ధుడైన మానవుడైన కౌటిల్యుని పేరు చెపితే నాట్యశాస్త్రానికి బ్రహ్మభరతాదులతో సంబంధం ఉన్నట్లుగా చెప్పినదానికి విరోధం కనబడుతుం దనే ఉద్దేశ్యంతో అర్థశాస్త్రకర్తగా ఇక్కడ బృహస్పతి పేరు నిర్దేశించబడి ఉంటుంది. దేశాల పేర్లను గూర్చి చెప్పిన సందర్భంలో ఒక పురాణం పేర్కొనబడింది.

"అన్యేఽపి దేశాః ప్రాచ్యాం యే పురాణే సంప్రకీర్తితాః,
తేషు ప్రయుజ్యతే త్వేషా ప్రవృత్తిశ్చౌద్రమాగధీ" (14-46)

'అన్యే', 'అన్యైస్తు' ఇత్యాదిపదాలతో ఉపక్రమించి ఇంకా ఇతర రచయితల మతాలు కూడ **నాట్యశాస్త్రంలో** అక్కడక్కడ చెప్పబడ్డాయి.

సంక్షిప్తంగా నాట్యశాస్త్రంలోని విషయాలు అధ్యాయక్రమంలో ఇవి :

1. ఆత్రేయుడు మొదలైన మునులు భరతమునిని - **నాట్యశాస్త్రం** ఎలా ఆవిర్భవించింది? ఎవరికోసం ఆవిర్భవించింది? దీని అంగాలు ఏవి? నిశ్చితము లైన సిద్ధాంతాలను తెలుసుకొనడానికి ఉపకరించే ఉపాయాలు ఏవి? దీనిని నాట్యరంగం మీద ఎట్లు ప్రయోగించాలి? అని ఐదు ప్రశ్నలు అడుగుతారు. అయితే అతడు ఈ ప్రశ్నలకు సమాధానాలు ఒక వరుసలో ఇవ్వలేదు, వీటి సమాధానాలు గ్రంథం అంతటా వ్యాపించి ఉన్నాయి అని అభినవగుప్త డన్నాడు - **"వయం తు బ్రూమః - నాత్ర క్రమః కశ్చిత్. అపి తు యథావసరం మహావాక్యాత్మనా షట్సాహస్రీరూపేణ ప్రధానతయా ప్రశ్నపఞ్చకనిరూపణపరేణ శాస్త్రేణ తత్త్వం నిర్ణీయతే; న తు క్రమః కశ్చిత్"** (అ.భా.1, పే.8). శూద్రులు వేదాలు చదవకూడదు గాన అన్ని వర్ణాలవారికీ ఉపకరించే ఐదవ వేదాన్ని సృష్టించవలసిందిగా బ్రహ్మదేవుడు భరతుణ్ణి ఆదేశించాడు.

"న వేదవ్యవహారోఽయం సంశ్రావ్యః శూద్రజాతిషు,
తస్మాత్సృజాపరం వేదం పఞ్చమం సార్వవర్ణికమ్" (నా.శా.1.12)

భరతుడు **ఋగ్వేదంనుంచి** పాఠ్యాన్నీ, **సామవేదం** నుంచి గానాన్నీ, **యజుర్వేదం** నుంచి అభినయాన్నీ, **అథర్వవేదం** నుంచి రసాలనూ గ్రహించి నాట్యవేదం నిర్మించి నూర్గురు

పుత్రులకు (శిష్యులకు) బోధించాడు.

2 మూడు, ఆరు పద్యాలలో నాట్యమండప నిర్మాణం. 7వ శ్లోకంలో ప్రేక్షాగృహనిర్మాణం చెప్పబడ్డాయి. **నాట్యశాస్త్రం** ప్రకారం (2.8-11) వికృష్టం (పొడవుగా ఉన్నది), చతురస్రం, త్ర్యస్రం (త్రికోణాకృతిలో ఉన్నది) అని నాట్యమండపం మూడు విధాలుగా ఉంటుంది. ఈ మూడు రకాల మండపాలలో ప్రతీ ఒక్కటీ జ్యేష్ఠం, మధ్యమం, అవరం అని మూడేసి రకాలు ఉండవచ్చును. వీటి కొలతలు హస్తాలలో కాని దండాలలో కాని ఉంటాయి. నాలుగు హస్తాలు ఒక దండం. 108 హస్తాలు లేదా దండా లున్నది జ్యేష్ఠం; 64 హస్తాలు లేదా దండా లున్నది మధ్యమం, 32 హస్తాలు లేదా దండా లున్నది అవరం. అరవైనాలుగు హస్తాల పొడవు ముప్పైరెండు హస్తాల వెడల్పు ఉన్న నాట్యమండపం ప్రేక్షకులకు అనుకూలంగా ఉంటుంది. అలా కాకపోతే మాటలు స్పష్టంగా వినబడవు. భావప్రకాశన రచయిత యైన శారదాతనయుడు తాను **నాట్యవేదం** నాట్యశాలాపతి యైన ఒక బ్రాహ్మణునిదగ్గర అభ్యసించి నట్లు చెప్పుకొన్నాడు (1. పే. 2). నాట్యమండపంలో స్తంభాలు నిలపాలి. దీనిలో రెండు భాగా లుండాలి. అది ఒక పర్వతగుహ వలె ఉండాలి. గోడలమీద బొమ్మలు చిత్రించాలి. ప్రేక్షకుల ఆసనాలు ఇటుకలతో గాని కఱ్ఱతో గాని నిర్మించాలి.

3. రూపకప్రయోగానికి ఆ యా దేవతల రక్షణను కోరుతూ మహాదేవుడు, బ్రహ్మ, విష్ణువు, బృహస్పతి, గుహుడు మొదలైన దేవతల పూజలు చెప్పబడ్డాయి.

4. దేవతల సమక్షంలో **అమృతమథనం** అనే రూపకం ప్రయోగించబడింది. భరతుడు దేవతలకోసం **లక్ష్మీస్వయంవరం** అనే రూపకం ప్రయోగించా డనీ, లక్ష్మీపాత్ర ధరించిన ఊర్వశి, పూరూరవుని మీద మనస్సు లగ్నం అయి ఉండడంచేత అభినయం సరిగా చేయకపోవడంతో భరతు డామెను శపించా డనీ **పద్మపురాణం**లో చెప్పబడింది. (5.12.81) మహాదేవుని సమక్షంలో **త్రిపురదాహం** అనే రూపకం ప్రదర్శింపబడింది. తండు భరతునికి వివిధము లైన అంగహారాలు,కరణాలు, రేచకాలు బోధించాడు. (చిదంబరంలోని నటరాజమందిరం తూర్పు గోపురం మీద నాట్యశాస్త్రంలోని ఈ నాల్గవ అధ్యాయం 34 - 55 శ్లోకాలలో వర్ణించిన 108 కరణాలు రాళ్లమీద చెక్కబడి ఉన్నాయి. ప్రతీ కరణం క్రిందా దానికి సంబంధించిన శ్లోకాలు కూడా చెక్కబడి ఉన్నాయి. ఇవి 13వ శతాబ్దికి చెందినవి. వీటి ప్రతికృతులు గాయక్వాడ ప్రతిలో ఇవ్వబడ్డాయి.) రూపకాల ప్రదర్శనలో నృత్యం అర్థప్రకటనానికి, విషయస్పష్టీకరణకి అంతగా ఉపయోగించకపోయినా దీనివల్ల నాట్యరంగంమీద పాడిన పాటలకు ఒక విధమైన శోభ చేకూరుతుంది అని ఈ ఘట్టంలో చెప్పబడింది.

"అత్రోచ్యతే న ఖల్వర్థం నృత్తం కంచిదపేక్షతే,
కిం తు శోభాం జనయతీత్యతో నృత్తమిదం స్మృతమ్.
ప్రాయేణ సర్వలోకస్య నృత్తమిష్టం స్వభావతః,
మఙ్గల్యమితి కృత్వా చ నృత్తమేతత్ప్రకీర్తితమ్.
వివాహప్రసవావాహప్రమోదాభ్యుదయాదిషు
వినోదకారణం చైవ నృత్తమేతత్ ప్రకీర్తితమ్...,
గీతప్రయోగమాశ్రిత్య నృత్యమేతత్ ప్రనృత్యతామ్" (4.260-263, 265)

5. పూర్వరంగం, నాంది, ధ్రువ, ప్రస్తావన వీటికి సంబంధించిన వివరణ.

6. రసాలకు ఆ పేరు ఎలా వచ్చింది? భావా లనగా ఏవి? ఈ విధంగా మునులు అడిగిన ఆరు ప్రశ్నలు, సంగ్రహకారికాదులు, సంగ్రహరూపంగా శాస్త్రసారం అని చెప్పిన - రసాలు, భావాలు, అభినయాలు, ధర్మి, వృత్తి, ప్రవృత్తి, సిద్ధి, స్వరాలు, ఆతోద్యాలు, గానం, రంగం అనే పన్నెండు అంశాలు. కారికా - నిరుక్తశబ్దాల అర్థం. ఎనిమిది లేదా తొమ్మిది రసాలు. (**అభినవభారతి**లో చెప్పినదాని ప్రకారం నాట్యశాస్త్రానికి రెండు పాఠా లున్నాయి. ఒకదానిలో శాంతరసంతో సహా తొమ్మిది రసాలు చెప్పబడ్డాయి. మరొక దానిలో శాంతరసం చెప్పబడలేదు.) ఎనిమిది స్థాయిభావాలు ముప్పైమూడు వ్యభిచారిభావాలు, ఎనిమిది సాత్త్వికభావాలు, ఆంగిక - వాచిక - ఆహార్య - సాత్త్వికాభినయా లనే నాలుగు అభినయాలు, లోకధర్మి, నాట్యధర్మి అను రెండు ధర్ములు, భారతీ - సాత్వతీ - కైశికీ - ఆరభటీవృత్తు లనే నాలుగు వృత్తులు, ఆవంతీ - దాక్షిణాత్యా - పాంచాలీ - ఓఢ్రమాగధీ - మధ్యమా - ప్రవృత్తు లనే ఐదు ప్రవృత్తులు, దైవీ మానుషీ అను రెండు సిద్ధులు, షడ్జఋషభాదిసప్తస్వరాలు, తత - ఆనద్ధ - ఘన - సుషిరా లనే నాలుగు విధాలైన సంగీతోపయుక్తవాద్యాలు, ఐదు విధాలైన గానాలు, నాలుగు రకాలైన నాట్యమండపాలు, విభావానుభావవ్యభిచారిభావాలవల్ల రసనిష్పత్తి క్రమం, రసాలకు పరస్పరసంబంధం, భావాలతో రసాల సంబంధం, రసాల వర్ణాలు (రంగులు), అధిష్ఠానదేవతలు, రసాలయొక్క వాటి స్థాయిభావాలయొక్క విస్తృతప్రతిపాదన.

7. భావ - విభావ - స్థాయిభావాల విస్తృతవర్ణన. నిర్వేదం మొదలైన ముప్పైమూడు వ్యభిచారిభావాలు, స్తంభం మొదలైన ఎనిమిది సాత్త్విక భావాలు.

8. చతుర్విధాభినయాల విస్తృతవర్ణన.

9. నాట్యంలో హస్తాలు, వక్షఃస్థలం, పార్శ్వాలు, నడుము, కాళ్లు, పాదాలు మొదలైన అవయవాల అనేకవిధాలైన చలనాలు, పతాక, త్రిపతాక మొదలైన 24

నృత్తహస్తాలు, పైన చెప్పిన 64 హస్తాల లక్షణప్రయోగాలు; రసభావాద్యనుగుణంగా ఇతరవిధాలైన హస్తాలు కూడ ప్రయోగించవచ్చు. ("**ఏవమేష ప్రయోక్తవ్యః స్త్రీపుంసాభినయే కరః**" (9.27) అనేదాన్ని వ్యాఖ్యానిస్తూ అభినవగుప్తుడు - "**స్త్రీపుంసయోః ఉభయోరపి అభినేత్రోః అభినేయయోర్వా**" అని అన్నాడు. దీనిని పట్టి అభినవగుప్తుని కాలంనాటికి స్త్రీలు కూడ నాట్యప్రయోగంలో పాల్గొనేవా రని తెలుస్తూన్నది).

10. వక్షస్థలం, పార్శ్వాలు, నడుము, ఇతరశరీరావయవాలు - వీటి ఐదు విధాలైన చలనాలు, వాటి లక్షణప్రయోగాలు.

11. చారి - ఖండ - కరణ - మండలాలు, భూమిచారుల లక్షణాలు, 16 ఆకాశచారీలక్షణాలు, వాటి ప్రయోగసమయాలు, నాట్యంలో ధనుర్విద్యాప్రదర్శనవిధానం, నాట్యప్రయోగంలో ఎవరూ ఎక్కువ శీఘ్రత్వాన్ని చూపకూడదు, శ్రమపడకూడదు.

"**ఏక పాదప్రచారో యః సా చారీత్యభిసంజ్ఞితా**
ద్విపాదక్రమణం యత్తు కరణం నామ తద్భవేత్ ...
యదేతత్ప్రస్తుతం నాట్యం తచ్చారీష్వేవ సంజ్ఞితమ్. (11.3,6)"

12. మండలాల సంఖ్య వాటి లక్షణాలు.

13. ధ్రువాంగాలు ప్రారంభం అయిన తరవాత వేణునాదాది వాద్యసంగీతం ప్రవర్తిస్తూండగా పాత్రలు ఆ యా రసాలకు, స్థానాలకు అనుగుణంగా ఏ విధంగా నడుస్తూ ప్రవేశించాలి; పాత్రలు, దేవతలు గాని, రాజులు గాని అయినప్పుడు వాళ్లు రంగస్థలంమీద ఎంత సేపు నడవాలి, మధ్యమపాత్రలు గాని, స్త్రీలు గాని, నీచపాత్రలు గాని అయినప్పుడు ఎంత సేపు నడవాలి, రౌద్ర - బీభత్స - వీరాది రసాలను ప్రకటించేటప్పుడు ఏ విధంగా నడవాలి, ఏ విధంగా శరీరావయవచలనాలు ఉండాలి; గాయాలు చలి మొదలైన వాటిని సూచించడానికి అవయవాల కదలిక ఎలా ఉండాలి, అదే విధంగా సంన్యాసులు, మత్తులు, ఉన్మత్తులు మొదలైన వాళ్ల చలనాదులు ఎలా ఉండాలి.

14. నాట్యమండపం మీద - సంగీతవాద్యాలకు, గృహ - ఉద్యాన - అరణ్య - స్థల జలాదులకు స్థానాల కేటాయింపు. ఒక ముహూర్తకాలంలో (48 నిమిషాలు) గాని, ఒక జాములో కాని, గరిష్టం ఒక రోజులో గాని జరిగే విషయాన్నే ఒక అంకంలో ప్రదర్శించాలి. తరవాత ఒక మాసంలో కాని సంవత్సరంలో కాని జరిగే పనులు దాటవేసి క్రొత్త అంకం ప్రారంభించాలి, దేశ - వేష - భాషలకు, అలవాట్లకు అనుగుణమైన నాలుగు విధాలైన అవంతీ - దాక్షిణాత్యా - పాంచాలీ - ఓఢ్రమాగధీ ప్రవృత్తులు,

ఒక్కొక్క ప్రవృత్తికి సంబంధించిన దేశాలు వృత్తులు; సుకుమారమూ ఆవిద్ధమూ అనే రెండు విధాలైన నాట్యప్రయోగాలు, డిమసమవకార - వ్యాయోగ - ఈహామృగాలు ఆవిద్ధాలు, మిగిలిన రూపకభేదాలు సుకుమారాలు. లోకధర్మి - నాట్యధర్ముల లక్షణోదాహరణాలు

16. "**స్వభావభావోపగతం శుద్ధం త్వవికృతం తథా,**
లోకవార్తాక్రియోపేతమఙ్గలీలావివర్జితమ్.
స్వభావాభినయోపేతం నానాస్త్రీపురుషాశ్రయమ్
యదీదృశం భవేన్నాట్యం లోకధర్మీ తు సా స్మృతా"...
"**యోఽయం స్వభావో లోకస్య సుఖదుఃఖక్రియాత్మకః,**
సోఽఙ్గాభినయసంయుక్తో నాట్యధర్మీ తు సా స్మృతా. (14.70.71,78)

సంగీతరత్నాకరంలో కల్లినాథుడు "**వాక్యాభినయే కేవలవాక్యోచ్చారణం లోకధర్మీ, రాగయుక్తవాక్యోచ్చారణం నాట్యధర్మీ**" (సం.ర.పే. 629) అని వీటిని విశదీకరించాడు.

15. అచ్చులమీద హల్లులమీద ఆధారపడిన వాచికాభినయం. నాట్యానికి వాక్యం (మాటలాడడం) శరీరం. ఆంగికాభినయం, వేషం, రంగస్థలానికి సంబంధించిన ఏర్పాట్లు ఇవన్నీ ఏమి మాటలాడుతారో వాటి భావాన్ని స్పష్టీకరిస్తాయి. అచ్చులు, హల్లులు, నామవాచకాలు, క్రియాపదాలు, ఉపసర్గలు, క్రియావిశేషణాలు, సమాసాలు మొదలైనవాటి వివరణ. రూపకంలో సంభాషణాదికం సంస్కృతంలో కాని, ప్రాకృతంలో కాని రెండింటిలోనూ కాని ఉండాలి; ఒకటినుండి ఇరవైయారు అక్షరాలవరకు ఉన్న వృత్తాలు, వాటి అవాంతరభేదాలు, అవి అసంఖ్యాక మైనవి. భ-మ-జ మొదలైన ఎనిమిది గణాలు గురు - లఘు - యతుల అర్థాలు.

16. రూపకాలలో ఉపయోగించదగిన వృత్తాలు, వాటి లక్షణాలు ఉదాహరణలు. సమ - విషమవృత్తాలు, ఆర్యలు.

17. రంగంమీద ప్రయోగించే కావ్యంలో ఉండవలసిన లక్షణాలు. వాటి స్వరూపం. నాటకంలో ఉపయోగించే ఉపమ, రూపకం, దీపకం, యమకం అనే నాలుగు అలంకారాలు, వాటి అవాంతర భేదాలు; ఉదాహరణలు, పది కావ్యదోషాలు, పది కావ్యగుణాలు, వాటి లక్షణాలు, (భరతుడు "**కావ్యబన్ధాస్తు కర్తవ్యాః షట్త్రింశల్లక్షణాన్వితాః**" అని చెప్పిన లక్షణాలు క్రమక్రమంగా విస్మృతప్రాయా లైపోయా యనీ, ఆశీస్సు, దృష్టాంతం మొదలైన కొన్ని లక్షణాలు అలంకారాలలో అంతర్గతం చేయబడ్డా యనీ అభినవగుప్తుడే అన్నాడు - "**తత్ర గుణాలంకారాదిః వృత్తయశ్చ ఇతి కావ్యేషు ప్రసిద్ధో మార్గః. లక్షణాని తు న ప్రసిద్ధాని**" II పే.294.)

18. రూపకాలలో ప్రాకృతభాషను ఉచ్చరించే విధానం మూడు విధాలుగా ఉంటుంది. (1) సంస్కృతం వలెనే ఉచ్చరించడం (2) విభ్రష్టంగా అనగా సంస్కృతంలోని అచ్చులను హల్లులను మార్చి, ఉచ్చరించడం, (3) దేశరీతిలో ఉచ్చరించడం. ఏ పాత్రలు సంస్కృతంలో మాట్లాడాలి, ఏవి ప్రాకృతంలోను ఇతరములైన ప్రాంతీయభాషలలోను మాటలాడాలి. శౌరసేని ప్రధానప్రాకృతభాష. మాగధి, అవంతిజ, ప్రాచ్య, అర్ధమాగధి, బాహ్లీక, దాక్షిణాత్య అనే ఇతర ప్రాకృతాలు కూడ ఉన్నాయి. వీటిని నటుల ఇష్టాన్ని పట్టి ఉపయోగించాలి. వీటిని ఎవరు ఉపయోగించాలి? శబరులు, ఆభీరులు, చండాలులు, స(శ)కారులు, ద్రవిడులు, ఓఢ్రులు, ఆటవికులు మాటలాడే భాషలకు విభాష లని పేరు.

19. ఉత్తమ - మధ్యమ - నీచ పాత్రలను ఎలా సంబోధించాలి? ఉదాహరణకి బ్రాహ్మణుణ్ణి 'ఆర్య', అనీ, రాజును 'మహారాజ' అని సంబోధించాలి. మొదటి మూడు వర్ణాలవాళ్ల పేర్ల చివర వరసగా 'శర్మ' 'వర్మ' 'దత్త' అని ఉండాలి. వేశ్యల పేర్ల చివర 'దత్తా' 'మిత్రా' 'సేనా' అని ఉండాలి. పాఠ్యగుణాలు, ఏడు సంగీత స్వరాలు, హృదయం, కంఠం, శిరస్సు అనే మూడు ఉచ్చారణస్థానాలు, ఉదాత్తం, అనుదాత్తం స్వరితం, కంపితం అనే నాలుగు స్వరాలు. రెండు విధాలైన కాకుస్వరాలు, ఉచ్చం, దీప్తం, మంద్రం, నీచం, ద్రుతం, విలంబితం అనే అలంకారాలు.

20. పది విధాలైన రూపకాలను గూర్చిన వివరణ -

"నాటకం సప్రకరణమఙ్కో వ్యాయోగ ఏవ చ,
భాణః సమవకారశ్చ వీథీ ప్రహసనం డిమః,
ఈహామృగం చ విజ్ఞేయం దశమం నాట్యలక్షణమ్" (నా.శా.20, 2,3)

దశరూపకాలలో మొదటిదైన నాటకంలో ఉండే విషయాలు దాని ప్రధానలక్షణాలు. రంగంమీద ఏ విషయాలు చూపవచ్చును ఏవి చూపకూడదు?

"క్రోధప్రసాదశోకాః శాపోత్సర్గోఽథ విద్రవోద్వాహౌ,
అద్భుతసంశ్రయదర్శనమఙ్కప్రత్యక్షజాని స్యుః.
"యుద్ధం రాజ్యభ్రంశో మరణం నగరరోధనం చైవ,
అప్రత్యక్షకృతాని ప్రవేశకైః సంవిధేయాని,
అఙ్కప్రవేశకే వా ప్రకరణమాశ్రిత్య నాటకం వాపి.
న వధః కర్తవ్యః స్యాద్యోఽభ్యుదయీ నాయక స్తస్య (నా.శా. 20.20.22)

రంగస్థలం మీద మరణాన్ని ప్రత్యక్షంగా చూపడం విషయంలో అనేకమతాలను ఉదాహరించి అభినవగుప్తుడు "ఎట్టి పరిస్థితిలోనూ రంగస్థలంమీద మరణం చూప కూడదు" (తస్మాద్రఙ్గే మరణమ్ అప్రయోజ్యమేవ) అని అంటాడు. (Vol. II 426.)

ప్రవేశక - విష్కంభకాల విధానం, ప్రకరణాదుల ప్రధానలక్షణాలు. వాటి అంగాల లక్షణాలు.

21. రూపకకథావస్తువు. ఆధికారికం, ప్రాసంగికం అని కథావస్తువు రెండు విధాలు. ఐదు సంధులు, ప్రారంభం యత్నం మొదలైన ఐదు అవస్థలు. బీజ - బిందు - పతాకా - ప్రకరీ - కార్యా లనే ఐదు అర్థప్రకృతులు, వాటి లక్షణాలు. సంధ్యంతరాలు. ఐదు సంధుల 64 అంగాలు (ముఖసంధికి 12, ప్రతిముఖానికి 14, గర్భానికి 12, విమర్శకు 13, నిర్వహణానికి 14) వాటి లక్షణాలు, విష్కంభకం, చూళిక, ప్రవేశకం, అంకావతారం, అంకముఖం అనే ఐదు అర్థోపక్షేపకాలు (ఇవి అంకానికీ అంకానికీ మధ్య జరిగినవీ, రంగస్థలంమీద ప్రదర్శించడానికి శక్యం కానివీ అయిన కథాంశాలను సూచించడానికి ఉపయోగిస్తాయి.) నాటకంలో ప్రయోగించబడనిది లేదా నాటకానికి ఉపయోగించనిదీ అయిన జ్ఞానం కాని, విద్య గాని, కళ గాని, శిల్పం గాని, కర్మ గాని లేదు -

**"న తద్ జ్ఞానం న తచ్ఛిల్పం న సా విద్యా న సా కలా,
న తత్కర్మ న యోగోఽసౌ నాటకే యన్న దృశ్యతే"** (నా.శా. 21.122)

దీనిని అభినవగుప్తుడు ఈ విధంగా వ్యాఖ్యానించాడు. **జ్ఞానమితి ఉపాదేయం ఆత్మజ్ఞానాది... విద్యా దణ్డనీత్యాది... యోగః యోజనం తేషామేవ జ్ఞానాదీనాం కలాన్తానాం స్వభేదైః, అన్యోన్య స్వభేదైః... కర్మేతి యుద్ధనియుద్ధాదిః వ్యాపారః.)**

22. భారతీ, సాత్వతీ, కైశికీ, ఆరభటీ అనే నాలుగు వృత్తులు : మధుకైటభు లనే అసురులతో విష్ణువు యుద్ధం చేస్తున్న సమయంలో అవి ఆవిర్భవించాయి. ఈ నాలుగు వృత్తులూ వరుసగా ఋగ్ - యజుస్ - సామ - అథర్వవేదాలనుండి జనించాయి. వాటి అవాంతర భేదాలు వాటి లక్షణాలు. ఈ నాలుగు వృత్తులలో దేనిని ఏ రసంలో ఉపయోగించాలి.

23. రూపకప్రయోగం అంతా ఆహార్యాభినయంమీద ఆధారపడి ఉంటుంది. ఇది నేపథ్యం మీద అనగా - వేషాలు అలంకారాలు ప్రయోగసాధనాలు లేదా ఉపకరణాలు వీటిమీద ఆధారపడి ఉంటుంది.

**"ఆహార్యాభినయో నామ జ్ఞేయో నేపథ్యజో విధిః,
తత్ర కార్యః ప్రయత్నస్తు నాట్యస్య శుభమిచ్ఛతా".** (నా.శా. 23.2)
"సమస్తాభినయప్రయోగచిత్రస్య భిత్తిస్థానీయమ్ ఆహార్యమ్". (అ.భా.)

పుస్తాలు, అలంకారాలు, అంగరచన, సంజీవం లేదా సజ్జీవం అని నేపథ్యం నాలుగు విధాలు. కొండలు, బండ్లు మొదలైన వాటిని చూపడానికి బట్టలతో గాని తోలుతో గాని తయారుచేసినవి పుస్తాలు. పుష్పమాలలు, తలనుంచి పాదాలవరకు

వివిధావయవాలమీద ధరించే అలంకారాలు, వివిధ దేశాలకు నగరాదులకు అనుగుణంగా ఉండేటట్లు స్త్రీ - పురుషులు ధరించే వస్త్రాలు, తిలకం, కాటుక, దంతాలకీ పెదవులకీ రంగు - ఇవి అలంకారం. రాజులు, ధనవంతులు, కిరాతులు, ఆంధ్రులు, శకులు, యవనులు, శూద్రులు మొదలైన వాళ్ల శరీరచ్ఛాయకు తగునట్లు శరీరానికి పూసికొనే రంగూ, గడ్డాలు, మీసాలూ - ఇవి అంగరచన. చతుష్పాజ్జంతువులను, ద్విపాదులను, పక్షులను సర్పాలను చూపడానికి ఉపకరించే సాధనాలు సంజీవాలు, నాట్యోపకరణాలు, కృత్రిమములైన ఆయుధాలు.

24. సామాన్యాభినయం, సత్త్వాన్ని (మానసికభావాన్ని) పైకి ప్రకటించే పద్ధతులు, యువతుల భావము, హావము, హేల అనే మూడువిధా లైన అలంకారాలు. లీల, విలాసం మొదలైన పది స్వభావజాలంకారాలు. శోభ, కాంతి, దీప్తి, మాధుర్యం ధైర్యం, ప్రాగల్భ్యం, ఔదార్యం అనే ఏడు అయత్నజములైన అలంకారాలు. వీటి లక్షణాలు. పురుషులలో శోభ మొదలైన సత్త్వావిర్భావాలు 'రసభావానుసారం శారీరకాభినయం. రూపకంలోని వాక్యకథనానికి సంబంధించిన ఆలాప - ప్రలాప విలాపాదులైన పన్నెండు విధాలైన అభినయం. ఇవన్నీ వాక్యాభినయాలు. ఇష్టవస్తువులను గాని అనిష్టవస్తువులను గాని వినేటప్పుడు, స్పృశించేటప్పుడు, చూచేటప్పుడు, రుచిచూచే టప్పుడు చేయవలసిన అభినయం. అనేకవిధాల స్త్రీల వర్ణన. అభిలాష, చింతనం, అనుస్మృతి, సుఖకీర్తనం, ఉద్వేగం, విలాపం, ఉన్మాదం, వ్యాధి, జడత, మరణం అనే పది కామావస్థలు; వాటి వర్ణన, వాటి అభినయం. దూతిని పంపడం. వాసకసజ్జ, స్వాధీనపతిక, అభిసారిక, మొదలైన ఎనిమిది విధాలైన నాయికలు. ప్రేక్షకులలో తండ్రులు - కుమారులు, కోడళ్లు - అత్తలు మొదలైన వాళ్లు కలిసి ఉంటారు గాన అలాంటప్పుడు ఇవన్నీ రంగం మీద ఎలా ప్రదర్శించాలి.

"న కార్యం శయనం రఙ్గే నాట్యధర్మం విజానతా,...
చుమ్బనాలిఙ్గనం చైవ తథా గుహ్యం చ యద్భవేత్.
దన్తనఖక్షతం భేద్యం నీవీస్రంసనమేవ చ,
స్తనాధరవిమర్దం చ రఙ్గమధ్యే న కారయేత్.
భోజనం సలిలక్రీడాం తథా లజ్జాకరం తు యత్,
పితృపుత్రస్నుషాశ్వశ్రూదృశ్యం యస్మాత్తు నాటకమ్.
తస్మాదేతాని సర్వాణి వర్జనీయాని యత్నతః. (నా.శా. 24.285 - 289)

ప్రియురాళ్లు ప్రేమతో ఉన్నప్పుడు, అసూయతో ఉన్నపుడూ నాయకులను ఎలా సంబోధించాలి.

25. కళలలో నిపుణుడై స్త్రీలను వేశ్యలను ఆవర్జించడంలో నేర్పు కలవాడు వైశికుడు. అలాంటివానికి సహజంగా ఉండేవి, నేర్చుకొనేవి అయిన ముప్పైమూడు గుణాలు. వాని మిత్రుడు, దూతి. ఒక పురుషుని విషయంలో ప్రేమ కలిగిన లేదా వానిని ద్వేషించే స్త్రీయొక్క చిహ్నాలు, స్త్రీల యౌవనానికి సంబంధించిన నాలుగు అవస్థలు, ప్రేమించే పురుషులలో నాలుగు భేదాలు, స్త్రీలను వశం చేసికొనడానికి సామం, ప్రదానం, భేదం, దండం, ఉపేక్ష అనే అయిదు ఉపాయాలు.

26. చిత్రాభినయం అనగా ఇంతవరకు విశదీకరింపబడని ఆంగికాభినయం (అందుచేత సామాన్యాభినయానికి అనుబంధంగా చెప్పిన అభినయం). ఆకాశాన్ని, రాత్రిని, సాయంకాలాన్ని, చీకటిని వేడిని ఎలా ప్రదర్శించాలి (సూచించాలి). సంతోషాన్ని, కోపాన్ని, బాధను దుఃఖాన్ని ఎలా ప్రదర్శించాలి. ఆకాశవచన - ఆత్మగత - అపవారితక - జనాంతికాల అర్థం. వృద్ధులు బాలులూ వాళ్ల వాళ్ల సంభాషణ ఎలా చెయ్యాలి (ఉచ్చరించాలి). ఒకడు చావబోతున్నాడు అనేదానిని ఎలా చూపించాలి. ఇతరాభినయా లన్నీ లోకంనుండి నేర్చుకోవాలి.

"నోక్తా యే చ మయా తత్ర లోకగ్రాహ్యాస్తు తే బుధైః,
లోకో వేదాస్తథాధ్యాత్మం ప్రమాణం త్రివిధం స్మృతమ్.
తస్మాన్నాట్యప్రయోగే తు ప్రమాణం లోక ఉచ్యతే,
కృతానుకరణం లోకే నాట్యమిత్యభిధీయతే.
లోకస్య చరితం యత్తు నానావస్థాన్తరాత్మకమ్,
తదఙ్గాభినయోపేతం నాట్యమిత్యభిసంజ్ఞితమ్". (నా.శా. 26.111-115)

27. సిద్ధి (చక్కగా జరిగిన నాట్యప్రయోగం). "మానుషీసిద్ధి" "దైవసిద్ధి" అని సిద్ధి రెండు విధాలు. వస్త్రాదులను బహూకరించడంచేత, చిరునవ్వులచేత, విదూషకుడు విచిత్రంగా ప్రవర్తిస్తున్నపుడు బిగ్గరగా నవ్వడంచేత, ఆశ్చర్యకరాలైన దృశ్యాలు, లేదా ప్రేమదృశ్యాలు వచ్చినపుడు 'సాధు సాధు' అని గాని, 'అహో' అని కాని అనడంచేత, కరుణప్రధాన దృశ్యాలలో "కష్టం!" అనడంచేత ప్రేక్షకులు నాట్యప్రయోగంయొక్క సిద్ధిని (సాఫల్యాన్ని) సూచించాలి. ప్రయోగం జరుగుతున్నప్పుడు కలకలధ్వన్యాదులు గాని ఇతర ప్రతిబంధకాలు గాని లేకపోవడం, అపశకునాలేవీ లేకపోవడం, ప్రేక్షాగృహం ప్రేక్షకులతో నిండి ఉండడం ఇవన్నీ 'దైవికసిద్ధి'. అగ్నిప్రమాదం, సుడిగాలి, ఏనుగు, సర్పాలు మొదలైనవి, నటులను ద్వేషించే ప్రేక్షకులు చప్పట్లు కొట్టడం. పేడ, బురద, విసరడం, నటులు తమ సంభాషణం మరిచిపోవడం, కిరీటం గాని అలంకారాలు గాని పడిపోవడం - ఇవన్నీ అపశకునాలు. నాట్యప్రయోగం సాధుత్వాసాధుత్వాలను నిర్ణయించేవాళ్లకి

ఉండవలసిన యోగ్యతలు.

28. తతములు (తీగ లుండే వీణాదులు), అవనద్ధాలు' (చర్మం బిగించిన మద్దెళ్లు మొదలైనవి), ఘనాలు (తాళాలు), సుషిరాలు (రంధ్రా లున్న పిల్లన గ్రోవి మొదలైనవి) అని నాలుగు విధాలైన వాద్యాలు. షడ్జ - ఋషభాది సప్తస్వరాలు. వాటిలో వాది, సంవాది, అనువాది, వివాది అను నాలుగేసి భేదాలు, వాటి లక్షణాలు, గ్రామాలు మూర్ఛనలు, ఇరవై రెండు శ్రుతులు, జాతులు.

29. ఏ రసానికి ఏ స్వరాలను ఏ జాతులను ఉపయోగించాలి. ఆరోహి, అవరోహి, స్థాయి, సంచారి అను నాలుగు వర్ణాలు; వాటిపై ఆధారపడి ఉన్న ముప్పైమూడు అలంకారాలు వాటి లక్షణాలు; గీతులు.

30. మురజులు.

31. తాల - లయలు.

32. ధ్రువాల వర్ణన. ఒక పాత్ర రంగస్థలంమీద ప్రవేశించేటప్పుడు, రంగస్థలాన్ని విడిచి వెళ్లేటప్పుడు, ఒక అంకం ముగిసినప్పుడు, రూపకప్రయోగం జరుగుతున్నప్పుడు మధ్య మధ్య, ఒక పాత్ర క్రింద పడిపోయినప్పుడు తాను చెప్పవలసిన మాటలు మరచి నప్పుడు లేదా మూర్ఛపోయినప్పుడు ధ్రువాగానం చేయబడుతుంది.

"ప్రావేశికీ తు ప్రథమా ద్వితీయాక్షేపికీ స్మృతా,
ప్రాసాదికీ తృతీయా చ చతుర్థీ చాన్తరా ధ్రువా.
నైష్క్రామికీ చ విజ్ఞేయా పఞ్చకీ చ ధ్రువా బుధైః". (నా.శా. 32.23,24)

ఈ ధ్రువలలో కొన్ని సంస్కృతంలో ఉన్నా, సాధారణంగా ఇవి శౌరసేనిలో ఉండాలి. గానం చేసేవారికి, వీణావేణ్వాదులను ప్రయోగించేవాళ్లకి ఉండవలసిన యోగ్యతలు. పాడడం స్త్రీలకు సహజంగా లభిస్తుంది. పురుషులకు వాద్యాలు ప్రయోగించడం సహజంగా అలవడుతుంది.

"ప్రాయేణ తు స్వభావాత్ స్త్రీణాం గానం నృణాం చ వాద్యవిధిః,
స్త్రీణాం స్వభావమధురః కణ్ఠో నృణాం బలత్వం చ" (నా.శా. 32.465)

సంగీతోపాధ్యాయునికి, నేర్చుకొనే శిష్యునికి ఉండవలసిన ఆరు యోగ్యతలు.

33. మృదంగం, పణవం, దర్దురం మొదలైన అవనద్ధవాద్యాల విస్తృతవర్ణన. గాంధర్వాన్ని, వాద్యాలను స్వాతి - నారదులు తొలిసారిగా ప్రవర్తింపచేశారు. అన్ని రకాల వాద్యాలను ప్రయోగించవలసిన సమయాలు. వాద్యాల అధిష్ఠానదేవతలు.

34. పురుషులలోను, స్త్రీలలోను ఉత్తమ - మధ్యమ - అధమ అనే మూడు

ప్రకృతులు, వారి లక్షణాలు. **"ఏవం చ శీలతో నృణాం ప్రకృతిస్త్రివిధా స్త్రియాః"** (నా.శా. 34.8). రూపకనాయకులలో ధీరోద్ధతుడు, ధీరలలితుడు, ధీరోదాత్తుడు, ధీరశాంతుడు అను నాలుగు భేదాలు, ఈ భేదాలలోనికి ఎవరు చేరుతారు. రూపకాలలో వచ్చే మహాదేవి, దేవి, నర్తకి, పరిచారిక మొదలైన వేరు వేరు విధాలైన స్త్రీలు, వాళ్ల వర్ణన. కంచుకీయులు వర్షవరులు మొదలైనవాళ్లు, అంతఃపురపరిచారికలు, నృపుడు - సేనాపతి, పురోహితుడు, మంత్రి, సచివుడు, ప్రాడ్వివాకుడు, కుమారుడు మొదలైనవారి ప్రధానలక్షణాలు.

35. నాటక ప్రయోగం చేయవలసిన నటసముదాయంలో (నాటకసంఘాలలో) ప్రతీ ఒక్కరికీ వారి వారి కర్తవ్యాలను నిర్దేశించడం, ఒక్కొక్కరికీ ఉండవలసిన యోగ్యతలు.. రావణుడు మొదలైన పాత్రల చేతులు తలలు మొదలైనవాటిని, సింహాలు ఏనుగులు మొదలైన వాటిని చూపడానికి ఉపయోగించే మట్టితోను, తోలుతోను, కఱ్ఱతోను చేసిన వివిధ సాధనాలు (నాట్యధర్ములు), స్త్రీ పాత్రలు ధరించే పురుషులను గూర్చి, పురుషపాత్రలు ధరించే స్త్రీలను గూర్చి, సుకుమారరూపకాల (నాటక - ప్రకరణ - భాణ - వీథీ - అంకాల) ప్రయోగం; ఆవిద్ధరూపకాల (డిమం మొదలైనవాటి) ప్రయోగం. సూత్రధార - పారిపార్శ్వికుల కుండవలసిన యోగ్యతలు, విట - శకార - విదూషక - చేట - నాయికా - గణికా - నటాదుల లక్షణాలు. మాల్యకార - వేషకర - రజక - కారుకాదిశిల్పుల లక్షణాలు.

"ఉజ్జ్వలవస్త్రాభరణః క్రుధ్యత్యనిమిత్తతః ప్రసీదతి చ,
అధమో మాగధభాషీ భవతి శకారో బహువికారః". (నా.శా. **35,56)**

36. "పూర్వరంగంలో ఏ దేవతను పూజించాలి? స్వర్గలోకంనుండి నాట్యం భూలోకానికి ఏ విధంగా వచ్చింది? భరతుని వారసులకు నటు లనే పేరు ఎందుకు వచ్చింది" అని ఆత్రేయుడు మొదలైనవారు భరతుణ్ణి ప్రశ్నించారు. భరతడు ఈ విధంగా సమాధానం చెప్పాడు. నా కుమారులు నాట్యవేదంలో తమ కున్న ప్రావీణ్యాన్ని చూచుకొని దృప్తులై మునీశ్వరులను అనుకరించడం ప్రారంభించారు; కొన్ని అనుచితములైన రూపకాలు నిర్మించారు. మునీశ్వరులు కోపించి భరతులు వాళ్ల సంతానం (లేదా అనుయాయులు) శూద్రులవుతా రని శపించారు. వాళ్లు తమకు తెలిసిన నాట్యశాస్త్రాన్ని ఇతరులకు, మంచి శిష్యులకు బోధించి ఆ విధంగా ప్రాయశ్చిత్తం చేసికొనవలసినదిగా నేను వాళ్లకి సలహా ఇచ్చాను. తరవాత ఇంద్రపదాన్ని అధిరోహించిన నహుషుడు నాట్యశాస్త్రాన్ని భూలోకంలో ప్రచారం చేయవలసిందిగా నన్ను ఆజ్ఞాపించాడు. కోహలుడు నాట్యవేదానికి కావలసిన కొన్ని అంశాలను కూరుస్తా డని కూడ అత డన్నాడు. తరవాత భరతుని కుమారులు

ధూర్తిలుడు దానిని ఈ లోకంలో ప్రచారం చేశారు. **నాట్యశాస్త్రం** చాల మంగళకరమైనది; పవిత్రమైనది. పుష్పగంధాదులతో పూజచేయటంచేతకంటె నాట్యాన్ని ప్రయోగిస్తే దేవతలు చాల సంతోషిస్తారు.

ఇది నాట్యసర్వస్వం వంటి **నాట్యశాస్త్రంలో** ఉన్న విషయాల సంక్షిప్తస్వరూపం. ఒక రూపకప్రయోగాన్ని చూచినప్పుడు కలిగే ఆనందానికి మూలకారణం దీనిలో అతివిస్తృతంగా విశ్లేషించి వివేచింపబడింది. ప్రేక్షాగృహనిర్మాణం, వివిధఛందస్సుల స్వరూపం, అభినయాలు, మాటలాడేటప్పుడు అవలంబించవలసిన వాక్యోచ్చారణ విధానాలు, వివిధరూపకాల స్వరూపం, కథావస్తువిశ్లేషణం, కథావస్తువులలో ఉండే పద్ధతులు చర్చించబడ్డాయి. గీతాలాపనవిధానాలు, ఉపయోగించవలసిన వాద్యాలు, సంగీతస్వరాలు మొదలైనవి ప్రతిపాదింపబడ్డాయి. అన్నింటికి మించి రూపకంయొక్క అత్యున్నతప్రయోజనాలను ఆదర్శాలను విశదీకరిస్తూ అసభ్యచేష్టాభాషాదుల ఉపయోగం నిషేధింపబడింది. నటులు అత్యున్నతమైన అధ్యాత్మికోన్నతిని లక్ష్యంగా పెట్టుకొని తమ కళను శ్రద్ధతో అభ్యసించి దానిలో నిర్దుష్ట మైన ప్రావీణ్యాన్ని సంపాదించా లనీ, ఆ విధంగా సమాజసేవ చేయడం ద్వారా పుణ్యం సంపాదించ కలుగుతా రనీ ఉపదేశింప బడింది. నాట్యశాస్త్రంలోని చివరి అధ్యాయంలో సూచించినట్లు నటుల నీతిబాహ్యప్రవృత్తి చేత నటులూ నాటకాలూ కూడ అపకీర్తికి పాలైనట్లు స్పష్టం అవుతుంది. ఆ అపకీర్తి తొలగించడం కోసం ఈ శాస్త్రంలో నటులూ రూపకాలూ కూడ అత్యున్నతమైన ఆదర్శాలను పాటించి సమాజాభ్యున్నతికీ సమాజసేవకు అంకితం కావాలని ఉపదేశం ఇవ్వబడింది. నాటకాలను గూర్చి రచించిన గ్రంథాలలో ఈ నాట్యశాస్త్రానికి, ప్రపంచ వాఙ్మయం లోనే సాటి లేదని నిఃసంశయంగా చెప్పవచ్చును. ఇది ఒక అసాధారణమైన అద్భుతమైన గ్రంథం. సమగ్రవిషయప్రతిపాదనలోను, సాహిత్యసౌందర్యంలోను, కళాత్మకవైచిత్ర్యంలోను, నాట్యశాస్త్రంతో సరితూగ గలిగిన గ్రంథం ప్రపంచంలోని ఏ భాషలోనూ కనబడదు.

భరతనాట్యశాస్త్రాన్ని గూర్చి ఏ.యల్. బాషం (A.L. Basham, Professor of Asian Civilzation in the Australian National Univerity, Canberra), "ది వండర్ దట్ వజ్ ఇంసియా" *(The Wonder that Was India)* అను గ్రంథంలో ఇలా అన్నాడు. "The Bharata *Natya Sastra* is our earliest Indian authority on these three arts (Drama, Music and Dance) and it shows by this time India had a fully developed system of music out of which later Indian 'classical' music developed" P. 384.

... has changed little with the

centuries, and the best modern Indian dancers, such as Uday Shankar and Ram Gopal, still dance according to the rules of the *Bharata Natya Sastra.* Dancing (Nrtya) was closely connected with acting (Natya) ... Indian dancing is not a thing of legs and arms alone,but of the whole body. Every movement of the little finger or the eye - brow is significant and must be fully controlled. The poses and grestures are classified in detail, even as early as the *Bharatanatya Sastra*. Which mentions thirteen postures of the head, thrity six of the eyes, nine of the neck, thirty seven of the hand and ten of the body. Later texts classfiy many more poses and gestures, everyone of which depicts a specific emotion or object. with so many possible combinations the dancer can tell a whole story easily comprehensible to the observer who knows the convention.

The most striking feature of the Indian dance is undoubtedly, the hand gesture (Mudra). By a beautiful and complicated code, the hand alone is capable of portraying not only a wide range of emotions, but gods, animals men, natural scenery, actions and so on." P. 387

"భారతీయుల నాట్యం (డ్రామా), సంగీతం, నృత్యం అనే ఈ మూడు కళలకు సంబంధించిన, మన కీ నాడు లభిస్తూన్న అతిప్రాచీనమైన ప్రామాణికగ్రంథం భరతుని నాట్యశాస్త్రం. ఈ గ్రంథం బయలుదేరే నాటికే భారతీయ సంగీత సంప్రదాయం సర్వతోముఖ వికాసం చెందిన దని ఈ గ్రంథం వల్ల తెలుస్తూన్నది. ఈ నాడు భారతదేశంలో ప్రచారంలో ఉన్న శాస్త్రీయసంగీతానికి ఈ గ్రంథమే మూలాధారం". (P. 384)

"ఇన్ని శతాబ్దాలు గడిచినా కూడ, భారతీయసంగీతంలో వలెనే భారతీయనృత్యంలో కూడ మార్పు లేవీ రాలేదు. ఉదయశంకర్, రామ్‌గోపాల్ మొదలైన, విశ్వవిఖ్యాతి గాంచిన ఆధునికభారతీయనృత్యవిద్వాంసుల నృత్యప్రయోగాలు కూడ పూర్తిగా భరతనాట్యశాస్త్రంలో చెప్పిన నియమాలను అనుసరించి జరుగుతున్నాయి. నృత్యానికీ, (dance) నాట్యానికీ (acting) చాల దగ్గర సంబంధం ఉంది ...

భారతీయనృత్యం అనగా కేవలం చేతులూ, కాళ్లూ ఆడిస్తూ చేసేది కాదు. ఈ నృత్యంలో మొత్తం శరీరానికి పని ఉంటుంది. చిటికనవేలులో గాని, కనుబొమ్మలో గాని కనబడే ప్రతీ కదలికకూ కూడ ఒక అర్థం, ప్రయోజనం ఉంటుంది. నాట్యశాస్త్రం కాలంనాటికే ఎన్నో స్థానకాల (poses, postures) చేష్టల (gestrues) విధానాలు,

... (postures)

పదమూడు,, మెడకు సంబంధించినవి తొమ్మిది, ముప్పైఆరు విధాల నేత్రాభినయాలు, ముప్పైఏడు హస్తాభినయాలు, పది శరీరాభినయాలు నాట్యశాస్త్రంలో చెప్పబడ్డాయి. తరువాత వచ్చిన గ్రంథాలలో కూడ వేరు వేరు భావాలను, వస్తువులను సూచించడానికి ఉపయోగించే అనేకవిధాల చేష్టలు చెప్పబడ్డాయి. ఇన్ని విధాలైనస్థానకాలను, అభినయ విశేషాలను కలపడం ద్వారా నటుడు, నృత్యసంప్రదాయజ్ఞులకు అర్థం అయే టట్లు మొత్తం ఒక కథ అంతా చెప్పగలడు (అభినయం ద్వారా సూచించగలడు).

భారతీయనృత్యంలో కొట్టవచ్చి నట్లు కనబడే ఒక అసాధారణమైన అంశం హస్త ముద్ర. చాల మనోహరమైన, దురవగాహమైన ఈ సాంకేతిక పద్ధతిలో (code) కేవలం అనేకవిధాలైన భావాలనే కాదు దేవతలను, జంతవులను, మానవులను, ప్రాకృతిక దృశ్యాలను, కొన్ని పనులు మొదలైనవాటినీ కూడ సూచించవచ్చును." (P. 387)

ప్రతిభారతీయుడూ గర్వించ దగిన ఈనాటికీ కూడ ఎందరో కళానిష్ణాతులు భక్తిశ్రద్ధలతో పరిరక్షించుకొంటూ వస్తూన్న ఇంతటి ప్రాచీనభారతీయసాంస్కృతిక సంపదకు నిధానమైనది ఈ భరతనాట్య శాస్త్రం.

నాట్యశాస్త్రం అత్యున్నతాలైన ఆదర్శాలను నటుల ముందు ఉంచినా కూడ కొన్ని శతాబ్దాల అనంతరమే నటులు చాల నీచస్థితికి దిగజారిపోయి నట్లు ఎనిమిదవ శతాబ్దం ఉత్తరార్ధానికి చెందిన దామోదరుని **కుట్టనీమతం** ద్వారా తెలుస్తూన్నది. ఈ గ్రంథంలోని 881-928 శ్లోకాలలో ఒక అసాధారణమైన విషయం చెప్పబడింది. ఒక దేవాలయంలో ఒక రాజు సమక్షాన హర్షవర్ధనుని **రత్నావళి**లోని మొదటి అంకాన్ని ప్రదర్శించారు. స్త్రీ - పురుషపాత్రలు రెండూ వేశ్యలే నిర్వహించారు. మంజరి అనే వేశ్య రత్నావళి పాత్ర నిర్వహించింది. మరొక వేశ్య ఉదయనుని వేషం ధరించింది. **రత్నావళి**లోని ఒక శ్లోకం (1.24) కూడ **కుట్టనీమతం**లో ఉదాహరించబడింది. ఏ మాత్రం సంకోచం లేకుండా వేశ్యలు ధన సంపాదనమే తమ పరమలక్ష్యంగా పెట్టుకొని ప్రవర్తించారు. ఆ రోజులలోని చాలమంది జనులలో, ముఖ్యంగా సంగీతనృత్యాదులకు సంబంధించి నవాళ్లలో ఎంతటి నైతికపతనం ఉండేదో మృదుమధురభాషలో రచించిన ఈ కావ్యంలో స్పష్టంగా వర్ణింపబడింది. ఎనిమిదవ శతాబ్దంలోని ఉత్తరార్ధంలో **నాట్యశాస్త్ర**గ్రంథస్వరూపం ఎలా ఉండేదో **కుట్టనీమతం** అతిస్పష్టంగా విశదీకరిస్తుంది. **కుట్టనీమత** రచయిత అయిన దామోదరగుప్తుణ్ణి కాశ్మీరరాజైన జయాపీడుడు తన మంత్రిపరిషత్తులో ప్రధానుణ్ణిగా చేసినట్లు రాజతరంగిణి చెపుతున్నది -

"స దామోదరగుప్తాఖ్యం కుట్టనీమతకారిణమ్,
కవిం కవిం బలిరివ ధుర్యం ధీసచివం వ్యధాత్". (రాజతరంగిణి 4.496)

జయాపీడుడు క్రీ.శ. 779 నుండి 813 వరకు పాలించాడు. ఈ కాలము

పరిస్థితులను వర్ణించాలంటే వంద కుట్టనీమతాలు కూడ సరిపోవేమో!

నాట్యశాస్త్రం కాలం - నాట్యశాస్త్రం ఆవిర్భవించిన కాలాన్ని గూర్చి వెనుక కొంతవరకు సూచింపబడింది. నాట్యశాస్త్రం కాలాన్ని గూర్చి మాటలాడడానికి ముందు కొన్ని విషయాలు గుర్తుంచుకోవాలి. ఆ యా కాలాలలో **నాట్యశాస్త్రం**లో వివిధవిషయాలు చేర్చబడ్డాయి. అందుచేత దీని వ్రాతప్రతులలో ఎన్నో పాఠభేదాదు లున్నాయి. అందుచేత **నాట్యశాస్త్రం** కాలాన్ని నిర్ణయించడం అనగా **నాట్యశాస్త్రం**లో ప్రధానమైన భాగం యొక్క కాలాన్ని నిర్ణయించడంగా తెలుసుకోవాలి. ఇక్కడా అక్కడా జరిగిన అనేక పద్యభాగాల చేర్పులను పరిశీలించడం ఈ సందర్భంలో కుదరదు.

నాట్యశాస్త్రం కాలాన్ని గూర్చి విమర్శకులలో అభిప్రాయ భేదాలున్నాయి. క్రీ.పూ. రెండవ శతాబ్దంలో నాట్యశాస్త్రం రచింపబడిన దని మ.మ. హరప్రసాదశాస్త్రి అభిప్రాయ పడ్డారు. **నాట్యశాస్త్రం**లో ఉపయోగించిన కొన్ని పదాలను ఆధారంగా చేసికొని ప్రొఫెసర్ లెవి **నాట్యశాస్త్రం** ఇండోసిథియన్ క్షత్రపుల కాలంలో రచింపబడి ఉంటుందని అన్నాడు. క్రీ.శ. మూడవ శతాబ్దికి పూర్వమే రససిద్ధాంతం నాట్యప్రయోగం మొదలైన విషయాలను చెప్పే భరతరచిత మైన **నాట్యశాస్త్రం** ఉందని పి.వి.కాణే అభిప్రాయం. ఏ విధంగానూ కూడ ఇది మూడవ శతాబ్దానికి ముందు లేదని కీథ్ అన్నాడు. అయితే మనోమోహన్ ఘోష్ అనేక ఉపపత్తులను చూపుతూ **నాట్యశాస్త్రం** క్రీ.పూ. 100 మొదలు క్రీ.శ. 200 మధ్య రచింపబడి ఉంటుందని ప్రతిపాదించారు. (ఈయనే, కొంతకాలంతరవాత, నా.శా. క్రీ.పూ. 500ల నాటిదని నిర్ణయించారు). ఇది పి.వి.కాణే కూడా అంగీకరించారు. ఈ సందర్భంలో ఆయన, **నాట్యశాస్త్రం** క్రీ.శ. రెండవ శతాబ్దం తరవాతనే రచింపబడి ఉంటుంది అనే డా.డి.సి. సర్కార్ అభిప్రాయాన్ని ఖండించారు. ఏమైనా నాట్యశాస్త్రం పూర్వకాలావధిని (ఫలానా శతాబ్దానికి పూర్వం ఇది లేదు అని) నిర్ణయించడం శక్యం కాదు.

అయితే దీని ఉత్తరకాలావధిని (ఈ కాలం నాటికి ఇది ఉంది అని) నిర్ణయించడానికి తగిన ఉపపత్తులను ఈ విధంగా చూపవచ్చును :-

(అ) వెనుక ఉదాహరించిన కాళిదాసుని **విక్రమోర్వశీయ**శ్లోకాన్ని పట్టి కనీసం క్రీ.శ. 450 సంవత్సరానికి పూర్వం భరతుడు **నాట్యశాస్త్ర** రచయితగా ప్రసిద్ధు డయ్యా డనీ, ఎనిమిది రసాలు ప్రతిపాదించా డనీ, దేవలతల ముందు రూపకప్రయోగం చేశా డనీ తెలుస్తూన్నది. దీనివల్ల మొదటి అధ్యాయంలో చెప్పిన ప్రాచీనకథ, రసాధ్యాయం (ఆరవ అధ్యాయం) ఆనాటికి ఉన్నాయని చెప్పాలి. **రఘువంశం**లో (19.21) 'ఖండితనాయిక' ప్రసక్తి ఉంది. ఇది నాట్యశాస్త్రంలో (31.109-110) చెప్పిన అష్టవిధనాయికలను సూచిస్తున్నది. ఇట్లే రఘువంశంలోని **"అజసత్వవచనాశ్రయం మిథః**

స్త్రీషు నృత్యముపధాయ దర్శనమ్" (రఘు. 19.36) అనే శ్లోకం నాట్యశాస్త్రంలోని "సామాన్యాభినయో నామ జ్ఞేయో వాగఙ్గసత్త్వజః" (21.1) అను శ్లోకానికి అనుకరణం అనే విషయం స్పష్టం అవుతూన్నది.

(అ) నాట్యశాస్త్రం బ్రహ్మచేత చెప్పబడినది అని **కుట్టనీమతం** (75వ శ్లోకం) అంటుంది. ఇది నాట్యశాస్త్రంలోని ప్రథమాధ్యాయానికి నిర్దేశం. **"భరతసుతైరుపదిష్టం క్షితిపతినహుషావరోధనారీణామ్"** (946 శ్లో) అనే శ్లోకంలో నాట్యశాస్త్రంలోని (36.48-61) నహుష - భరతపుత్రాదుల కథ నిర్దేశింపబడుతున్నది. ఇంకా అనేక స్థలాలలో **కుట్టనీమతం**లో ప్రస్తుతం మనకు లభిస్తున్న నాట్యశాస్త్రంలోని వేరు వేరు అధ్యాయాలలోని విషయాల సూచన స్పష్టంగా కనబడుతూన్నది. ఉదాహరణకి 791-91 పద్యాలలోని ఖండితా - కలహాంతరితా నాయికలను గూర్చి **నాట్యశాస్త్రం** 22.216 - 217 మొదలైన శ్లోకాలలో ప్రతిపాదించింది. పాత్రలు రంగస్థలంమీద ప్రవేశించే టప్పుడు చేయవలసిన ప్రావేశికధ్రువాగానం, వాళ్లు నిష్క్రమించే టప్పుడు చేయలసిన నైష్క్రామిక ధ్రువాగానం నాట్యశాస్త్రంలో (32.335-336) చెప్పబడ్డాయి. వాటిని గూర్చిన నిర్దేశం **కుట్టనీమతం**లోని 881, 928 శ్లోకాలలో ఉంది. సూత్రధారుడు ప్రవేశించేటప్పుడు **రత్నావళి** ప్రథమాంకం చివర పాత్ర లందరూ నిష్క్రమించే టప్పుడు ఈ ధ్రువాగానాలు చేయబడినట్లు చెప్పబడింది. కు.మ. 805 శ్లోకంలో సాత్త్వికభావాల ముచ్చట ఉంది. ఇవి **నాట్యశాస్త్రం**లోని ఏడవ అధ్యాయంలో చెప్పబడ్డాయి. **"సదృశేఽప్యనుభావగణే కరుణరసం విప్రలమ్భతో భిన్నమ్"** (కు.మ. 809) అనే వాక్యం **నాట్యశాస్త్రంలో** ఆరవ అధ్యాయంలో ప్రతిపాదించిన విషయాన్నే పేర్కొంది. దీనిని పట్టి **నాట్యశాస్త్రంలోని** ప్రధానమైన అధ్యాయాలన్నీ (మొదటి అధ్యాయం మొదలు ముప్పై ఆరవ అధ్యాయం వరకు) ఎనిమిదవ శతాబ్దంనాటికి ఉన్నా యని స్పష్టం అవుతున్నది.

(ఇ) ఆనందవర్ధనుడు **ధ్వన్యాలోకంలో** - "యది వా వృత్తీనాం భరతప్రసిద్ధానాం కైశిక్యాదీనామ్" అనీ, "యథా **వేణీసంహారే** విలాసాఖ్యస్య ప్రతిముఖసంధ్యఙ్గస్య ప్రకృత రసనిబన్ధనాననుగుణమపి భారతమతానుసరణమాత్రేచ్ఛయా ఘటనమ్" అనీ, "అత ఏవ చ భరతే ప్రబన్ధప్రఖ్యాతవస్తువిషయత్వం ప్రఖ్యాతోదాత్తనాయకత్వం చ నాటక స్యావశ్యకర్తవ్యతయా ఉపన్యస్తమ్" అనీ, "ఏతచ్చ రసాదితాత్పర్యేణ కావ్యనిబన్ధనం భరతాదావపి సుప్రసిద్ధమేవ" అనీ అనేక స్థలాలలో భరతుని మతం ఉదాహరించాడు. ఇక్కడ చెప్పిన విషయాలన్నీ నాట్యశాస్త్రంలో 20, 21, 16 అధ్యాయాలలో ప్రతిపాదింపబడినవి. ఆనందవర్ధనుడు తొమ్మిదవ శతాబ్దం ఉత్తరార్ధంలో ఉన్నాడు.

నారాయణుడు నాట్యం విషయంలో భరతుడే అత్యుత్తమప్రమాణం అని అంగీకరించాడు. తదనుసారంగానే నాటకం రచించాడు. అందుచేత ఆనందవర్ధనునికి కొన్ని శతాబ్దాలు పూర్వమే నాట్యశాస్త్రంలో రససిద్ధాంతం, నాయకులు, వృత్తులు, ప్రతిముఖసంధ్యంగమైన విలాసంవంటివాటి వివరణలు ఉన్నాయి.

(ఈ) **నాట్యశాస్త్రం** ఆరవ అధ్యాయంలో ఉన్న రససూత్రం **కావ్యప్రకాశలో** ఉదాహరించబడింది. దానికి భట్టలోల్లట - శంకుక - భట్టనాయక - అభినవగుప్తులు చేసిన వ్యాఖ్యాభేదాల చర్చ కూడ **కావ్యప్రకాశలో** ఉంది. అభినవగుప్తుని వివిధగ్రంథరచనా కాలం క్రీ.శ. 980-1030. భట్టనాయకుడు క్రీ.శ. 900-925 ప్రాంతంలో ఉండేవాడు. **భువనాభ్యుదయం** అనే కావ్యం రచించిన శంకుకుడే ఈ శంకుకుడై ఉంటాడు. ఇతని పేరు **రాజతరంగిణిలో** ఉట్టంకించబడింది.

"కవిబుధమనఃసిన్ధుశశాఙ్కః శఙ్కుకాభిధః,
యముద్దిశ్యాకరోత్కావ్యం భువనాభ్యుదయాభిధమ్" (రా.త.4.705)

దీనిని పట్టి అతడు క్రీ.శ. 840 ప్రాంతానికి చెందినవా డని చెప్పవచ్చును. సోమేశ్వరుడు తాను రచించిన **కావ్యప్రకాశవ్యాఖ్యానంలో** శంకుకుని కొన్ని శ్లోకాలను రససూత్రం దగ్గర ఉదాహరించి వాటి విషయంలో భట్టతౌతుడు చేసిన విమర్శలను కూడ చూపి ఉన్నాడు. లోల్లటుడు ఏ కాలానికి చెందినవాడో స్పష్టంగా తెలియక పోయినా శంకుక - భట్టనాయక - అభినవగుప్తుల మతాలను వాళ్ల కాలక్రమాన్ని బట్టి నిర్దేశించడంచేత ఇతడు వీళ్లందరికంటె ప్రాచీను డని చెప్పవచ్చును. ఇతడు **'రసవివరణం'** రచించాడు. దాని నుంచి -

"యమకానులోమతదితరచక్రాదిభిదా హి రసవిరోధిన్యః,
అభిధానమాత్రమేతద్గడ్డరికాదిప్రవాహో వా"

అనే శ్లోకాన్ని ఉదాహరించాడు. ఈ శ్లోకం రుద్రటుని **కావ్యాలంకారంలో** (3.59) కూడ రచయిత పేరు చెప్పకుండా ఉదాహరించబడింది. అందుచేత లోల్లటుడు శంకుకునికి ముందు క్రీ.శ. 750-800 ప్రాంతంలో ఉండి ఉండాలి. దీని నంతనీ పట్టి ఎనిమిదవ శతాబ్దంనాటికి **నాట్యశాస్త్రంలోని** ఆరవ అధ్యాయాన్ని ఎందరో వ్యాఖ్యాతలు అనేకవిధాలుగా వ్యాఖ్యానించా రని తెలుస్తూన్నది.

(ఉ) క్రీ.శ. 700-740 ప్రాంతానికి చెందిన భవభూతి - భరతుడు తౌర్యత్రిక సూత్రం రచించా డనీ, అతడు వాల్మీకికి సమకాలికు డనీ **ఉత్తరరామచరితం** చతుర్థాంకంలో అన్నాడు.

బాణు డన్నాడు. భరతుని పద్ధతిని అనుసరించిన గానాన్ని గూర్చి **హర్షచరితంలో** ముచ్చటించాడు -

"వంశానుగమవివాది స్ఫుటకరణం భరతమార్గభజనగురు,
శ్రీకణ్ఠవినిర్యాతం గీతమిదం హర్షరాజ్యమివ" (హ.చ.3.4)

నాట్యశాస్త్రంలో వాది, సంవాది, అనువాది, వివాది అను నాలుగు విధాలైన స్వరాలు చెప్పబడ్డాయి. (28.20). పై శ్లోకంలోని వివాదిశబ్దం ఈ చతుర్థభేదాన్ని చెపుతున్నది.

"వివాదినస్తు తే యేషాం వింశతిస్వరమన్తరమ్,
తద్యథా వృషభగాన్ధారౌ ధైవతనిషాదౌ" (నా.శా.28.21)

నాట్యశాస్త్రంలోని తొమ్మిదవ అధ్యాయంలో (198-207శ్లో) కరణాలు చెప్పబడ్డాయి. హర్షవర్ధనుడు మరొక చోట **"వైణవావర్తమణ్డలీరేచకరాసరభసారబ్ధనర్తనార భటీనటాః"** (హర్ష చ.2.4) అని అన్నాడు. **నాట్యశాస్త్రంలో** రేచకము (4.240.246) అరభటి కూడ (20.65) వర్ణించబడ్డాయి.

(ఋ) సామలను శాస్త్రానుసారం నిర్దుష్టంగా గానం చేసేవాడు బ్రహ్మసాక్షాత్కారం పొందుతాడు అని చెప్పిన తరవాత **యాజ్ఞవల్క్యస్మృతిలో** వేదమంత్రాలకు బదులు అపరాంతకం, ఉల్లోప్యకం, మద్రకం, ప్రకరి, ఔవేణకం, సరోబిందు, ఉత్తరం అనే ఏడు విధాలైన గీతాలు గానం చేసేవాడు కూడ అదే ఫలం పొందుతాడు అని చెప్పబడింది. ఋగ్గాథలు మొదలైన వాటిని గానం చేయడంచేత కూడ మనస్సు పరమాత్మపైన స్థిరంగా ఏకాగ్రంగా నిలవడంచేత మోక్షం పొందవచ్చు ననీ, వీణావాదన తత్త్వం తెలిసినవాడూ, శ్రుతి - జాతులయందు నేర్పు గలవాడు, తాలం తెలిసినవాడూ కూడ మోక్షం పొందవచ్చు ననీ చెప్పబడింది.

"అపరాన్తకముల్లోప్యం మద్రకం ప్రకరీం తథా,
ఔవేణకం సరోబిన్దుముత్తరం గీతకాని చ.
ఋగ్గాథా పాణికా దక్షవిహితా బ్రహ్మగీతికా,
గేయమేతత్తదభ్యాసకరణాన్మోక్షసంజ్ఞితమ్.
వీణావాదనతత్త్వజ్ఞః శ్రుతిజాతివిశారదః,
తాలజ్ఞశ్చాప్రయాసేన మోక్షమార్గం నియచ్ఛతి." (యా.స్మృ. 3.113-115)

ఇవన్నీ నాట్యశాస్త్రంలో చెప్పబడినవే -

"బ్రహ్మోక్తం సప్తరూపం హి సమవేతాద్వినిస్సృతమ్,

దైవతారాధనం పుణ్యమనన్తం గీతవాదితమ్...."
ఋగ్గాథాపాణికానాం చ ప్రమాణానాం తథైవ చ,
అనేనైవ విధానేన యుగ్మౌజస్త్వం విభావయేత్" (నా.శా.31.419,421)
"ఋగ్గాథా పాణికా చైవ సప్తరూపం ప్రకీర్ణకమ్" (నా.శా.31.523)
"యా ఋచః పాణిగా గాథా సప్తరూపాఙ్గమేవ చ" (నా.శా. 32.2)

ఈ శ్లోకాలు వ్యాఖ్యానిస్తూ మితాక్షరలోను, అపరార్కవ్యాఖ్యానంలోను భరతుడు ప్రమాణంగా చూపబడ్డాడు. విశ్వరూపుడు నారదుణ్ణి, ఇతరులనూ, **దీపకలిక** విశాఖిలుణ్ణి ఇతరులను ప్రమాణంగా చూపించారు. ఈ ఏడు పేర్లు **నాట్యశాస్త్రంలో** (31.287) కొంచెం భేదంతో కనబడుతున్నాయి. వీటిని వివరిస్తూ **నాట్యశాస్త్రంలో** సుమారు 130 శ్లోకా లున్నాయి. ఇవి బ్రహ్మచేత ప్రచారం చేయబడిన వనీ, దేవతలకు ఆనందకరమైన వనీ కూడ చెప్పబడింది. వైదికాలు కాని ఈ ఏడు విధాల గీతాల స్వరూపాన్ని **అభినవభారతి** కూడ అతివిస్తృతంగా వివరించింది. **నాట్యశాస్త్రం** ప్రకారం ఈ ఏడింటి పేర్లు - మంద్రకం, అపరాంతకం, ప్రకరి, రోవిందకం, (సరోబిందుక బదులు) ఓవేణకం, ఉల్లోప్యకం, ఉత్తరం. యాజ్ఞవల్క్యుడు వీటిని నాట్యశాస్త్రంనుండే గ్రహించాడు గాన నాట్యశాస్త్రాన్ని ఏ విధంగానూ కూడ క్రీ.శ.మొదటి శతాబ్దానికి లేదా రెండవ శతాబ్దానికి తరవాత రచింపబడినట్లు చెప్పడానికి వీలు లేదు.

(ౠ) రతి (ప్రేమ) అనే నాటకానికి ఆలింగనం పూర్వరంగం అని **గాథా సప్తశతిలోని** ఒక గాథలో వర్ణింపబడింది -

"మానదుమ పరుస పవణస్స మామి సవ్వంగణివ్వుదిఅరస్స,
అబఊహణస్స భద్దం రినాడఅ పుబ్బరంగస్స" (సప్తశతి. 4.44)
"మానద్రుమపరుషపవనస్య సర్వాఙ్గనిర్వృతికరస్య
అవగూహనస్య భద్రం రతినాటకపూర్వరంగస్య" (సంస్కృతచ్ఛాయ).

ఇది **నాట్యశాస్త్రంలోని** ఐదవ అధ్యాయంలో ప్రతిపాదించబడిన పూర్వరంగాన్ని దృష్టిలో ఉంచుకొని చెప్పిన వర్ణనం. **గాథాసప్తశతి** సంకలనం క్రీ.శ. 200 కు 400 కు మధ్య చేయబడిం దని పండితుల అభిప్రాయం.

(ఏ) పట్టడకల్ లోని ఒక స్తంభంమీద అచలుడు లేదా అచలదుడు అనే కవి రచించిన కొన్ని శ్లోకాలు చెక్కబడి ఉన్నాయి. అక్కడ ఉపయోగించిన లిపి 8-9 శతాబ్దాలలో ప్రచారంలో ఉన్నది. దక్షిణదేశంలో కూడ ఆనాడు **భరతనాట్యశాస్త్రం** అభ్యసించినవాళ్ళు ఇతరపద్ధతులను అభ్యసించేవారిని ఓడించకలిగేవా రని ఈ క్రింది శ్లోకంలో చెప్పబడింది.

"నట సేవ్యభరతమతయుతపటుతరవచనాశనిప్రపాతేన,

కుటిలోన్నతసటశైలః స్ఫుటితానతమస్తకః పతతి".

(ఐ) భట్టి (క్రీ.శ.590-650), దండి, భామహుడు, ఉద్భటుడు మొదలైన ప్రాచీనాలంకారికు లందరూ సుమారు ముప్పై అలంకారాలను నిరూపించారు. భరతుడు అతి సాధారణా లైన ఉపమ, దీపకం, రూపకం, యమకం అనే నాలుగు అలంకారాలు మాత్రమే ప్రతిపాదించాడు. ఛందస్సును గూర్చి ప్రాకృతభాషలను గూర్చి అతి విస్తృతంగా చర్చించిన భరతుడు ఆ నాటికి చాలా అలంకారాలు ప్రచారంలో ఉండి ఉన్నట్లయితే తప్పకుండా వాటి నన్నింటినీ ప్రతిపాదించి ఉండేవాడు. అందుచేత ఇతడు ఈ ఆలంకారికులకంటె కనీసం కొన్ని శతాబ్దాలు పూర్వం ఉండి ఉంటాడు.

నాట్యశాస్త్రానికున్న 'సూత్రమ్' 'భరతసూత్రమ్' అను పేర్లు దీని అతిప్రాచీనత్వాన్ని సూచిస్తూన్నాయి అని ప్రతిపాదిస్తూ, శ్రీ ఎం. కృష్ణమాచారియార్ ఆంగ్లభాషలో రచించిన తమ 'సంస్కృతవాఙ్మయచరిత్ర'లో ఇలా అన్నారు – "నాట్యశాస్త్రం అతిప్రాచీన మైనది. దీనిలో భరతముని ఐంద్రవ్యాకరణమూ, యాస్కుని నిరుక్తము నిర్దేశించాడు గాని పాణినిని పేర్కొనలేదు. ఈ గ్రంథంలోని భాషలోను, విషయప్రతిపాదనలోను అతిపురాతనతారీతులు (Archaic Tenor) స్పష్టంగా కనబడుతున్నాయి. అందుచేతనే నాట్యశాస్త్రరచయిత పేరు దివ్యపురుషుల కిచ్చే గౌరవభావంతో 'భరతముని' అని ప్రసిద్ధిలోనికి వచ్చింది. (కొందరు ప్రాచీనాలంకారికులు కేవలం 'ముని' అని ఈయనను నిర్దేశించారు).

ఈ గ్రంథాన్ని, దీని వ్యాఖ్యాతలు, ఇతరశాస్త్రకారులూ కూడ 'సూత్రమ్' అని నిర్దేశించారు. చిన్న మాటలలో అతివిస్తృతమైన అర్థాన్ని బోధించే ప్రామాణిక మైన శాస్త్రగ్రంథాన్ని మాత్రమే 'సూత్రమ్' అనడం భారతీయప్రాచీనశాస్త్రసంప్రదాయం. ఉదాహరణకి – 'కలానామాని సూత్రకృదుక్తాని యథా' (భరతసూత్రకారుడు చెప్పిన కలానామా లెట్లనగా) అంటాడు నాన్యదేవుడు. నాట్యశాస్త్రవ్యాఖ్యప్రారంభంలో అభినవ గుప్తాచార్యులు –

"షట్త్రింశకం భరతసూత్రమిదం వివృణ్వన్,
వన్దే శివం శ్రుతితదర్థవివేకిధామ".

("ముప్పై ఆరధ్యాయాల భరతసూత్రాన్ని వ్యాఖ్యానించడానికి ప్రారంభించిన నేను వేద – వేదార్థవిద్యమ్యుడైన పరమశివునికి నమస్కరిస్తున్నాను") అంటారు.

పురాణాలలో లభించే కొన్ని ఐతిహాసికకాలక్రమాలను పట్టి చూడగా భరతుడు అతిప్రాచీను డను విషయం స్పష్టం అవుతుంది. అయితే సాంప్రదాయికవిషయాలను విశ్వసించకపోవడం ఈనాటి విమర్శకులకు ఒక అలవాటుగా ఏర్పడింది. ఏమైనా – పూర్వం సూత్రరూపంలో రచించిన వివిధశాస్త్రగ్రంథాలకు వ్యాఖ్యానాలుగా శ్లోకరూపంలో,

ఆవిర్భవించిన, సూత్రకాలానంతరకాలిక ప్రాచీన గ్రంథాలలో అతిపురాతనమైనది భరత నాట్యశాస్త్రమే; రామాయణ – భారతాల తరువాత మనకు లభిస్తూన్న అతిపురాతన మైన శ్లోకబద్ధ విశాలగ్రంథం ఇదే అని నిస్సంశయంగా చెప్పవచ్చును.

(History of Classical Sanskrit Literature, P. 811)

ఇంతవరకు మనం చూచినదానిని పట్టి నాట్యశాస్త్రం కాలం క్రీ.శ. 300 కు తరువాత అయి ఉండడానికి వీలులే దని స్పష్టం అవుతున్నది. అంటే ఈ నాడు మనకు లభిస్తూన్న నాట్యశాస్త్రం ఇదే ఆకారంలో ఆ కాలంనుంచీ మనకు వస్తూన్నదని అర్థం కాదు. రససిద్ధాంతాన్ని గూర్చి రూపకనియమాలను గూర్చీ చెప్పేది, భరతుని రచనగా ప్రసిద్ధమూ అయిన నాట్యశాస్త్రం క్రీ.శ. 300 లకు పూర్వమే ఉండే దని మాత్రమే దీని అర్థం. అలంకారశాస్త్ర సిద్ధాంతాలను దానికి సంబంధించిన విషయాలనూ ప్రతిపాదించే గ్రంథం ఏదీ క్రీ.శ. 300 ప్రాంతంలో ఉన్నట్లు ప్రస్తుతం కనబడడం లేదు గాన మనకు తెలిసి నంతవరకు నాట్యశాస్త్రమే అలంకార శాస్త్రానికి సంబంధించిన అతి ప్రాచీనగ్రంథం అని అంగీకరించవలసి ఉంటుంది.

దశరూపకవ్యాఖ్యానంలో ధనికుడు – 'ఏతచ్చ –

"ఇదం త్రిపురదాహే తు లక్షణం బ్రహ్మణోదితమ్,
తతస్త్రిపురదాహశ్చ డిమసంజ్ఞః ప్రకీర్తితః" (ద.రూ. 56.60)

"ఇతి భరతమునినా స్వయమేవ త్రిపురదాహేతివృత్తస్య తుల్యత్వం దర్శితమ్" అని నాట్యశాస్త్రంనుండి ఒక శ్లోకం ఉదాహరించాడు. ఇప్పుడు లభించే నాట్యశాస్త్రంలో (4.10) ఈ శ్లోకం ఉత్తరార్ధం మాత్రమే లభ్యం అవుతూన్నది. సరస్వతీకంఠాభరణ వ్యాఖ్యాత మురజబంధానికి ఉపయోగించవలసిన వర్ణాలను గూర్చి –

"పాఠాక్షరాణి మురజే లహకారౌ తథదధాశ్చమౌ రేఫః
నణకఖగవజాశ్చేత్థం షోడశ భరతాదికథితాని" (పే. 268.109కా.)

అని అంటూ భరతుని అభిప్రాయాన్ని ఉదాహరించాడు. కాని నాట్యశాస్త్రంలో ఈ విషయాన్ని గూర్చి ఏమీ కనబడడంలేదు.

నాట్యశాస్త్రానికి వ్యాఖ్యానాలు : భట్టోద్భటుడు : నాట్యశాస్త్రవ్యాఖ్యానాలలో అతి ప్రసిద్ధ మైనది అభినవగుప్తుని అభినవభారతి. దీనికి నాట్యవేదవివృతి అనే పేరు కూడ ఉంది. ఇది అనేకస్థలాలలో ఖండితంగాను, అస్పష్టంగాను ఉన్నది. అయినా నాట్యశాస్త్ర వ్యాఖ్యాతలను గూర్చి అభినయవిద్యకు సంబంధించిన గ్రంథాలు రచించిన అనేకప్రాచీన రచయితలను గూర్చీ ఎంతో విలువ గల విషయాలు ఈ వ్యాఖ్యానం ద్వారా మనకు తెలుస్తున్నాయి. లోల్లటుడు, ఉద్భటుడు, శంకుకుడు, కీర్తిధరుడు, అభినవగుప్తుడు

నాట్యశాస్త్రానికి వ్యాఖ్యలు రచించారని **సంగీతరత్నాకరంలో** శార్ఙ్గ దేవు డన్నాడు –

వ్యాఖ్యాతారో భారతీయే లోల్లటోద్భటశఙ్కుకాః,
భట్టాభినవగుప్తశ్చ శ్రీమత్కీర్తిధరోఽపరః" (1.19)

అభినవభారతిలోని అనేక స్థలాలలో ఉద్భటుడు అంగీకరించిన కొన్ని పాఠభేదాలను గూర్చి కొన్ని అర్థ విశేషాలను గూర్చి చర్చ ఉంది. అందుచేత ఉద్భటుడు మొత్తం నాట్యశాస్త్రానికి వ్యాఖ్య రచించినట్లు చెప్పవచ్చును. ఉద్భటుడు క్రీ.శ. 800 ప్రాంతానికి చెందినవాడు.

లోల్లటుడు :– వృత్తి, ఆత్మసంవిత్తి మొదలైన విషయాలను గూర్చిన ఉద్భటుని అభిప్రాయాలను శకలీగర్భుడు అంగీకరించాడు. శకలీగర్భుని మతాన్ని లోల్లటుడు నిరాకరించాడు. దీనిని పట్టి లోల్లటుడు క్రీ.శ 800 నుండి 840 కి చెందినవా డని చెప్పవచ్చును. అతడు అనేక స్థలాలలో ఉద్భటుని మతాన్ని కూడ ఖండించాడు. రససూత్రానికి అతడు చేసిన వ్యాఖ్యానం అభినవగుప్తుడు ఉట్టకించాడు. లోల్లటుని కొన్ని అభిప్రాయాలు ఇవి – (1) రసాలు అనేకం. అయినా ప్రసిద్ధమైన సాంప్రదాయికగ్రంథాల ననుసరించి ఎనిమిది లేదా తొమ్మిది రసాలను మాత్రమే రంగస్థలం మీద ప్రదర్శించాలి) – "తేన అనన్త్యేఽపి పార్షదప్రసిద్ధ్యా **ఏతావతాం** ప్రయోజ్యత్వమితి **యద్ భట్టలోల్లటేన** నిరూపితం తదవలేపనాపరామృష్ట్వా **ఇత్యలమ్"** (అ.భా. మొదటి సం.పే. 299) (2) నాట్యశాస్త్రం లోని ఈ క్రింది శ్లోకం భట్టలోల్లటుని ప్రకారం లేదు.

"యః కశ్చిత్కార్యవశాద్గచ్ఛతి **పురుషః** ప్రకృష్టమధ్వానమ్,
తత్రాప్యఙ్కచ్ఛేదః **కర్తవ్యః పూర్వవత్తద్‌జ్ఞైః"** (20.30)
"అత ఏవ ఏతత్ **భట్టలోల్లటాద్యైః అపఠితమేవ"** (అ.భా. II పే. 243)

(3) 'గోపాల'ధ్రువతాలాల విషయంలో లోల్లటుని అభిప్రాయాలను అభినవగుప్తుడు ఉదాహరించాడు (అ.భా.II .134) (4) **నాట్యశాస్త్రం** లోని పదమూడవ అధ్యాయంలోని మొదటిశ్లోకంలో అభినవగుప్తుడు లోల్లటుని మతం నిర్దేశించాడు. (5) **"అఙ్క ఇతి గూఢశబ్దో** భావైశ్చ రసైశ్చ రోహయత్యర్థాన్" (నా.శా. 18.14) అనే శ్లోకంలో **"గూఢ శబ్దః"** అనేది లోల్లటుని పాఠమని చెపుతూ అభినవగుప్తుడు **"రూఢశబ్దః"** అని తనకు సంమతమైన పాఠం ఇచ్చాడు. (6) నాటిక షట్పద అని లోల్లటుని అభిప్రాయ మనీ, అష్టపద అని శంకుకుని అభిప్రాయ మనీ, అభినవగుప్త డంటాడు. **"షట్పదేయం నాటికేతి** సంగ్రహానుసారిణో **భట్టలోల్లటాద్యాః, శ్రీశంకుకస్తు అయుక్తమేతదిత్యభిధాయ అష్టధేతి** వ్యాచష్టే" (అ.భా.III. పే.436). (7) **నాట్యశాస్త్రం** 21వ అధ్యాయం 29వ శ్లోకం దగ్గర లోల్లటుడు – "పతాకానాయకుని జీవితానికి సంబంధించిన భాగాలకు ఆతని

చర్యలకు **"అనుసంధి"** అని పేరు అని అన్నాడు. **"తథా లోల్లటాద్యాస్తు మన్యన్తే పరార్థే సాధయితవ్యే** పతాకానాయకస్య **ఇతివృత్తభాగాః అనుసంధయః"** (అ.భా.III. పే.17) దీనిని పట్టి లోల్లటుడు మొత్తం **నాట్యశాస్త్రానికి** కాకపోయినా 6,13, 18, 21 వంటి చాలవరకు అధ్యాయాలకు వ్యాఖ్య రచించా డని చెప్పవచ్చును.

కావ్యానుశాసనంలో హేమచంద్రుడు లోల్లటుని రెండు శ్లోకాలు ఉదాహరించాడు–

"యస్తు సరిదద్రిసాగరనగతురగపురాదివర్ణనే **యత్నః,**
కవిశక్తిఖ్యాతిఫలో వితతధియాం **నో మతః** ప్రబన్ధేషు.
యమకానులోమతదితరచక్రాదిభిదా హి రసవిరోధిన్యః,
అభిమానమాత్రమేతద్ గడ్డరికాదిప్రవాహో వా" **(కావ్యాను. V పే. 215)**

వీటిలోని మొదటి శ్లోకం అపరాజితి రచించినదిగా **కావ్యమీమాంసలో** చెప్పబడింది. రెండవ శ్లోకం లోల్లటరచితంగా **కావ్యప్రకాశవ్యాఖ్యలో** సోమేశ్వరుడు ఉదాహరించాడు. రుద్రటుని **కావ్యాలంకారవ్యాఖ్యలో** (III. 59) ఈ శ్లోకాన్ని నమిసాధువు రచయిత పేరు చెప్పకుండా ఉదాహరించాడు. క్రీ.శ. 1159–60లో **కావ్యప్రకాశసంకేతం** రచించిన మణిచంద్రుడు – రససిద్ధాంతానికి సంబంధించిన మతాలను లోల్లటుని **రసవివరణం** నుండీ, ఇతరులనుండీ తెలుసుకోవాలని అంటూ లోల్లట – శంకుక – నాయకులను ముగ్గురునీ కూడ ఈ విధంగా ఆక్షేపించాడు –

"న వేత్తి యస్య **గామ్భీర్యం** గిరితుఙ్గోఽపి **లోల్లటః,**
తత్తస్య రసపాథోధేః కథం జానాతు శఙ్కుకః.
భోగరత్యాదిభావానాం భోగం స్వస్యోచితం బ్రువన్,
సర్వథా రససర్వస్వమర్మాస్ప్రాక్షీన్న నాయకః."

లోల్లటుడు రసాన్ని గూర్చిన తన మతాన్ని పూర్వమీమాంసను ఆధారంగా ప్రవర్తింపచేసి నట్లు అభినవగుప్తుని ఈ క్రింది వాక్యాన్ని పట్టి తెలుస్తూన్నది –

"ప్రత్యేకప్రసంగత్వలాభాత్, క్రమస్య అపదార్థత్వాత్ నార్థప్రమాణకత్వాత్ ముఖ్యశ్రౌతపదార్థబాధకత్వమయుక్తం, శ్రుత్యా వాక్యప్రమాణస్య బాధనాత్ ఇతి తు భట్టలోల్లటోక్తం ప్రకృతే సిధ్యతి, విరోధాభావాత్" (అ.భా.2. పే. 196.)

శంకుకుడు : శంకుకుడు రసం విషయంలో లోల్లటుని మతాన్ని ఖండించాడు. ఇతని వ్యాఖ్యానం లోల్లటుని వ్యాఖ్యానం వలెనే మన కిపుడు లభ్యం కాకపోయినా ఇతడు మొత్తం నాట్యశాస్త్రానికి వ్యాఖ్యానం రచించినట్లు కనబడుతున్నది. (1) మూడవ అధ్యాయం 21–22 శ్లోకాల వ్యాఖ్యానంలో అభినవగుప్తుడు రంగపీఠం విషయంలో శంకుకుని

మతాన్ని – **“అతః చతుర్దశహస్తం రఙ్గపీఠపృష్ఠే ఏవ మణ్డలమిత్యుక్తం భవతి. శఙ్కుకాదిభిః షోడశహస్తావకాశాభావః అసనస్తమ్భాదివశాత్; తస్మాత్ అకృత ఏవ రఙ్గపీఠే ఇత్యాది వృథైవ ఉపన్యస్తమ్”** అని ఉట్టంకించబడింది (2) **“ప్రఖ్యాతవస్తు విషయం ప్రఖ్యాతోదాత్తనాయకమ్”** (1810) అనే శ్లోకానికి శంకుకుడు చేసిన వ్యాఖ్యను నిర్దేశించి అభినవగుప్తుడు దానిని నిరాకరిస్తాడు. (3) **నృపతీనాం యచ్చరితం నానా రసభావచేష్టితం బహుధా”** (1812) అనే శ్లోకంలో 'నృపతీనామ్' అనే పదానికి శంకుకుడు చెప్పిన భావాన్ని అభినవగుప్తుడు నిరాకరించాడు. – **“శ్రీశఙ్కుకస్తు వ్యాచష్టే – విజిగీషుః అరిః మధ్యమోదాసీనౌ మిత్రం మిత్రమిత్రమితి ఏషాం చరితమితి బహువచనేన లభ్యతే ...”** (అ.భా. 18.12). (4) నాటికను గూర్చి శంకుకుని అభిప్రాయం వెనుక చూపబడింది. (5) 21వ అధ్యాయం 40వ శ్లోకంలో ప్రతిముఖసంధిని గూర్చి శంకుకుడు చెప్పిన అభిప్రాయాన్ని అభినవగుప్తుడు – **“ఉద్ఘాటితత్వాత్ బీజస్య స్తోకమాత్రం తు శఙ్కుకాదిభిరుదాహృతం యత్ తదేకదేశలక్షణమితి ద్రష్టవ్యమ్”** (అ.భా. 3 పే.25) అని విమర్శించాడు. (6) 21వ అధ్యాయం 42వ శ్లోకంలో శంకుకుడు విమర్శసంధిని గూర్చి చెప్పిన అభిప్రాయాన్ని అభినవగుప్తుడు ఉదాహరించాడు. (7) గర్భసంధ్యంగాలలో ఒకటైన విద్రవం విషయంలో శంకుకు డంగీకరించిన పాఠాన్ని దాని వివరణాన్ని అభినవగుప్తుడు ఉదాహరించాడు – **“అన్యే తు శఙ్కాభయత్రాసైః కృతః యః స విద్రవ ఇత్యాది, తత్ర చ విశేష్యపదమన్వేష్యమ్ – సముదాయ ఏవ విశేష్యమితి శ్రీశఙ్కుకః, ఉదాహరతి చ కృత్యారావణే షష్ఠేఽఙ్కే గర్భసన్ధౌ”** (అ.భా. 3పే. 52). (8) ఇరవైనాలుగో అధ్యాయంలో సామాన్యాభినయం విషయంలో శంకుకుడు వెలిబుచ్చిన అభిప్రాయాలు విస్తృతంగా ప్రతిపాదించబడ్డాయి. (అ.భా. 3 సంపుటం). (9) ఇరవై నాల్గవ అధ్యాయంలోని మూడవ శ్లోకంలో – **“అవ్యక్తరూపమ్ ఇత్యాదికం ప్రబన్ధం శ్రీశఙ్కుకాదయః ఇత్థం నయన్తి”** (అ.భా. III 150) అని శ్రీశంకుకుని అభిప్రాయం ఉదాహరించబడింది. (10) వందల కొలది అభినయభేదాలు ఏర్పడవచ్చును అని అంటూ అభినవగుప్తుడు ఆ సందర్భంలో శంకుకుని ప్రకారం నలభైవేల భేదా లుండవచ్చు నని అన్నాడు – **“నను యథా శ్రీశఙ్కుకేన ఉక్తం చత్వారింశత్సహస్రాణి ఇత్యాది”** (అ.భా. పే.180). (11) ఐదవ అధ్యాయంలోని 20–21 శ్లోకాల వ్యాఖ్యానంలో అభినవగుప్తుడు 29వ అధ్యాయం నుంచి చాలా శ్లోకాలు ఉదాహరిస్తూ “ఈ శ్లోకాలలో కొన్నింటిలో శ్రీశంకుకుడు అంగీకరించిన పాఠాలు భిన్నంగా ఉన్నా యని ఆ భేదాలను చూపించాడు. (12) **అభినవభారతి** మొదటి అధ్యాయంలోను, రససూత్రవ్యాఖ్యానంలో, 293, 298, 318 పేజీలలో శంకుకుని మతం ఉదాహరించబడింది. దీని నంతనీ పట్టి శంకుకుడు మొత్తం **నాట్యశాస్త్రానికి**

వ్యాఖ్యానం రచించి నట్లు స్పష్టం అవుతున్నది.

అభినవగుప్తుడు తన వ్యాఖ్యానంలో అనేక స్థలాలలో భట్టనాయకుని మతం ప్రస్తావించాడు. అయితే భట్టనాయకుడు నాట్యశాస్త్రానికి వ్యాఖ్యానం రచించాడా లేక ఏదైనా స్వతంత్రగ్రంథం రచించాడా అనే విషయం నిర్ధారణ చేయవలసి ఉంది. అదే విధంగా **నాట్యశాస్త్రం** నాల్గవ అధ్యాయం చివరి శ్లోకం వ్యాఖ్యానంలో కీర్తిధరుని పేరు చెప్పబడింది కాని ఇతడు **నాట్యశాస్త్రానికి** వ్యాఖ్యానం వ్రాసి నట్లు చెప్పడానికి తగిన ఆధారాలు లేవు.

అదే విధంగా అభినవగుప్తుడు అనేక స్థలాలలో 'టీకాకారుడు' టీకాకృత్. అని నిర్దేశించిన ఒక రచయిత ఎవరో ఉన్నాడు. ఆరవ అధ్యాయంలో రెండు పర్యాయాలు ఇతని మతం ఉదాహరించబడింది. ఇంకా 21,23,29,30,31 అధ్యాయలలోను, ఇతరత్రా కూడా దాదాపు పది పన్నెండు స్థలాలలో ఇతని మతాన్ని ఉదాహరించి నిరాకరించడం జరిగింది. ఈ విధంగా ఈ రచయిత పేరు అన్ని అధ్యాయాలలోనూ కాకపోయినా చాల అధ్యాయాలలో చెప్పబడింది. ఆలాపం, ప్రలాపం, ఉపదేశం, అతిదేశం మొదలైన అంతర్లాపాలను గూర్చి వ్రాస్తూ అభినవగుప్తుడు కొందరు ఉపదేశం, అతిదేశం, ఉపమానం మొదలైన వాటిలోనికి మీమాంసక – తార్కిక పరిభాషలను ప్రవేశపెట్టి సుకుమారమతులను భ్రాంతులను చేసి తప్పుదారి పట్టిస్తున్నారు అని అన్నాడు. **“అత్ర ఉపదేశాతిదేశయోః ఉపమానస్య చ సాహిత్యవిషయే తార్కికమీమాంసకవిషయే విశేషప్రతిపాదనం యత్ టీకాకారైః కృతం తత్సుకుమారమనోమోహనం వృథా భ్రమణికామాత్రం ప్రకృతానుపయోగాదిహోపేక్ష్యమేవ”** (అ.భా. పే. 176). అప్పయ్యదీక్షితులు, తద్వ్యాఖ్యాతలు, పండితరాజ జగన్నాథాదులు అలంకారశాస్త్రంలో ప్రవేశపెట్టిన తర్కశాస్త్రాద్యాడంబరాలు చూస్తే అభినవ గుప్తుడు ఎంత వాపోయి ఉండేవాడో!

అభినవభారతిలోను ఇతర గ్రంథాలలోను ఇంకా ఎంతోమంది కొన్ని నాట్యశాస్త్రీయ విషయాలను చర్చించిన రచయితల పేర్లు కనబడుతున్నాయి. భట్టయంత్రుడు, ప్రియాతిథి, భట్టవృద్ధి, భట్టసుమనస్, భట్టగోపాలుడు, రుద్రకుడు, భట్టశంకరుడు, ఘంటకుడు మొదలైన ఈ రచయితలు నాట్యశాస్త్రాని కంతకీ వ్యాఖ్యలు వ్రాశారా కొన్ని భాగాలకు మాత్రమే వ్రాశారా, లేదా స్వతంత్రగ్రంథాలు రచించి ఆయావిషయాలు చర్చించారా అనే విషయం చెప్పడం కష్టం.

అభినవభారతిలో రాహులకు డనే రచయితను అనేక పర్యాయాలు పేర్కొనడం కనబడుతుంది. **“యథాహ రాహులకః –**

పరోక్షేఽపి హి వక్తవ్యో నార్యా ప్రత్యక్షవత్ప్రియః.

సఖీ చ నాట్యధర్మోఽయం భరతేనోదితం ద్వయమ్" (అ.భా. 1పే.172)

వైశాఖరేచితం ప్రతిపాదిస్తూ రాహులకుడు రచించిన ఒక శ్లోకం ఉదాహరించబడింది. భరతుడు చెప్పిన యువతుల ఇరవై అలంకారాలు కాకుండా ఇతడు - మౌగ్ధ్యం, మదం, భావవికృతం, పరితపనం అనే మరికొన్ని అలంకారాలు కూడా అంగీకరించినట్లు చెప్పబడింది. "**తేన మౌగ్ధ్యమదభావవికృతపరితపనాదీనామపి శాక్యాచార్యరాహులాదిభిః అభిధానం విరుద్ధమ్ ఇత్యలం బహునా**". (అ.భా.3.పే.164)

అభినవగుప్తుడు ఒక మారు పుష్పాన్ని గూర్చి చెప్పే సందర్భంలో మాతృగుప్తుణ్ణి పేర్కొన్నాడు. **నాట్యశాస్త్రం**లో (29.93) చెప్పినట్లు వీణను మ్రోగించే ఒక పద్ధతికి పుష్పం అని పేరు. ఇదొక పారిభాషికపదం. "**యథోక్తం మాతృగుప్తేన**" "**పుష్పం చ జనయత్యేకో భూయోఽనుస్పర్శనాన్వితః**' ఇతి (అ.భా.3.పే.164). మాతృగుప్తుడు నాట్య - సంగీతాలను గూర్చిన గ్రంథాలు రచించి ఉంటాడు. నాటకంలోని కథావస్తువు ప్రాచీన కథతో సంబంధించినదైనా దానిలో కవికల్పితాలైన కథాంశాలు కూడ ఉండవచ్చునని మాతృగుప్తుని అభిప్రాయం అన్నట్లు శారదాతనయుడు **భావప్రకాశనం**లో చెప్పాడు -

"**పూర్వవృత్తాశ్రయమపి కిం చిదుత్పాద్యవస్తు చ,**
విధేయం నాటకమితి మాతృగుప్తేన భాషితమ్" (భా.ప్ర.పే.234)

శాకుంతల వ్యాఖ్యానమైన **అర్థద్యోతనిక**లో రాఘవభట్టు దాదాపు ఇరవై స్థలాలలో మాతృగుప్తుని మతం ఉదాహరించాడు - సూత్రధారుని గుణాలు, ఆర్యావర్తం, రూపకాలలో శౌరసేని అన్నివర్గాల స్త్రీపాత్రలు మాటలాడే భాష అనే విషయం, నాటకలక్షణాలు (51/2 శ్లోకాలు), బీజం (3 శ్లోకాలు), రూపకాలలో ఎవరు సంస్కృతంలో మాటలాడాలి అనే విషయం (ఒక శ్లోకం), 36 నాట్యలక్షణాలలో మొదటిదైన భూషణం యొక్క లక్షణం, పరిచారిక లైన యవనస్త్రీల లక్షణాలు (11/2 శ్లోకాలు) సేనాపతిలక్షణం, హసిత - స్మిత - పతాకాస్థానక - కంచుక - పరిచారికా - కార్యాల లక్షణాలు మామూలుగా ప్రాకృతంలో మాటలాడేవాళ్లు ఎప్పుడు సంస్కృతంలో మాట్లాడతారు అనే విషయం - వీటి అన్నింటి పైన మాతృగుప్తుని మతం ఉదాహరించబడింది. **నాటకలక్షణ రత్నకోశం**లో సాగరనంది మాతృగుప్తుని ఎన్నో శ్లోకాలు ఉదాహరించాడు. మాతృగుప్తుడు సౌకుమార్యంతో నిండిన కవిత్వం చెప్పగల కవి అని **వక్రోక్తిజీవితం**లో చెప్పబడింది. **ఔచిత్యవిచారచర్చ**లో మాతృగుప్తుని శ్లోకం ఒకటి ఉదాహరించబడింది. **రాజతరంగిణి**లో (3.125-33) మాతృగుప్తుణ్ణి గూర్చిన విపులవర్ణనం ఉన్నది. ఈ మహాకవి హర్షవిక్రమాదిత్యుని ఆస్థానంలో ఆస్థానకవిగా ఉండేవాడు. భర్తృమేంఠునికి సమకాలికుడు. ఆతని పోషకుడు, హర్షుని తరువాత ఐదు సంవత్సరాల పాటు కాశ్మీరును పాలించాడు. చివరికి కాశీ వెళ్ళి సంన్యాసం

స్వీకరించాడు. మాతృగుప్తుడు హర్షుని ఆస్థానంలో ఉన్నప్పుడు రూపకాలకు సంబంధించిన ఏదో గ్రంథం శ్లోకాలలో రచించి ఉంటాడని చెప్పవచ్చును గాని ఇతడు **నాట్యశాస్త్రా**నికి వ్యాఖ్యానం వ్రాసినట్లు కనబడదు. **రాజతరంగిణి**లో (III.181.252) ఈతని పద్యాలు రెండు ఉదాహరించబడ్డాయి. క్రీ.శ. 1613లో రచించిన **నాట్యప్రదీపం**లో సుందరమిశ్రుడు **నాట్యశాస్త్రం**నుంచి నాందీలక్షణం (5,25,106) ఉదాహరించి - "**అస్య వ్యాఖ్యానే మాతృగుప్తాచార్యైః షోడశాక్షిపదాపీయమ్ ఉదాహృతా**" అని అన్నాడు. చాల అర్వాచీనుడైన ఇతని వాక్యాన్ని అక్షరశః అంగీకరించ వలసిన పనిలేదు. మాతృగుప్తుడు తన రూపకగ్రంథంలో భరతుని నాందీలక్షణం గ్రహించి వివరించాడు అని మాత్రమే దీని అర్థం అయి ఉంటుంది. **రాజతరంగిణి**లో చెప్పిన మాతృగుప్తుడు వేరు రూపకశాస్త్రం రచించిన మాతృగుప్తుడు వేరు అని కొందరి అభిప్రాయం కాని, మాతృగుప్తుడే కాళిదాసు అనే కొందరి మతం కాని ప్రామాణికాలు కావు.

అభినవగుప్తుని నాట్యశాస్త్రాచార్యుడైన భట్టతౌతుడు కూడ **నాట్యశాస్త్రా**నికి వ్యాఖ్యానం వ్రాసి ఉంటాడా అనే విషయం వివాదాస్పదం. **ప్రత్యభిజ్ఞాశాస్త్రం**లో అభినవ గుప్తుని ప్రాచార్యుడైన ఉత్పలదేవుని అభిప్రాయాలను అభినవగుప్తుడు చాల తరచుగా 29,31,32 అధ్యాయాలలో ఉదాహరించాడు. అతడు ఈ అధ్యాయాలకు వ్యాఖ్య రచించాడా లేక సంగీతశాస్త్రానికి సంబంధించిన స్వతంత్రగ్రంథం ఏదైనా రచించాడా అని నిశ్చితంగా చెప్పడం కష్టం. అభినవగుప్తుడు ఒక చోట ఉత్పలదేవుని మతం అంగీకరించడు - "**ఉత్పలదేవపాదాస్తు అస్మత్పరమగురవః వ్యాచక్షతే ... వయం తు మన్మహే**" (అ.భా.)

ధ్వన్యాలోకవ్యాఖ్యాన మైన **లోచనం**లో అభినవగుప్తుడు -

"**బహూనాం సమవేతానాం రూపం యస్య భవేద్బహు,**
స మన్తవ్యో రసః స్థాయీ శేషాః సంచారిణో మతాః"

అను **నాట్యశాస్త్రం**లోని శ్లోకం ఉదాహరించి, దీనిని చాలమంది చాల విధాలుగా వ్యాఖ్యానించారు అని చెపుతూ భాగురి మతాన్ని ఉటంకిస్తాడు. -

"**తథా చ భాగురిరపి కిం రసానామపి స్థాయిసంచారితా అస్తి ఇత్యాక్షిప్య అభ్యుపగమేనైవ ఉత్తరమవోచత్ బాఢమ్ అస్తీతి**" (లోచనం.పే. 217). భాగురి **నాట్యశాస్త్రవ్యాఖ్యాత** అని చెప్పడానికి మరొక మూలం ఏదీ లభించడంలేదు.

మనకీ నాటివరకు లభించని రూపకప్రయోగ గ్రంథాలను నిర్మించిన కొందరు ప్రాచీన రచయితలను గూర్చి చెప్పవలసి ఉన్నది. సదాశివుడు, శివుడు, బ్రహ్మదేవుడు, భరతుడు, కశ్యపముని, మతంగుడు, యాష్టికుడు, కోహలుడు, విశాఖిలుడు, దంతిలుడు, కంబలుడు, అశ్వతరుడు, నారదుడు, తుంబురుడు, ఆంజనేయుడు, మాతృగుప్తుడు,

రావణుడు నందికేశ్వరుడు, రుద్రటుడు, నాన్యభూపాలుడు, భోజుడు, సోమేశ్వరపరమర్ది, జగదేకమహీపతి ఈ విధంగా ఎందరో గ్రంథనిర్మాతల పేర్లు సంగీతరత్నాకరంలో (1.15-18) కనబడుతున్నాయి. వీరిలో కొందరు దివ్యపురుషులు, కొందరు దేవయోనులు (అర్ధదేవతలు), కొందరు మానవులు, కోహలుణ్ణి గూర్చి వెనుక కొంతవరకు తెలుసుకొని ఉన్నాం. అతడు నాట్యశాస్త్రానికి సంబంధించిన అన్ని విషయాలమీద, ప్రధానంగా సంగీత - నృత్య - అభినయాలమీద గ్రంథం లేక గ్రంథాలు రచించి నట్లు కనబడుతుంది. కోహలుడు రచించిన **సంగీతమేరువు** ఇప్పుడు లభ్యంకాదు; తాలాలకు సంబంధించిన ఒక అధ్యాయం మాత్రమే లభ్యం అవుతున్నది అని తెలుస్తూన్నది. సట్టకం మొదలైన ఉపరూపకాలను గూర్చి మొట్టమొదట చెప్పినవాడు కోహలుడు. అభినవగుప్తుడు అనేకస్థలాలలో కోహలుని మతం ప్రతిపాదించడమే కాకుండా ఆతని శ్లోకాలు కూడ అనేకం ఉదాహరించాడు. నాట్యశాస్త్రంలో కోహలుడు నృత్తాచార్యుడుగా పేర్కొనబడ్డాడు. - "**శూన్యభాస్వరవిద్యుదాద్యభినయవిషయే నృత్తాచార్యప్రవాహసిద్ధః కోహలలిఖితోఽపి హస్తః సంగతో భవతీతి**" (అ.భా.II.పే. 26). ఉపయోగించిన భాషలను పట్టి రూపకాలు అనేకవిధా లని కోహలుని అభిప్రాయ మనీ, సైంధవభాషలో రచించిన సైంధవకాన్ని రూపకంగా అంగీకరించడంచేత భరతునకు కూడ ఈ అభిప్రాయం అంగీకార్యమే అనీ అభినవభారతిలో చెప్పబడింది. - "**తేన దశరూపకస్య యద్భాషాకృతం వైచిత్ర్యం కోహలాదిభిరుక్తం తదిహ మునినా సైన్ధవాఙ్గనిరూపణే స్వీకృతమేవ**" (అ.భా.III.పే.72).

సైన్ధవీమాశ్రితాం భాషాం జ్ఞేయం సైన్ధవకం బుధైః
రూపవాద్యాదిసంయుక్తం సైన్ధవం స్యాద్యథోద్ధతమ్. (నా.శా.31.513).

కోహలుని మతం అంగీకరించిన ప్రాచీనరచయితలు సామాన్యాభినయం ఆరు విధా లని అంగీకరించారు అని చెపుతూ అభినవగుప్తుడు ఒక శ్లోకం కూడ ఉదాహరించాడు -

"**కోహలమతానుసారిభిః వృద్ధైః సామాన్యాభినయస్తు షోఢా భణ్యతే. తథాహి**
కోహలః - "శిష్టం కామం మిశ్రం వక్రం సంభూతమేకయుక్తత్వమ్
సామాన్యాభినయే యత్ షోఢా విదురేతదేవ బుధాః ఇతి" (అ.భా.పే.146)

కోహలశాస్త్రప్రసిద్ధాలైన చిత్రాభినయాలు కూడ అభ్యసించాలి అని చెపుతూ అభినవగుప్తుడు సుమారు ముప్పై విషయప్రతిపాదకశ్లోకాలు ఉదాహరించాడు. (అ.భా.పే.289). కోహలుని మతం **భావప్రకాశనం**లో కూడ అనేక పర్యాయాలు ఉదాహరించబడింది. (చూ.పే.204.210, 236, 245, 251) ప్రాకృతసర్వస్వ కర్త యైన మార్కండేయుడు తాను ఆ గ్రంథాన్ని శాకల్య - భరత - కోహల - వరరుచి -

భామహ - వసంతరాజుల గ్రంథాలను పరిశీలించి రచించినట్లుగా గ్రంథప్రారంభంలో ఉన్న మూడవ శ్లోకంలో చెప్పాడు. దీనివల్ల భరతుని వలెనే కోహలుడు కూడ ప్రాకృత భాషలో ప్రాకృతాలను గూర్చి చెప్పినట్లు తెలుస్తూన్నది.

రసార్ణవసుధాకరంలో సింగభూపాలుడు **భరతుని** కుమారులైన శాండిల్య - కోహల - దత్తిల- మతంగులు నాట్యశాస్త్రగ్రంథాలు రచించా రని అన్నాడు.

అధేవిధంగా **రసరత్నప్రదీపికాకారుడు** తాను అధ్యయనం చేసిన గ్రంథాలను తద్రచయితలనూ గూర్చి చెప్పుతూ కశ్యప - కోహల - మతంగ - దత్తిల - విశాఖిల - నారద - తుమ్బురు - రావణులను పేర్కొన్నాడు. పాటలీపుత్రంలోని గణికలు కోరగా దత్తకుడు కామశాస్త్రంలోని వైశికప్రకరణం రచించి నట్లు **కామసూత్రం**లో చెప్పబడింది. **కుట్టనీమతం** 77, 122 శ్లోకాలలో దత్తకాచార్యుని పేరున్నది. **అభినవభారతి**లో ధ్రువను గూర్చిన ప్రకరణంలో దత్తిలాచార్యుని శ్లోకం ఉదాహరించబడింది. ఆతోద్యాలకు తాళాలకు సంబంధించిన ఘట్టంలో దత్తిలాచార్యుని పేరు చాల సార్లు చెప్పబడింది. **గంధర్వవేదసారం** అనే పేరు గల ఈ గ్రంథం లభ్యమౌతున్న దట.

మాతంగుడు వంశి మొదలైన సుషిరవాద్యాలలో నిపుణు డని దామోదరగుప్త డన్నాడు.

"**సుషిరస్వరప్రయోగే ప్రతిపాదనపణితో మతఙ్గమునిః**" (కుట్టనీమతం. 877)

అందుచేత ఇతడు అభినవగుప్తుని కంటె చాల ప్రాచీనుడు. **నాట్యశాస్త్రం** 30వ అధ్యాయంలో **అభినవభారతి**లో ఈ విధంగా చెప్పబడింది. మతంగుడు మొదలైన మునులు వెదురుకఱ్ఱతో చేసిన పిల్లనగ్రోవితో పూర్వం మహేశ్వరుణ్ణి సంతోషపెట్టారు. దీనికి వంశం అనే పేరు ప్రసిద్ధిలోనికి వచ్చింది. ఖదిరదారువుతో నిర్మించినా కూడ రంధ్రం ఉన్న ఏ గొట్టమైనా సుషిరాతోద్యం అని చెప్పవచ్చు : "**పూర్వం భగవన్మహేశ్వరా రాధనం మతఙ్గమునిప్రభృతిభిః వేణునా కృతమ్. తతో వంశ ఇతి ప్రసిద్ధః. వస్తుతస్తు ఛిద్రాత్మకసుషిరాభివ్యక్తస్వరవిశేషరూపతయైవాస్య ఉపయోగ ఇతి ఖాదిరాదినిర్మితం వ్యసనం భవత్యేవ. తథా చోక్తమ్ -**

"వంశే స్పష్టం యదా పూర్వం వంశసక్తా తు వైణవీ,
వంశాస్తు ఖదిరారోప్యాః శంశవాయత్క..." -- ఇతి".

పిల్లనగ్రోవి లోహంతో కూడ తయారుచేయవచ్చు నని తరవాత చెపుతూ మతంగుని ఒక శ్లోకం కూడ ఉదాహరించబడింది. "**తథా హి మతఙ్గమునినా**" - "**చత్వారో ధాతవో వంశః" ఇత్యాదినా ధాతువినియోగోఽపి ప్రదర్శిత ఏవ**". ముప్పైయవ అధ్యాయం 11వ శ్లోకంలో **అభినవభారతి**లో మతంగుని రెండు శ్లోకాలు ఉదాహరించబడ్డాయి.

సంగీతచూడామణిలో జగదేకమల్లుడు (క్రీ.శ. 1138 - 1150) మతంగ - భోజులు తనకు పూర్వం ఉన్న గొప్ప రచయితలు అని అన్నాడు. **సంగీత రత్నాకరం**లో చాలమంది రచయితల పేర్లు చెప్పబడ్డాయి. తద్వ్యాఖ్యాత యైన కల్లినాథుడు షడ్జాదిస్వరాల సార్థకత్వాన్ని మతంగుడు వివరించా డని చెప్పి (సం.ర. 1.3.24) **"సరిగాదీనాం మతఙ్గాభిమతః ఉద్ధారక్రమః ఉచ్యతే"** (సం.ర. 3.25) అంటాడు. మతంగ - నందికేశ్వరులు పన్నెండు మూర్ఛనలు అంగీకరించా రనీ (సం.ర. 1.4.9) **"సామవేదే గీతప్రధానే ఆవృత్తిషు అర్ధాః నాద్రియన్తే"** అని మతంగు డన్నా డనీ (సం.ర.I.8.13) కూడ కల్లినాథు డన్నాడు. భాషలను విభాషలను దృష్టిలో ఉంచుకొని మతంగుడు ఏడు గీతిక లంగీకరించాడు, భరతుడైతే మాగధి మొదలైన నాలుగు గీతికలనే అంగీకరించాడు అని కూడ కల్లినాథు డన్నాడు (సం.ర. II. 1.7) నాట్యశాస్త్రంలో భరతు డన్నమాట లివి -

"అత ఊర్ధ్వం ప్రవక్ష్యామి గీతీనామపి లక్షణమ్,
ప్రథమా మాగధీ జ్ఞేయా ద్వితీయా చార్ధమాగధీ
సంభావితా తృతీయా చ చతుర్థీ పృథులా స్మృతా" (నా.శా. 29.76-72)

ఈ నాలుగూ **సంగీతరత్నాకరం**లో కూడ చెప్పబడ్డాయి (సం.ర.I.8.14-16) ఇక్కడ - **"అస్యా మగధోద్భవత్వాత్ మాగధీతి నిరుక్తిః మతఙ్గోక్తా"** అని కల్లినాథు డన్నాడు. మతంగుడు **బృహద్దేశి** అనే ఒక గ్రంథం రచించా డనీ దానిలోని 2500 శ్లోకాలు ఇప్పుడు లభిస్తున్నా యనీ కొందరు అంటున్నారు. ఈ **బృహద్దేశి**ని నాన్యదేవుడు భరతభాష్యంలో అనేక పర్యాయాలు పేర్కొన్నాడు. మనకిపుడు నందికేశ్వరరచిత మైన భరతార్ణవంలో కొంత భాగం మాత్రమే లభిస్తున్నది. నాలుగు వేల శ్లోకాలకు 800 శ్లోకాలు మాత్రమే, పదిహేను అధ్యాయాలలో లభిస్తున్నాయి.

వామనుని **కావ్యాలంకారసూత్రవృత్తి**లో విశాఖిలుడు కళలను గూర్చి గ్రంథం రచించినట్లు చెప్పబడింది (I. 3.7). **కుట్టనీమతం**లో కూడ విశాఖిలుని పేరు కనబడుతున్నది. -

"భరతవిశాఖిలదన్తిలవృక్షాయుర్వేదచిత్రసూత్రేషు,
పత్రచ్ఛేదవిధానే భ్రమకర్మణి **పుస్తసూత్ర**శస్త్రేషు" (123 శ్లో.)

లాస్యగానాన్ని విశాఖిలుడు ప్రచారం చేసినట్లుగా **అభినవభారతి**లో చెప్పబడింది. (అ.భా. I. పే. 199). **అభినవభారతి**లో విశాఖిలుని అభిప్రాయాన్ని ఉదాహరిస్తూ - **"తథా చ విశాఖిలాచార్యాః స్వరపదతాలసమవాయే గాంధర్వమితి"** (నా.శా. 20.10) అని చెప్పబడింది. ఒకచోట అభినవగుప్తుడు భరతునికి విశాఖిలుని గ్రంథంయొక్క పరిచయం ఉన్నట్లు సూచించాడు - **"ఏవకారేణ చతుష్ప్రహరణసత్రిప్రహరణమ్ అఙ్గులీనాం విభాగః**

ద్వే తృతీయా సమరేఖా చిత్రరేఖా ఇత్యాదికం విశాఖిలాచార్యాన్తరప్రోక్తం సర్వథైవ ధ్రువగానజ్ఞానవైకల్యోపయోగాత్ మయా నోక్తమ్ ఇతి సూచయతి" (నా.శా. 29.81-83) **"అత ఏవ శారీరవద్వంశ్యానామారోహణమివారోహణం వా ఇతి విశాఖిలా చార్యః"** (నా.శా. 30.3) అని మరొకచోట కూడ అభినవగుప్తుడు విశాఖిలుణ్ణి పేర్కొన్నాడు.

నాట్యశాస్త్రంమీద హర్షుడు లేదా శ్రీహర్షు డనే పండితుడు రచించిన **'వార్తికం'** ఉన్నట్లు కనబడుతుంది. "వార్తిక కృత్" అనీ "హర్షః" అనీ ఆతనిని చాల తరచుగా నాట్యశాస్త్రంలో పేర్కొనడం జరిగింది. (1) నాట్యమండపంలోని వివిధప్రదేశాలలో నిలుపవలసిన స్తంభాలను గూర్చి వార్తికకారుని అభిప్రాయం **నాట్యశాస్త్రం**లోని ఒకటిన్నర ఆర్యలలో చెప్పబడింది. (II. 97.98) తరవాత కూడ బహుశా వార్తికకారునివే ఇంకా నాలుగు ఆర్య లున్నాయి.

(2) మొదటి అధ్యాయం 84వ శ్లోకంలో **అభినవభారతి**లో వార్తికకారుని అభిప్రాయం చెప్పబడింది. నాల్గవ అధ్యాయం 267 - 68 శ్లోకాల దగ్గర

"వాచ్యానుగతేఽభినయే ప్రతిపాద్యేఽర్థే చ గాత్రవిక్షేపైః,
ఉభయోరపి హి సమానః కో భేదో నృత్తనాట్యగతః"

అని అంటూ చివరికి ప్రయోజనాన్ని పట్టి చూస్తే నృత్తనాట్యాలకి అంతగా భేదం లేదని వార్తికకారు డన్నట్లు చెప్పబడింది.

(నాట్యం అనగా రూపకవస్తుప్రయోగం, రూపకకథాప్రదర్శనం. దీనిలో కథా నిర్వహణం, గానం, నృత్యం - ఈ మూడు కలిసి ఉంటాయి. వివిధరూపకాలలో (నాటక ప్రకరణాదులలో) కథానిర్వహణానికే ప్రాధాన్యం ఉంటుంది. ఇతర రూపకాలలోను ఉపరూపకాలలోను గీత - నృత్యాలు ప్రధానంగా ఉంటాయి. నాట్య - నృత్య - నృత్తాల మధ్య కొంత భేదం ఉన్నట్లు చెప్పడం ఉంది. నాట్యంలో చాలమంది పాత్రలు పాల్గొంటారు. నృత్య - నృత్తాలు ఏకహార్యాలు, ఒక్క పాత్రచేతనే చేయబడతాయి.

"అవస్థానుకృతిర్నాట్యం .... దశధైవ రసాశ్రయమ్,
అన్యద్ భావాశ్రయం నృత్యం నృత్తం తాలలయాశ్రయమ్"

అని **దశరూపకం**లో చెప్పబడింఇ (I. 7-త9)

"పదార్థాభినయో నృత్యం డోమ్బీ శ్రీగదితాదిషు,
అఙ్గవిక్షేపమాత్రం యల్లయతాలసమన్వితమ్
తన్నృత్తమ్...." (పే.298) అనీ,

"నటకర్మైవ నాట్యం స్యాదితి నాట్యవిదాం మతమ్,

కరణైరఙ్గహారైశ్చ నిర్వృత్తం నృత్తముచ్యతే" (పే.45)

అనీ భావప్రకాశనంలో చెప్పబడింది. అనుకరణం అనేది ఈ మూడింటికీ సాధారణమైనది. **"తౌర్యత్రికం నృత్యగీతవాద్యం, నాట్యమిదం త్రయమ్"** అని **అమరకోశం**లో కూడ చెప్పబడింది.)

(4) **"ఏవమవాన్తరవాక్యైరుపదేశో రాగదర్శనీయేషు,**
సింహాదివర్ణకైర్వా క్వచిదప్యర్థాన్తరన్యాసాత్" (అ.భా.I.పే.174)

ఇత్యాది వాక్యాలలో కూడ వార్తికకారుని ఇదే అభిప్రాయం విశదీకరించబడింది.

(5) అయిదవ అధ్యాయంలోని ఏడవ శ్లోకంలో వార్తికకారుడు చెప్పిన 'పూర్వరఙ్గ' శబ్దార్థం, ఒక ఆర్య ఉదాహరింపబడ్డాయి – **"శ్రీహర్షస్తు రఙ్గశబ్దేన తౌర్యత్రికం బ్రువన్ నాట్యాఙ్గప్రయోగస్య తస్యైవ పూర్వరఙ్గతాం మన్యమానః పూర్వశ్చాసౌ రఙ్గశ్చ ఇతి సమాసమ్ అమంస్త. యదాహ –**

"దృష్టా యేవస్థార్థే (వస్త్వర్థే?) నాట్యే రఙ్గాయపాదభాగాః స్యుః
పూర్వం త ఏవ యస్మిన్ శుద్ధాః స్యుః పూర్వరఙ్గోఽ సౌ" (అ.భా.I.పే.211)

(6) అయిదవ అధ్యాయంలోని 8-15 శ్లోకాలలో పూర్వరంగాన్ని గూర్చిన ప్రసంగంలో వార్తికకారుని వాక్యాలు కొన్ని (గద్యరూపంలో) ఉదాహరించబడ్డాయి.

(7) ఐదవ అధ్యాయం 180 వ శ్లోకంలో **"యదాహ శ్రీహర్షః – అత ఏవ హాసో నామ కవిః కస్మింశ్చిన్నాటకే – దివం యాతశ్చిత్రజ్వరేణ కవిరిత ఏవాభివర్తతే; అశక్య మస్య పురతోఽ వస్థాతుమ్"** అని శ్రీహర్షుడు పూర్వరంగంలోని ప్రస్తావనను గూర్చి చెపుతూ అన్నాడని చెప్పబడింది. (అ.భా.I.పే.251)

మనం పైన చూచిన దానిని పట్టి **హర్షవార్తికం** అన్ని అధ్యాయాలకు సంబంధించి ఉంటుందనీ, చాల వరకు ఆర్యలలో రచింపబడి మధ్య మధ్య రూపకవాఙ్మయంనుంచి గ్రహించిన గద్యరూపోదాహరణాదులు కూర్చబడి ఉంటుందనీ ఊహించవచ్చును. **అభినవభారతి** రెండవ సంపుటం ప్రస్తావనలో రామకృష్ణకవి అంగహారాలకు సంబంధించిన వార్తికం లోని కొన్ని భాగాలు లభిస్తున్నా యని అన్నాడు. తోటకంలో విదూషకు డుండడు, నాటకంలో ఉంటాడు; ఇదే ఈ రెండింటికీ భేద మని హర్షుడు చెప్పి నట్లు **భావప్రకాశనం**లో చెప్పబడింది.

సుబంధువు అనే రూపకశాస్త్రకర్త ఉండేవా డనీ, అతడు నాటకాలను పూర్ణం, ప్రశాంతం, భాస్వరం, లలితం, సమగ్రం అని అయిదు విధాలుగా విభజించా డనీ **భావప్రకాశనం** (పే.,238) లో చెప్పబడింది. శారీరాభినయం ఆరు విధా లని

నాట్యశాస్త్రంలో (24.4) చెప్పబడింది. వాటిలో ఒకటి "నాట్యాయితం". ఇది 48వ శ్లోకంలో వివరించబడింది. దీని వ్యాఖ్యానంలో అభినవగుప్తుడు మహాకవి యైన సుబంధువు రచించిన **'వాసవదత్తానాట్యధార'** నాట్యాయితానికి ఉదాహరణం అని అన్నాడు – **"తత్రాస్య బహుతరవ్యాపినః బహుగర్భస్వప్నాయితతుల్యస్య నాట్యాయితస్యోదాహరణం మహాకవిసుబన్ధునిబద్ధో వాసవదత్తానాట్యధారాఖ్యః సమస్త ఏవ ప్రయోగః. తత్ర హి బిన్దుసారః ప్రయోజ్యవస్తుకే ఉదయనచరితే"**. ఈ మహాకవి సుబంధువు భావప్రకాశనం పేర్కొన్న రూపకశాస్త్రవప్రణీత యైన సుబంధువు ఒక్కరేనా వేరు వేరా అనేది తెలియదు.

నాన్యదేవుడు లేదా నాన్యపతి అనే మిథిలదేశరాజు రచించిన **భరతభాష్యం** లేదా **సరస్వతీహృదయాలంకారం** అనే గ్రంథం లిఖితగ్రంథరూపంలో ఉన్నది. దీనికి **భరతవార్తికం** అనే పేరు కూడ పుష్పికలో ఉన్నది. ఇది ఒక బృహద్గ్రంథంగా రచించడానికి ఉద్దేశింపబడినా పై పుస్తకంలో నాల్గు విధాల అభినయాలలో ఒకటైన వాచికాభినయం మాత్రమే ప్రతిపాదింపబడింది. ఇది ప్రధానంగా **నాట్యశాస్త్రం**లో 28 నుండి 33 వరకు ఉన్న అధ్యాయాలపై వ్యాఖ్య. ఈ రాజుకు రాజనారాయణు డని కూడ పేరు ఉన్నట్లు ఇతడు కీర్తిరాజుకు తమ్ముడు అన్నట్లు ఒక చోట చెప్పబడింది. ఇతడు **గ్రంథమహార్ణవం** అనే మరొక గ్రంథం కూడ రచించినట్లు చెప్పుకొన్నాడు. పదిహేడు అధ్యాయాలలో వాచికాభినయాన్ని వివరిస్తాను అని అంటూ ఇతడు ప్రతిపాద్యవిషయాల సూచిక ఇచ్చి ఉన్నాడు. ఇది భరతుని ప్రతీ శ్లోకానికీ వ్యాఖ్యరూపంలో లేదు. భరతుడు వందల కొలది స్థలాలలో ఉదాహరింపబడ్డాడు. ఒక మారు బృహత్కశ్యపుణ్ణి, ఒక మారు వృద్ధకశ్యపుణ్ణీ పేర్కొన్నాడు. బృహద్దేశిని, మతంగుణ్ణి, యాష్టికుని, విశాఖిలుని అనేక పర్యాయాలు ఉదాహరించాడు. ఇతడు ఇంకా నారదీయశిక్షావివరణకృత్, దేవరాజు, మేర్వాచార్యుడు, నందిమతం, స్వరసంహితాచార్యుడు, **యాజ్ఞవల్క్యస్మృతి**, తుంబురుడు, **కాలికాపురాణం**, **భాగవతపురాణం** ఇత్యాదులను కూడ ఉదాహరించాడు. అభినవగుప్తుణ్ణి చాల దగ్గరగా అనుసరించినా ఆతని పేరు మాత్రం ఒకటి రెండు సార్లు మాత్రమే నిర్దేశించారు. పాణిని – నారద – ఆపిశలులను కూడ పేర్కొన్నాడు. కొన్ని చోట్ల భరతునినుంచి తాను విభేదిస్తున్నట్లు చెప్పాడు. – **"గాన్ధారగ్రామశ్చ భరతేన అలౌకికశ్చాత్ర ఉపదర్శితః. అస్మాభిశ్చ ఆగమానుసారేణ దర్శితః"; "భరతాచార్యస్యాస్య శాస్త్రే ... ప్రయోగాగతా అస్మాభిశ్చ కశ్యపమతఙ్గతుమ్బురవిశాఖిలాద్యాచార్యనిఖిలమునివచనాత్"**. ఈ గ్రంథం రచించిన నాన్యదేవుడు క్రీ.శ.1100 ప్రాంతంలో ఉండి ఉంటాడు.

సాగరనంది రచించిన **నాటకలక్షణరత్నకోశం**. చివర –

"శ్రీహర్షవిక్రమనరాధిపమాతృగుప్తగర్గాశ్మకుట్టనఖకుట్టకబాదరాణామ్,

ఏషాం మతేన భరతస్య మతం విగాహ్య ఘుష్టం మయా సమనుగచ్ఛత రత్నకోశమ్'

అనే శ్లోకం ఉంది. దీనిని పట్టి ఈ ఏడుగురు రచయితలు భరతుని నాట్యశాస్త్రానికి వ్యాఖ్యానాలు వ్రాసి ఉంటారు లేదా తమ గ్రంథాలలో **నాట్యశాస్త్రం**లోని విషయాలను చర్చించి ఉంటారని చెప్పవలసి ఉంటుంది.

భరతుని **నాట్యశాస్త్రా**నికి **భరతసూత్రం** అనే పేరు కూడ ప్రసిద్ధంగా ఉంది. అభినవగుప్తాదులు ఈ పేరుతో **నాట్యశాస్త్రాన్ని** నిర్దేశించారు. వ్యాకరణ – న్యాయ – వేదాంతాదిశాస్త్రాలలో ఉన్న సంప్రదాయాన్ని అనుసరించి ఈ **భరతసూత్రం**మీద వార్తికాలు భాష్యాలు అనే పేర్లతో కూడ వ్యాఖ్యలు బయలుదేరి ఉంటాయి.

ఈ బాలానందినీవ్యాఖ్యను గూర్చి :- కొన్ని అలంకారశాస్త్రగ్రంథాలకు నేను తెలుగులో వ్యాఖ్యానాలు రచించే కాలంలో కొందరు మిత్రులు "అలంకారశాస్త్రానికి మూలగ్రంథంగా పండితు లందరూ అంగీకరించిన అతిప్రాచీన మైన భరతమునిప్రణీత **నాట్యశాస్త్రా**నికి కూడ మీరు తెలుగులో వ్యాఖ్యానం రచిస్తే బాగుంటుంది" అనేవారు. నాకు కూడ ఆ అభిలాష ఉండేది కాని కార్యరూపం దాల్చలేదు. దాదాపు ఇరవైయైదు – ముప్పై సంవత్సరాల క్రితం జరిగిన ఆ విషయం విస్మృతప్రాయం అయిపోయింది.

అయితే – ఆంధ్రదేశంలో రంగస్థలనాటకప్రయోగప్రచారాలకి నిరంతరమూ ప్రయత్నిస్తూ, **'నాటక కళ'** అను మాసపత్రిక కూడ స్థాపించి నడుపుతున్న **'కళామిత్ర'** శ్రీ ఆర్.రవిశర్మ గారు ఈ మధ్య ఏడెనిమిది మాసాల క్రితం మా యింటికి వచ్చి – "నాట్యశాస్త్రానికి సులభమైన తెలుగు అనువాదం ఏదీ లభించడంలేదు. అలాంటి అనువాదం రచించవలసినదిగా మిమ్మల్ని కోరడానికి వచ్చాను" అన్నారు. "వయోభారం చేతా, ఆరోగ్యం కూడ తదనుయాయిగా ఉండడంచేతా ఆ కార్యం నేను నిర్వహించజాలను" అని నేను చెప్పబోయే లోగానే ఆయన ఇంకా ఇలా అన్నారు – "ఆంధ్రదేశంలోని రెండు మూడు ప్రధాననగరాలలో శ్రీత్యాగరాజస్వామి ఉన్నతశిలా విగ్రహాలు స్థాపించాలని, సంకల్పించి, నేను నా మిత్రులు కొందరూ కలిసి, ఈ సంకల్పం సఫలం అయేటట్లు శ్రీశృంగేరి పీఠాధిపతుల ఆశీస్సులు పొందడానికై శృంగేరి వెళ్లి జగద్గురు శ్రీభారతీతీర్థ స్వాములవారిదర్శనం చేసికొన్నప్పుడు వారితో నాట్యశాస్త్ర వ్యాఖ్యానాన్ని గూర్చి కూడ ప్రస్తావించగా వారు, మీ పేరు చెప్పి 'ఆయన హైదరాబాదులోనే ఉన్నారు కదా. ఆయనని అడగండి; వ్యాఖ్యానం రచిస్తారు. నా మాటగా కూడ చెప్పండి' అన్నారు. అందుచేతనే మీతో నాకంతగా పరిచయం లేకపోయినా వచ్చాను".

ప్రారంభంలో సందేహించినా –

"ఋషీణాం పునరాద్యానాం వాచమర్థోఽనుధావతి" (ఉత్తరరామచరితం)

"ఋషుల మాటల వెనుకనే అర్థం పరుగిడుతుంది" అను భవభూతిసూక్తి మనస్సులో స్ఫురించి ఉపవేదాలలో ఒకటిగా ప్రసిద్ధమైన ఈ **నాట్యవేదా**నికి తెలుగులో యథాశక్తిగా వ్యాఖ్య రచించి తెలుగువారికి అందించడం అనే ఈ సత్కార్యాన్ని జగద్గురువుల ఆదేశమే పూర్తిచేయిస్తుంది అను విశ్వాసంతో ఈ కార్యక్రమం ప్రారంభించి ఏప్రిల్ 30 తారీకున పూర్తి చేయకలిగాను.

నాట్యశాస్త్రం సకలభారతదేశంలో అధికప్రచారం గల గ్రంథం అవడంచేత, దాదాపు 2500 సంవత్సరాల కాలంలో వేలకొలది లేఖకుల చేతులలో అనేక పాఠ – అక్షరాది దోషాలకు, వ్యాఖ్యాతృ – పాఠకుల చేతులలో ప్రక్షిప్తపాఠాలకూ నిలయంగా ఏర్పడింది. దీనికి తోడు ఎన్నో గ్రంథపాతాలతో దురవగాహ మైపోయినది. ప్రస్తుతం మనకు లభిస్తున్న ఒకే ఒక ప్రాచీనవ్యాఖ్యానం **అభినవభారతి.** అది కూడ అనేకమైన గ్రంథపాతాలతో, అక్షర – పదదోషాలతో చాలచోట్ల అస్పష్టార్థంగానే ఉంది. అందుచేతనే దీని ప్రథమ సంపాదకుడైన రామకృష్ణకవి – "అభినవగుప్తుడే స్వర్గంనుంచి దిగి వచ్చి ఈ లిఖితప్రతులను చూచినా, మూలపాఠాన్ని అంతసులభంగా నిర్ణయింపజాలడు" అన్నారు.

"అభినవగుప్తుని వ్యాఖ్యానరీతియే విచిత్రంగా ఉంటుంది. ఇతర వ్యాఖ్యానాల వలె చెప్పవలసిన అర్థం ప్రత్యక్షంగా (Directly) చెప్పకుండా శైవదర్శన – ఆగమ – తంత్రాదులలో తన కున్న అసాధారణమైన పాండిత్యాన్ని ప్రదర్శిస్తూ అసలు విషయం నుంచి దూరంగా వెళ్లిపోతూంటాడు. ఘోష్ అన్నట్లు – కొన్ని చోట్ల ఆయన ఏమి చెప్పదలచాడో ఆయనకే తెలియదేమో అన్నట్లు కనబడుతుంది. ఉదాహరణకి – **'ద్విభూమి'** అను పదానికి అర్థం విషయంలో నాలుగు అభిప్రాయాలు చెప్పి తన అభిప్రాయం ఏమో సప్రమాణంగా చెప్పలేదు. అదే విధంగా **'కుతప'** శబ్దానికి ఒక చోట "గాయకుల, సంగీతవాద్యవాదకుల సముదాయం (group)" అనీ, మరొక చోట "నాలుగు విధాలైన వాద్య సాధనాలు" అనీ అర్థం చెప్పాడు .... ఇలాంటి లోపాలు కొన్ని ఉన్నా నాట్యశాస్త్రరత్న భాండాగారం తెరవడానికి **అభినవభారతి** ఒక్కటే మన కున్న తాళం చెవి (key)."

(Dr. R.S. Nagar, Introduction to N.S. Part-I)

అయితే – ఇలాంటివి చాల తక్కువే ఉన్నాయని ప్రొ. ఘోషే అన్నారు. నిజానికి – కొన్ని పదాలు వేరు వేరు అర్థాలలో ప్రయోగించడం నాట్యశాస్త్రంలోనే ఉంది. (పు.శ్రీ.రా.)

నాట్యశాస్త్రంలోని భాష పాణినివ్యాకరణానికి లొంగిన భాష కాదు. బహుశా ఈ గ్రంథం రచించేనాటికి పాణినివ్యాకరణం పూర్తిగా పండితజనామోదం పొంది ఉండక పోవచ్చు. పూర్వం పాణినీయులకీ, కాతంత్రవైయాకరుణులకీ తరచు తీవ్రమైన కాకోలూకీయం జరుగుతూండే దని **పద్మప్రాభృతక** భాణం వంటి కొన్ని ప్రాచీనగ్రంథాల

ద్వారా తెలుస్తూన్నది. నాట్యశాస్త్రకారునికి పాణినీయంతో పరిచయమే లేకపోవచ్చు కూడ. అందుచేతనే విశేష్య - విశేషణాలను భిన్నలింగ - వచనాదులలో ప్రయోగించడం, క్రియాపదాలలో కాలనియమాలను సరిగా పాటించకపోవడం, సమస్తపదాలలో పౌర్వాపర్యవ్యత్యాసం, సంధినియమాలు మరొక విధంగా ఉండడం మొదలైన అనేకమైన అపాణినీయరీతులు దీనిలో కనబడతాయి.

నాట్యశాస్త్రంలోని పద్నాల్గవ అధ్యాయంలో సంస్కృతవ్యాకరణానికి సంబంధించిన కొన్ని విషయాల చర్చ ఉంది. అదంతా ఏవో **ప్రాతిశాఖ్యలను**, ప్రాచీనవ్యాకరణాలను అనుసరించి చేసి నట్లు కనబడుతుంది. సంస్కృతధాతువులు ఐదువంద లనీ, అవి ఇరవైఎనిమిది గణాలుగా (ఇది ఘోష్‌గారి అభిప్రాయం. 'ఐదు గణాలుగా' అని మా అభిప్రాయం. పు.శ్రీ.రా). విభక్తములై ఉన్నాయనీ ఈ ఘట్టంలో చెప్పబడింది. అయితే ఇది ఏ వ్యాకరణం ప్రకారం చెప్పబడిందో తెలియదు. పాణినివ్యాకరణం ప్రకారమైతే మొత్తం ధాతువులు దాదాపు రెండు వేలు; అవి పది గణాలుగా విభక్తములయి ఉన్నాయి. ఈ విషయా లన్నీ దృష్టిలో ఉంచుకొని వ్యాఖ్యాతలు నాట్యశాస్త్రశ్లోకాదులకు అర్థం చెప్పవలసి ఉంటుంది.

డా. మానవల్లి రామకృష్ణకవి గారి తరువాత అంత సుదీర్ఘమైన పరిశ్రమచేసి నాట్యశాస్త్రానికి సంబంధించిన ఎన్నో పాఠాలను పరిశీలించి సవరించి, ఆంగ్లభాషలో అనువాదం కూడ సంతరించినవారు ప్రొ. మనోమోహన్‌ఘోష్. ఏడెనిమిది సంవత్సరాలు శాంతినికేతనంలో 'విశ్వకవి' రవీంద్రనాథటాగూరు గారి సంనిధిలో ఉన్న ఈయన ఆయన ప్రేరణచేత 1924లో నాట్యశాస్త్రాధ్యయనం ధ్రువాధ్యాయంలో ఉన్న ప్రాకృతశ్లోకాలలోని ప్రాకృతాల స్వరూపస్వభావాల పరిశీలనతో ప్రారంభించి, తాను పరిశోధించిన **నాట్యశాస్త్రం** మూలం రెండు సంపుటాలలోను, ఎన్నో విమర్శాత్మకవిషయాలతో కూర్చిన ఆంగ్లభాషానువాదం రెండు సంపుటాలలోను, విస్తృతమైన ఇంట్రడక్షన్స్‌తో 1962 నాటికి పూర్తిగా ప్రకటించారు. ఈలోగా అనేకమైన పరిశోధనాత్మకమైన పత్రాలు, **అభినయదర్పణాదులకు** ఆంగ్లానువాదాలు కూడ ప్రకటించారు.

"భాసుని రూపకాలలోను, నాట్యశాస్త్రంలోను ఉన్న ప్రాకృతభాష ఒక స్వతంత్రభాష కాదు; ఆ కాలంలో సంస్కృతమే జనసామాన్యభాషగా ఉండడంచేత ఆ యా ప్రాంతాలలో నివసించే ఉచ్చారణభేదాదులను పట్టి మార్పులు చెందిన సంస్కృతభాషనే 'ప్రాకృతం' అనేవారు. అందుచేత భాసుని రూపకాలలోని ప్రాకృతాన్ని పట్టి అవి క్రీ.పూ. 350 ప్రాంతానికి చెందినవి" అను డా. పుసాల్కర్ గారి అభిప్రాయంతో ఏకీభవిస్తూ - "భాసునికి తెలిసిన ఈ **నాట్యశాస్త్రం** క్రీ.పూ. 500 లకు చెందిన దని నిస్సంశయంగా చెప్పవచ్చును" అని ప్రొ.ఘోష్ ప్రతిపాదించారు -

"We are in complete agreement with him (Dr. Pusalkr) when

he concludes :

"From the flowing tone of Bhasa's Sanskrit and the conversational style of his dialogues which are short, easy, graceful and colloquial we are inclined to think that Sanskrit was a spoken language in Bhasa's time and so we place him after Panini, before the later's grammer got a strong foothold, and probably before Katyatyana (350 B.C.)"

- quoted from Dr. Pusalkar's work on Bhasa by Prof. M. Ghosh

"But the Prakrt of the plays of Bhasa, as they have reached us, needs some comments ... The Prakrt of the dramas was always in the state of flux. In the beginning, the Prakrt of the dramas was not considered a seperate langauge, but a mode of speaking, and such a condifion prevailed probably in the time of Panini, and even continued for some time after him. Most probably the original orthography of Bhasa's Prakrt was not different from that of Sanskrit and the available Prakrt passages of Bhasa speak of the date of the MSS, tradition they followed, rather that of the dramatist, hence there is no bar to place him between 400 and 350 B.C, just before Kautilya (350 B.C.) who made a quotation from a play of his. Under these circumstances the most probable date for the NS. becomes about 500 B.C. because he was known to Bhasa".

(Introduction to Volume I of Translation PP IXIV, IXV)

పాణిని క్రీ.పూ. నాల్గవ శతాబ్దికి చెందినవా డని పాశ్చాత్యపండితులు అంటారు. ఆయన క్రీ.పూ. ఏడవ శతాబ్దానికి చెందినవా డని భారతీయవిమర్శకుల నిర్ణయం. పాణినికాలమూ, **నాట్యశాస్త్ర** కాలమూ కొంచెం ఇటు అటూ జరిగితే పాణిని పేర్కొన్న రెండు నటసూత్రాలలో ఒకటి మన **నాట్యశాస్త్రమే** కావచ్చునేమో! ప్రాచీనశాస్త్రరచయితల అసలు పేర్లు ఏవో తెలియక పోవడానికి ఎన్నో ఉదాహరణ లున్నాయి. ఉదాహరణకి - 'పాణిని' అనేదే పణినపుత్రు డను అర్థంలో ఉపయోగించిన పదం. ఈయన అసలు పేరు మరొక టేదో అయి ఉండవచ్చు. అందుచేతనే **నాట్యశాస్త్రంలో** అపాణినీయ ప్రయోగా లుండడంలో ఆశ్చర్యం ఏమీ లేదు. **నాట్యశాస్త్రం** ఎంత ప్రాచీనమైనదో చెప్పడానికి ఇక్కడ ఈ విషయం అంతా చెప్పడం జరిగింది.

'బాలానందినీ' రచనకు ఈ క్రింది **నాట్యశాస్త్రం** పుస్తకాల సాహాయ్యం తీసికొనబడింది.

1. **అభినవభారతి**తో పరిమళపబ్లికేషన్స్, ఢిల్లీవారు నాలుగు సంపుటాలలో

ప్రచురించినది. ఇది పూర్తిగా గాయక్వాడ్ ఎడిషన్ అనుసరించి డా. రవిశంకర్ నాగర్ సంపాదించినది. ద్వితీయసంస్కరణం - 1988.

2. ప్రొ. మనోమోహన్‌ఘోష్ సంపాదించినది. ఆంగ్లానువాదంతో నాలుగు సంపుటాలలో ఛౌఖంభా సాన్‌స్క్రిట్ సీరీస్, వారణాసివారు ప్రచురించినది.

3. డా. బాబూలాల్ శుక్ల శాస్త్రి గారి హిందీ అనువాదాదులతో, నాలుగు సంపుటాలలో చౌఖంభా పబ్లికేషన్స్, వారణాసివారు ప్రచురించినది. పునర్ముద్రణం 2009. (ఇది ఘోష్‌గారి ఎడిషన్‌ను అనుసరించినది).

4. డా. సుధా రస్తోగీ రచించిన హిందీఅనువాదం. 1-10 అధ్యాయాలు మాత్రం. కృష్ణదాస్ అకాడమీ, వారణసి, 1989. (గాయక్వాడ్ ఎడిషన్ ను అనుసరించినది).

మా వ్యాఖ్యానంలో అధ్యాయాలసంఖ్య, వాటి పేర్లు మొదలైన విషయాలలో **అభినవభారతీ** సహిత **నాట్యశాస్త్రం** అనుసరించబడింది. అభినవగుప్తాచార్యుడు ఈ శాస్త్రంలో 36 అధ్యాయా లున్నా యని చాల చోట్ల చెప్పి ఉన్నా చివరిదైన 36 వ అధ్యాయం రెండుగా విభజించి 37 వ అధ్యాయానికి కూడ వ్యాఖ్య వ్రాసి సమాప్తి చేసి నట్లు ముద్రితపుస్తకం ద్వారా తెలుస్తున్నది. బహుశా ఈ మార్పు ఏ లేఖకులో చేసి ఉంటారు. మా వ్యాఖ్య ప.ప. ముద్రిత పుస్తకాన్నే అనుసరించింది. అదే విధంగా మొదటి ఇరవై అధ్యాయాల వ్యాఖ్య. ముప్పై యైదవ అధ్యాయం వ్యాఖ్య, మధ్యమధ్య ఇతర ప్రతుల సాహాయ్యం తీసికొన్నా ప్రధానంగా అ.భా.సహిత పుస్తకాన్నే అనుసరించి నడిచింది. మిగిలిన అధ్యాయాల వ్యాఖ్యకు ఘోష్ గారి పుస్తకము. అత్యల్పమైన భేదంతో దానినే అనుసరించిన డా. శుక్లగారి హిందీ అనువాదసహితపుస్తకము బాగా సహకరించాయి. నాట్యశాస్త్రస్వరూపం తెలిసికొనడానికి ఈ గ్రంథం కొంతవరకైనా జిజ్ఞాసువులైన తెలుగువారికి ఉపకరించగలదని ఆశిస్తున్నాను.

డా. (శ్రీమతి) పెండ్యాల **సీతాభవాని** ఈ పుస్తకం ప్రాగ్రూపాలు (ప్రూఫులు) దిద్దడంలో చాల సహకరించింది. పుస్తకాకారాదినిర్ణయం, ముద్రణపర్యవేక్షణ, ఛాయా చిత్రగ్రహణము మొదలైన బాధ్యత లన్నీ తమపైవేసికొని, గణిత - భౌతికశాస్త్ర విద్వద్వతంసులు **శ్రీ ఉప్పులూరి కామేశ్వరరావు** గారు తమ అమూల్యమైన కాలాన్ని ఈ పనులకై వెచ్చించారు.

ప్రసిద్ధ నాట్యాచార్యులు **శ్రీ దండిభొట్ల వైకుంఠ నారాయణమూర్తి** గారి వద్ద నాట్యవిద్య నేర్చిన **చి॥ కుమారి ఝాన్సీ**, చి॥ కుమారి **ఫణికుమారీ**, చి ॥ **లక్ష్మీనారాయణ** తమ గురువుల సమక్షంలో ప్రదర్శించిన 'కరణ' **'హస్తముద్ర'**ల చిత్రాలు ఈ పుస్తకానికి అపూర్వమైన శోభను చేకూర్చి పాఠకుల హృదయాలలో **నాట్యశాస్త్రం** విషయంలో కుతూహలాన్ని ఇనుమడింపచేసేవిగా ఉన్నాయి. అర్థాపేక్ష లేకుండా కేవలం కళారాధన

దృష్టితో ఆచార్య - శిష్యులు చేసిన ఈ శోభాసంవర్ధనం చాల ఆనందదాయకమైనది. అనేక ధార్మిక - సాంస్కృతిక సంస్థలతో సంనిహిత సంబంధం కలిగి తత్సంవర్ధకులుగా కూడ ఉన్న వదాయన్యశేఖరులు **శ్రీ ముసునూరి చంద్రశేఖరరావుగారు** ఈ నాట్యచార్యు లతో మా పరిచయానికి కారణ భూతులు.

నాట్యశాస్త్రంలోనే కాక నాట్యనృత్యనృత్తాదుల ప్రయోగంలో కూడ నిష్ణాతులుగా విఖ్యాతి గాంచిన **శ్రీ మునుకుంట్ల సదాశివ** గారితో మాకు పరిచయం కలగడం నటరాజ చోదనాకృతం. మా అభ్యర్థనను మన్నించి వీరు తమ అమూల్యమైన సమయం వెచ్చించి చేసిన పర్యవేక్షణ ఈ చిరంజీవులు చేసిన కరణముద్రావిన్యాసాలకు ప్రామాణికత్వాన్ని సమకూర్చింది.

శ్రీ 'సమంత గ్రాఫిక్స్' సోదరులు శ్రీకృష్ణ, **పవన్‌కుమారులు**, యథాపూర్వంగా డి.టి.పి. కార్యం, అతిశీఘ్రంగా, శ్రద్ధాపూర్వకంగా నిర్వహించారు. **'సంహిత గ్రాఫిక్స్'** అధిపతి శ్రీ నరేంద్ర గారు ఈ పుస్తకాన్ని సహృదయు లందరూ మెచ్చుకొనే రీతిలో లాభదృష్టి లేకుండా, అతిమనోహర మైన ఆకారంతో తీర్చిదిద్ది, తయారుచేశారు. వీరందరికీ - **"విప్రస్తుష్టః శ్లోకమేకం దదాతి"** (విప్రుడు సంతోషిస్తే మాత్రం ఏమిస్తాడు! ఒక శ్లోకం ఇస్తాడు) అన్నట్లు, అభినందన పూర్వకశుభాకాంక్షలు తెలుపుతున్నాను.

మహామాహేశ్వరులు, శ్రీమదభినవగుప్తాచార్యుల రెండు శ్లోకాలతో ఈ ప్రస్తావన ముగిస్తున్నాను.

ఊర్ధ్వోర్ధ్వమారుహ్య యదర్థతత్త్వం ధీః పశ్యతి శ్రాన్తిమవేదయన్తీ,
ఫలం తదాద్యైః పరికల్పితానాం వివేకసోపానపరమ్పరాణామ్.

అభినవభారతి, షష్ఠాధ్యాయం. రససూత్రవ్యాఖ్య సందర్భంలో.

(ఒక విద్వాంసుని) బుద్ధి, అలసట అనేది ఎరుగకుండా, పై పైకి ఎక్కి ఒక విషయానికి సంబంధించిన తత్త్వాన్ని చూడకలుగుతూన్న దంటే, పూర్వులు ఏర్పరచిన వివేచనాలు (series of anlytical discussions) అనే సోపానపరంపరల (మెట్ల పంక్తుల) వల్ల లభించిన ఫలమే అది.

"సజ్జనాన్ కవిరసౌ న యాచతే; హ్లాదనాయ శశభృత్ కిమర్థితః,
నాపి నిన్దతి ఖలాన్, ముహుర్ముహుః ధిక్కృతోఽపి న హి శీతలోఽనలః."

ఈ కవి సజ్జనులను ప్రార్థించడు; ఎవరైనా సంతోషపెట్ట మని చంద్రుణ్ణి ప్రార్థిస్తున్నారా! దుష్టులను నిందించడు; ఎంత నిందిస్తే మాత్రం నిప్పు చల్లబడుతుందా!

హైదరాబాదు — పుల్లెల శ్రీరామచంద్రుడు

6-7-2014

శ్రీః

నాట్య – నృత్య – నృత్తాల వైశిష్ట్యము

దేవానామిదమామనన్తి మునయః కాన్తం క్రతుం చాక్షుషం
రుద్రేణేదముమాకృతవ్యతికరే స్వాఙ్గే విభక్తం ద్విధా,
త్రైగుణ్యోద్భవమత్ర లోకోచరితం నానారసం దృశ్యతే
నాట్యం భిన్నరుచేర్జనస్య బహుధాప్యేకం సమారాధకమ్.

నాట్యం అనేది కళ్లతో చూచి ఆనందించే మనోహరమైన దేవయజ్ఞం, దేవతారాధన, అని మునులు అంటారు. రుద్రుడు, ఈ నాట్యాన్ని, తాండవం, (ఉద్ధతనృత్యం) లాస్యం (లలితనృత్యం) అని రెండు విధాలుగా విభజించి, (వామభాగంలో) ఉమతో కలిసిఉన్న తన శరీంలో ధరించాడు. సత్త్వ – రజస్ – తమోగుణాల ప్రభావంచేత జరిగే, వివిధరసాలకు నిలయమైన సకలలోకాల చరిత్ర, జీవనవిధానం, దీనిలో చూడవచ్చు. ఈ విధంగా, నాట్యం, అది అవడానికి ఒక్కటే అయినా, వేరు వేరు అభిరుచులు గల మనుష్యులకు అనేకవిధాల వినోదం కలిగిస్తుంది.

– మాళవికాగ్నిమిత్రము

క్షితౌ రత్నచ్ఛాయాఫలనముదకే వీచిలలితం
శిఖిన్యర్చిఃప్రేఙ్ఖా, సహజగతివైచిత్ర్యమనిలే,
తడిత్క్రీడా వ్యోమ్నీత్యకృతసుభగః పఞ్చసు పరః,
ప్రవిష్టో భూతేషు ప్రభవతి హి నృత్తస్య మహిమా.

– జాయసేనాపతివిరచితనృత్తరత్నావళి

భూమిలో రత్నకాంతుల తళతళలు, నీటిలో తరంగాల లలితచలనము; అగ్నిలో జ్వాలల ఊగులాటలు. వాయువులో సహజమైన వింత వింత నడకలు, ఆకాశంలో మెరుపుదీగల ఆటలు – ఈ విధంగా సహజసుందరమైన నృత్తకళామహిమ పంచ భూతాలలో ప్రవేశించింది.

[1]జాయసేనాపతి రచించిన నృత్తరత్నావళి 1-4

– [1]ఈయన కాకతీయచక్రవర్తి గణపతిదేవుని బావమరిది, గజసేనాపతి

శ్రీః

ఓం స్వస్తి శ్రీగణేశాయ నమః

నాట్యశాస్త్రము

నత్వా శ్రీతాతపాదాదీన్ సర్వశాస్త్రార్థసద్గురూన్,
భరతస్య మునేర్నాట్యశాస్త్రమాస్త్రాంవివృణ్మహే.

ప్రథమాధ్యాయము

నాట్యోత్పత్తి

యస్తన్మయాన్ హృదయసంవదనక్రమేణ
ద్రాక్సిత్రశక్తిగణభూమివిభాగభాగీ,
హర్షోల్లసత్వరవికారజుషః కరోతి
వన్దేతమాం తమహమిన్దుకలావతంసమ్. 1

షడ్వింశ (షట్త్రింశ) కాత్మక జగద్గగనావభాస
సందిన్మరీచిచయచుమ్బితబిమ్బశోభమ్,
షట్త్రింశకం భరతసూత్రమిదం వివృణ్వన్
వన్దే శివం శ్రుతితదర్థవివేకి ధామ. 2

విశ్వబీజప్రరోహార్థం మూలాధారతయా స్థితమ్,
ధర్తుం శక్తిమయం వన్దే ధరణీరూపమీశ్వరమ్. 3

మూ. ప్రణమ్య శిరసా దేవౌ పితామహమహేశ్వరౌ,
నాట్యశాస్త్రం ప్రవక్ష్యామి బ్రహ్మణా యదుదాహృతమ్. 1

శ్రీమదభినవగుప్తాచార్యాః

తాత్పర్యం : బ్రహ్మదేవునకు మహేశ్వరునకు శిరస్సు వంచి నమస్కరించి బ్రహ్మదేవుడు బోధించిన నాట్యశాస్త్రాన్ని నా మాటలలో చెపుతాను.

మూ. సమాప్తజప్యం వ్రతినం స్వసుతైః పరివారితమ్,
అనధ్యాయే కదాచిత్తం భరతం నాట్యకోవిదమ్. 2

మునయః పర్యుపాస్యైవమాత్రేయప్రముఖాః పురా,
పప్రచ్ఛుస్తే మహాత్మానో నియతేన్ద్రియబుద్ధయః. 3

తా. పూర్వం ఒక అనధ్యాయదివసాన (శిష్యులకు క్రొత్త పాఠాలు చెప్పకూడని రోజున) నాట్యశాస్త్రప్రవీణుడు, నియమవంతుడు అయిన భరతముని జపం పూర్తి చేసికొని

(40) సుకేరలుడు (41) ఋజుకుడు (42) మండకుడు (43) శంబరుడు (44) వంజులుడు (45) మాగధుడు (46) సరలుడు (47) కర్త (48) ఉగ్రుడు (49) తుషారుడు (50) పార్షదుడు (51) గౌతముడు (52) బాదరాయణుడు (53) విశాలుడు(54) శబలుడు (55) సునాభుడు (56) మేషుడు (57) కాలియుడు (58) భ్రమరుడు (59) పీఠముఖ ముని (60) నఖకుట్టుడు (61) అశ్మకుట్టుడు (62) షట్పదుడు (63) ఉత్తముడు (64) పాదుకుడు (65) ఉపానహుడు (66) శ్రుతి (67) చాషస్వరుడు (68) అగ్నికుండుడు (69) ఆజ్యకుండుడు (70) వితండ్యుడు (71) తాండ్యుడు (72) కర్తరాక్షుడు (73) హిరణ్యాక్షుడు (74) కుశలుడు (75) దుస్సహుడు (76) లాజుడు (77) భయానకుడు (78) బీభత్సుడు (79) విచక్షణుడు (80) పుండ్రాక్షుడు (81) పుండ్రాననుడు (82) అసితుడు (83) సితుడు (84) విద్యుజ్జిహ్వుడు (85) మహాజిహ్వుడు (86) శాలంకాయనుడు (87) శ్యామాయనుడు (88) మాఠరుడు (89) లోహితాంగుడు (90) సంవర్తకుడు (91) పంచశిఖుడు (92) త్రిశిఖుడు (93) శిఖుడు (94) శంఖవర్ణముఖుడు (95) షండుడు (96) శంకుకర్ణుడు (97) శక్రనేమి (98) గభస్తి (99) అంశుమాలి (100) శఠుడు (101) విద్యుతుడు (102) శతజంఘుడు (103) రౌద్రుడు (104) వీరుడు – అను నూర్గురు పుత్రులను, బ్రహ్మదేవుని ఆజ్ఞను అనుసరించి నేను వాని వాని అర్హతలను బట్టి, అనగా ఎవడు ఏ భూమికను చక్కగా నిర్వహించగలడో వానికి ఆ భూమికను ఇచ్చి, నాట్యశాస్త్రప్రయోగంలో నియమించాను. ఎవడు ఏ కర్మయందు నిపుణుడో అతనిని ఆ కర్మయందు నియమించాను.

వి. ఇక్కడ భరతపుత్రుల సంఖ్య నూరు కాక నూటనాలుగు వచ్చినది. స్థూలంగా నూరుగురు అన్నాడు అని సమాధానం చెప్పుకోవాలి. లేదా 'మునిమ్', 'తాపసమ్', 'షణ్డమ్' 'శుచిమ్' అను పదాలను ప్రక్కనున్నవాటి విశేషణాలుగా గ్రహించి సంఖ్య సరిపెట్టుకోవాలి.

ఏమైనా వీరందరూ భరతముని పుత్రులు కాకపోవచ్చును. కాలాంతరానికి సంబంధించిన కోహలుడు, దత్తిలుడు, తండు వంటి కొందరు రచించిన, నాట్యశాస్త్రంలోని కొన్ని విషయాలకు సంబంధించిన కొన్ని గ్రంథాల పేర్లు, కొన్ని వాక్యాలు ప్రాచీన గ్రంథాలలో కనబడుతున్నాయి. అందుచేత అలాంటివాళ్ల పేర్లు కూడ ఎవరో ఇక్కడ భరతపుత్రుల పేర్లలో చేర్చి ఉంటారు అని కొందరి అలంకారశాస్త్రేతిహాసనిర్మాతల అభిప్రాయం.

మూ. భారతీం సాత్త్వతీం చైవ వృత్తిమారభటీం తథా,
సమాశ్రితః ప్రయోగస్తు ప్రయుక్తో వై మయా ద్విజాః. 41

తా. మునులారా! నేను నాట్యంలో భారతి, సాత్త్వతి, ఆరభటి అను వృత్తులను

ఆశ్రయించి ప్రయోగం చేశాను. (వీటి స్వరూపం ముమ్ముందు తెలియగలదు).

మూ. పరిగృహ్య ప్రణమ్యాథ బ్రహ్మా విజ్ఞాపితో మయా,
అథాహ మాం సురగురుః కైశికీమపి యోజయ. 42

యచ్చ తస్యాః క్షమం ద్రవ్యం తద్బ్రూహి ద్విజసత్తమ.

తా. నేను మూడు వృత్తులను నాట్యంలో గ్రహించి నేను చేసిన పని బ్రహ్మదేవునకు నివేదించాను. అప్పు డాయన "భరతా! కైశికీవృత్తిని కూడ చేర్చి దానికి తగిన సుందరమైన వస్తువు ఏది ఉంటుందో అది కూడ చెప్పు" అని ఆదేశించాడు.

మూ. ఏవం తేనాస్మ్యభిహితః; ప్రత్యుక్తశ్చ మయా ప్రభుః. 43

"దీయతాం భగవన్! ద్రవ్యం కైశిక్యాః సంప్రయోజకమ్."

తా. బ్రహ్మదేవుడు ఇట్లు ఆజ్ఞాపించగా నేను ఆయనతో "పూజ్యుడా! కైశికీవృత్తిని ప్రయోగించడానికి ఉపకరించే ద్రవ్యాన్ని (material) నీవే నాకు ఇవ్వాలి.

మూ. నృత్తాఙ్గహారసంపన్నా రసభావక్రియాత్మికా. 44

దృష్టా మయా భగవతో నీలకణ్ఠస్య నృత్యతః,
కైశికీ శ్లక్ష్ణనైపథ్యా శృఙ్గారరససంభవా. 45

తా. కైశికీవత్తి నృత్తంతోను, అంగహారాల తోను కూడి ఉంటుంది. రసభావనను కలిగించడమే దీని స్వరూపం. శృంగారరసాన్ని ఆవిష్కరించే టప్పుడు వేషధారణాదికం చాల సుకుమారంగా ఉంటుంది. అలాంటి కైశికీవృత్తి వినియోగాన్ని నేను భగవంతుడైన నీలకంఠుడు నృత్యం చేస్తూన్నప్పుడు చూచి ఉన్నాను" అని నేను విజ్ఞాపన చేశాను.

మూ. అశక్యా పురుషైః సా తు ప్రయోక్తుం స్త్రీజనాదృతే,
తతోఽసృజన్మహాతేజా మనసాప్సరసో విభుః. 46

నాట్యాలంకారచతురాః ప్రాదాన్మహ్యం ప్రయోగతః,

తా. స్త్రీలు తప్ప పురుషులు కైశికీవృత్తిని ప్రయోగింపజాలరు. అందుచేత మహాతేజఃశాలి యైన బ్రహ్మదేవుడు మనస్సుచేత అప్సరఃస్త్రీలను సృజించి నాట్యాలంకారమునందు చాతుర్యం గల వాళ్లను, నాట్యప్రయోగం కోసమై నా కిచ్చాడు.

అప్సరసల పేర్లు

మూ. మఞ్జుకేశీం సుకేశీం చ మిశ్రకేశీం సులోచనామ్. 47
సౌదామినీం, దేవదత్తాం దేవసేనాం మనోరమామ్,
సుదతీం సున్దరీం చైవ విదగ్ధాం విపులాం తథా. 48

అసీనుడై ఉన్నాడు. ఆయన పుత్రులు అయన చుట్టూ కూర్చొని ఉన్నారు. అప్పుడు, ఇంద్రియాలను బుద్ధిని అదుపులో ఉంచుకొన్న మహాత్ములైన ఆత్రేయాది మునులు ఆ భరతమునిని ఈ విధంగా ప్రశ్నించారు -

మూ. యోఽయం భగవతా సమ్యక్ గ్రథితో వేదసంమితః,
నాట్యవేదః కథం బ్రహ్మన్నుత్పన్నః కస్య వా కృతే. 4

తా. ఓ! బ్రాహ్మణోత్తమా! పూజ్యుడ వైన నీవు చక్కగా కూర్చిన ఈ నాట్యవేదం వేదంతో సమాన మైనది. ఇది ఎలా ఆవిర్భవించినది? ఎవనికోసం ఆవిర్భవించింది?

మూ. కత్యఙ్గః కింప్రమాణశ్చ ప్రయోగశ్చాస్య కీదృశః,
సర్వమేతద్యథాతత్త్వం భగవన్! వక్తుమర్హసి. 5

తా. పూజ్యుడా! ఈ నాట్యవేదానికి ఎన్ని అంగా లున్నాయి? దీని ప్రమాణం ఎంత? దీనిని ఏ విధంగా ప్రయోగించాలి? ఈ విషయా లన్నీ ఉన్నవి ఉన్నట్లు నీవు మాకు చెప్పా లని కోరుతున్నాం.

నాట్యోత్పత్తికథనమ్ - నాట్యావిర్భావాన్ని గూర్చిన **వివరణ**

మూ. తేషాం తద్వచనం శ్రుత్వా మునీనాం **భరతో** మునిః,
ప్రత్యువాచ తతో వాక్యం నాట్యవేదకథాం ప్రతి. 6

తా. భరతముని, ఆ మునుల మాటలు విని నాట్యవేదోత్పత్తిని గూర్చిన కథ ఈ విధంగా చెప్పడం ప్రారంభించాడు.

మూ. భవద్భిః శుచిభిర్భూత్వా తథావహితమానసైః,
శ్రూయతాం నాట్యవేదస్య సంభవో బ్రహ్మనిర్మితః. 7

తా. బ్రహ్మదేవుడు నాట్యవేదం ఏ విధంగా సృజించాడో చెపుతాను; మీరందరూ పవిత్రులై, సావధాన మైన మనస్సులతో వినండి.

మూ. పూర్వం కృతయుగే విప్రాః వృత్తే స్వాయమ్భువేఽన్తరే,
త్రేతాయుగేఽథ సంప్రాప్తే మనోర్వైవస్వతస్య చ. 8
గ్రామ్యధర్మప్రవృత్తే తు కామలోభవశం గతే,
ఈర్ష్యాక్రోధాభిసంమూఢే లోకే సుఖితదుఃఖితే. 9
దేవదానవగన్ధర్వయక్షరక్షోమహోరగైః,
జమ్బూద్వీపే సమాక్రాన్తే లోకపాలప్రతిష్ఠితే. 10
మహేన్ద్రప్రముఖైర్దేవైరుక్తః కిల పితామహః,
"క్రీడనీయకమిచ్ఛామో దృశ్యం శ్రవ్యం చ యద్ భవేత్. 11

తా. ఓ! బ్రాహ్మణులారా! పూర్వం స్వాయంభువమన్వంతరంలో, కృతయుగం గడచి త్రేతాయుగం ప్రారంభ మైనప్పుడు అట్లే వైవస్వతమన్వంతరంలో కృతయుగం గడచి త్రేతాయుగం ప్రారంభ మైనప్పుడు భూలోకంలోని ప్రజ లందరూ కామ - లోభాలకు వశులై, ఈర్ష్య, క్రోధము మొదలైనవాటితో ఏమి చేయ్యాలో తెలియని స్థితిలో సుఖ - దుఃఖాలు అనభవిస్తూ, గ్రామ్యధర్మాలను, (ధర్మవిముఖు లైన పామరజనుల జీవనవిధానాలను) అనుసరిస్తూండేవారు. అప్పుడు లోకపాలులు స్థాపించిన జంబూ ద్వీపాన్ని దేవతలు, దానవులు, గంధర్వులు, యక్షులు, రాక్షసులు మహోరగులు (మహానాగులు) ఆక్రమించుకొన్నారు. ఇది చూచి మహేంద్రుడు మొదలైన దేవతలు బ్రహ్మదేవుని వద్దకు వెళ్లి - "పూజ్యుడా! కళ్లతో చూచి, చెవులతో విని అందరూ ఆనందించడానికి ఉపయోగించే ఏదైన ఒక సాధనాన్ని కోరుతున్నాము".

మూ. "న వేదవ్యవహారోఽయం సంశ్రావ్యః శూద్రజాతిషు,
తస్మాత్సృజాపరం వేదం పఞ్చమం సార్వవర్ణికమ్." 12

తా. "శూద్రజాతులవాళ్లు, శూద్రసమానప్రవృత్తికలవాళ్లూ కూడ రాజసస్వభావం కలవాళ్లవడంచేత వాళ్లకు వేదవ్యవహారం, (వేదోక్తధర్మాదికం) వినిపించి ప్రయోజనం లేదు. అందుచేత అన్ని వర్ణాలవాళ్లకు ఉపయోగించే మరొక వేదాన్ని, ఐదవ వేదాన్ని నువ్వు నిర్మించి మమ్ములను అనుగ్రహించాలి".

వివరణ : ఎనిమిదవ (8) శ్లోకానికి ఉన్నదున్నట్లు అర్థం చెప్పుకొంటే భావం కుదరదు. అందుచేత **నాట్యశాస్త్రా**నికి ప్రామాణికమైన **అభినవభారతి** అను వ్యాఖ్యానం వ్రాసిన అభినవగుప్తులు వ్రాసిన విధంగా అనువాదం చేయబడింది.

భారతీయ జ్యోతిఃశాస్త్ర ప్రకారం కృత - త్రేతా - ద్వాపర - కలియుగా లని నాలుగు యుగాలు. వీటికాలం (ఒక్కొక్కదానిలో) కొన్ని లక్షల సంవత్సరాలు. నాలుగు యుగాల కాలానికి ఒక **మన్వంతరం** అని పేరు. అలాంటి పద్నాలుగు మన్వంతరాలు ఒక **కల్పం,** ఒక కల్పం బ్రహ్మదేవునికి ఒక దినం. ఒక కల్పంలో మొదటిది స్వాయంభువ మన్వంతరం. ప్రస్తుతం జరుగుతూన్న వైవస్వతమన్వంతరం పద్నాలుగు మన్వంతరాలలో ఏడవది. పైన చూచి నట్లు ప్రతీ మన్వంతరంలోను నాలుగు యుగా లుంటాయి కదా! మొదటి మన్వంతర మైన స్వాయంభువమన్వంతరంలో త్రేతాయుగంలో బ్రహ్మదేవుడు నాట్యశాస్త్రం ఆవిర్భవింపచేశాడు. అదే విధంగా అన్ని మన్వంతరాలకు సంబంధించిన త్రేతాయుగాలలోను నాట్యశాస్త్రావిర్భావం జరుగుతూంటుంది. కృతయుగంలో ప్రజలు సహజంగానే స్వధర్మాలు పాటిస్తూ సుఖంగా ఉంటారు. అది గడచిన వెంటనే వాళ్ల మానసికప్రవృత్తులు మారి దుఃఖాలు కూడ అనుభవిస్తూంటారు. అట్టి వారి ఆనందం కోసం నాట్యశాస్త్రావిర్భావం. ఇది అభినవగుపాచార్యుల [illegible]

మూ. ఏవమస్త్వితి తానుక్త్వా దేవరాజం విసృజ్య చ,
సస్మార చతురో వేదాన్ యోగమాస్థాయ తత్త్వవిత్. 13

తా. లోక – వేదాదిశాస్త్రాల తత్త్వం బాగా తెలిసిన బ్రహ్మదేవుడు "సరే! అలాగే ఆవిర్భవింప చేస్తాను" అని వాళ్లతో పలికి, దేవేంద్రుణ్ణి పంపివేసి, ధ్యానముద్రలో కూర్చొని నాలుగు వేదాలను స్మరించాడు.

మూ. ("నేమే వేదాః యతః శ్రావ్యాః స్త్రీశూద్రాద్యాసు జాతిషు,
వేదమన్యత్తతః స్రక్ష్యే సర్వశ్రావ్యం తు యద్భవేత్.")

(ఇది 12వ శ్లోకం పూర్వార్ధంలోని భావాన్నే అనువదిస్తూ చెప్పిన ప్రక్షిప్తశ్లోకం. మూలంలో లేకపోయినా తరువాతి ఎవరో చేర్చినదానిని ప్రక్షిప్తం అంటారు. ఇలాంటి ప్రక్షిపశ్లోకాలు ముస్ముందు అడుగడుగునా తగులుతాయి. వాటిని చాల వరకు కుండలిలో (బ్రాకెట్సులో) చూపడం జరిగింది.

మూ. ధర్మ్యమర్థ్యం యశస్యం చ సోపదేశ్యం ససంగ్రహమ్,
భవిష్యతశ్చ లోకస్య సర్వకర్మానుదర్శకమ్. 14
సర్వశాస్త్రార్థసంపన్నం సర్వశిల్పప్రవర్తకమ్,
నాట్యాఖ్యం పఞ్చమం వేదం సేతిహాసం కరోమ్యహమ్. 15

తా. "నేను 'నాట్యవేదం' అనే పంచమవేదాన్ని నిర్మిస్తూ దాని ఇతిహాసం కూడ చెపుతాను. ఆ యా చారిత్రవిషయాలు కూడ ఈ నాట్యశాస్త్రం ద్వారా, నాట్యం ద్వారా తెలుస్తాయి. ఈ నాట్యవేదం ధర్మసంమతంగా, అందరూ ఆదరపూర్వకంగా కోరదగినది గాను, జనులకు యశస్సు సంపాదించేదిగాను ఉంటుంది. దీనిలో జనులకు ఉపదేశించ వలసిన విషయా లుంటాయి, అన్ని విషయాలు సంగ్రహింపబడతాయి. ఇది రాబోయే తరాల వాళ్లకు అన్ని విధాల కర్మలను (కర్తవ్యాలను) చూపేదిగా ఉంటుంది. దీనిలో సమస్తశాస్త్రాలలోని విషయాలు, చెప్పబడతాయి. అన్ని విధాలైన శిల్పాలకు దీనిలో అవకాశం ఉంటుంది.

మూ. ఏవం సంకల్ప్య భగవాన్ సర్వవేదాననుస్మరన్,
నాట్యవేదం తతశ్చక్రే చతుర్వేదాఙ్గసంభవమ్. 16

తా. భగవంతు డైన బ్రహ్మదేవుడు ఈ విధంగా సంకల్పించి, సమస్తవేదాలను స్మరిస్తూ, నాలుగువేదాలనుండి గ్రహించబడిన అంగాలతో ఏర్పరచిన నాట్యవేదాన్ని నిర్మించాడు.

మూ. జగ్రాహ పాఠ్యమృగ్వేదాత్ సామభ్యో గీతమేవ చ,
యజుర్వేదాదభినయాన్ రసానాథర్వణాదపి. 17

తా. ఋగ్వేదంనుండి పాఠ్యాన్నీ, సామలనుండి (సామవేదంనుండి) గీతాన్నీ, యజుర్వేదం నుండి అభినయాలను, అథర్వవేదంనుండి రసాలను గ్రహించాడు.

వి. స్పష్టమైన ఉచ్చారణ చేస్తూ చెప్పదలచిన విషయాన్ని స్పష్టంగా ఇతరులకు అర్థ మయే టట్లు, తగిన కంఠస్వరం, దానిలోని మార్పులు, అలంకారాదులు చేర్చి కూర్చిన వాగ్విధానానికి పాఠ్యం అని పేరు.

మూ. వేదోపవేదైః సంబద్ధో నాట్యవేదో మహాత్మనా,
ఏవం భగవతా సృష్టో బ్రహ్మణా సర్వవేదినా. 18

తా. సర్వజ్ఞుడు, మహాత్ముడు, పూజ్యుడు అయిన బ్రహ్మదేవుడు ఈ విధంగా వేదాలతోను, ఉపవేదాలతోను సంబంధం ఉన్న నాట్యవేదాన్ని సృష్టించాడు.

మూ. ఉత్పాద్య నాట్యవేదం తు బ్రహ్మోవాచ సురేశ్వరమ్,
ఇతిహాసో మయా సృష్టః స సురేషు నియుజ్యతామ్. 19

తా. బ్రహ్మదేవుడు ఈ విధంగా నాట్యవేదం సృష్టించి ఇంద్రునితో – "ఇతిహాసం, అనగా దేవదానవమానవాదుల వివిధచరిత్రలను చూపే దశరూపకం (పది రూపకాలు) నేను సృజించాను. దీన్ని గ్రహించవలసినదిగా దేవతలను ఆజ్ఞాపించుము" అన్నాడు.

మూ. కుశలా యే విదగ్ధాశ్చ ప్రగల్భాశ్చ జితశ్రమాః,
తేష్వయం నాట్యసంజ్ఞో హి వేదః సంక్రామ్యతాం త్వయా. 20

తా. "నీవు ఈ నాట్యవేదాన్ని కుశలులు, విదగ్ధులు, ప్రగల్భులు, జితశ్రములు అయినవాళ్లకు బోధించాలి."

వి. గురువునుండి విషయం గ్రహించడానికీ, గ్రహించినదానిని మరవకుండడానికీ సమర్థులు **కుశలులు**. ఎక్కడ ఏది చేర్చాలి, ఏది తొలగించాలి అను ఊహ – అపోహలలో సమర్థులు **విదగ్ధులు**. సభాకంపం లేనివాళ్లు **ప్రగల్భులు**. యోగ్యులై తగు ఆకారాదు లుండి, తొందరగా అలసిపోని వాళ్లు జితశ్రములు – అలసటను జయించినవారు.

మూ. తచ్ఛ్రుత్వా వచనం శక్రో బ్రహ్మణా యదుదాహృతమ్,
ప్రాఞ్జలిః ప్రణతో భూత్వా ప్రత్యువాచ పితామహమ్. 21

తా. ఇంద్రుడు బ్రహ్మదేవుని మాటలు విని, అంజలి ఘటించి వినయపూర్వకంగా ఇలా అన్నాడు.

మూ. "గ్రహణే ధారణే జ్ఞానే ప్రయోగే చాస్య సత్తమ,
అశక్తా భగవన్! దేవా అయోగ్యా నాట్యకర్మణి." 22

తా. "మహానుభావా! పూజ్యుడా! దేవతలు ఈ నాట్యవేదాన్ని గ్రహించడానికి గాని, ధరించడానికి గాని, ప్రయోగించడానికి (అభినయించడానికి) గాని అసమర్థులు. వీళ్లు ఈ పని చేయడానికి అనర్హులు.

మూ. య ఇమే వేదగుహ్యజ్ఞా ఋషయః సంశితవ్రతాః,
ఏతేఽస్య గ్రహణే శక్తాః ప్రయోగే ధారణే తథా." 23

తా. వేదాలలోని రహస్యా లన్నీ తెలిసిన, ఉత్తమనియమాలను పాలించే ఈ ఋషులు ఈ నాట్యశాస్త్రాన్ని గ్రహించడానికీ, ధరించడానికీ గ్రహించినదానిని మనస్సులో ధారణ చేయడానికీ ప్రయోగించడానికీ సమర్థులు."

భరతముని నూర్గురు పుత్రుల పేర్లు

మూ. శ్రుత్వా తు శక్రవచనం మామాహామ్బుజసంభవః,
త్వం పుత్రశతసంయుక్తః ప్రయోక్తాస్య భవానఘ. 24

తా. ఇంద్రుని మాటలు విని బ్రహ్మదేవుడు నాతో – "ఓ దోషరహితుడవైన భరతా! నువ్వు నీ నూరుగురు పుత్రులతో కలిసి ఈ నాట్యశాస్త్రాన్ని ప్రయోగించు" అన్నాడు.

మూ. ఆజ్ఞాపితో విదిత్వాహం నాట్యవేదం పితామహాత్,
పుత్రానధ్యాపయామాస ప్రయోగం చాపి తత్త్వతః. 25

తా. బ్రహ్మదేవు డీ విధంగా ఆజ్ఞాపించగా నేను ఆయననుండి నాట్యవేదం తెలిసికొని దానినీ దానిని ప్రయోగించే విధానాన్నీ నా పుత్రులకు, ఏవిధమైన దోషములూ లేనివిధంగా బోధించాను.

మూ. శాణ్డిల్యం చైవ వాత్స్యం చ కోహలం దత్తిలం తథా,
జటిలామ్బష్టకౌ చైవ తణ్డుమగ్నిశిఖం తథా. 26
సైన్ధవం సపులోమానం శాద్వలిం విపులం తథా,
కపిఞ్జలిం బాదరిం చ యమధూమ్రాయణౌ తథా. 27
జమ్బుధ్వజం కాకజఙ్ఘం స్వర్ణకం తాపసం తథా,
కైదారిం శాలికర్ణం చ దీర్ఘగాత్రం చ శాలికమ్. 28
కౌత్సం తాణ్డాయనిం చైవ పిఙ్గలం చిత్రకం తథా,
బన్ధులం మల్లకం చైవ ముష్టికం సైన్ధవాయనమ్. 29
తైతిలం భార్గవం చైవ శుచిం బహులమేవ చ,
అబుధం బుధసేనం చ పాణ్డుకర్ణం సుకేరలమ్. 30

ఋజుకం మణ్డకం చైవ శమ్బరం వఞ్జులం తథా,
మాగధం సదలం చైవ కర్తారం చోగ్రమేవ చ. 31
తుషారం పార్షదం చైవ గౌతమం బాదరాయణమ్,
విశాలం శబలం చైవ సునాభం మేషమేవ చ. 32
కాలియం భ్రమరం చైవ తథా పీఠముఖం మునిమ్,
నఖకుట్టాశ్మ కుట్టౌ చ షట్పదం సోత్తమం తథా. 33
పాదుకోపానహౌ చైవ శ్రుతిం చాషస్వరం తథా,
అగ్నికుణ్డాజ్యకుణ్డౌ చ వితణ్డం తాణ్డ్యమేవ చ. 34
కర్తరాక్షం హిరణ్యాక్షం కుశలం దుస్సహం తథా,
లాజం భయానకం చైవ బీభత్సం సవిచక్షణమ్. 35
పుణ్డ్రాక్షం పుణ్డ్రనాసం చాప్యసితం సితమేవ చ,
విద్యుజ్జిహ్వం మహాజిహ్వం శాలఙ్కాయనమేవ చ. 36
శ్యామాయనం మాఠరం చ లోహితాఙ్గం తథైవ చ,
సంవర్తకం పంచశిఖం త్రిశిఖం శిఖమేవ చ. 37
శఙ్ఖవర్ణముఖం షణ్డం శఙ్కుకర్ణమథాపి చ,
శక్రనేమిం గభస్తిం చాప్యంశుమాలిం శఠం తథా. 38
విద్యుతం శాతజఙ్ఘం చ రౌద్రం వీరమథాపి చ,
పితామహాజ్ఞయాస్మాభిః లోకస్య చ గుణేప్సయా. 39
ప్రయోజితం పుత్రశతం యథాభూమివిభాగశః,
యో యస్మిన్ కర్మణి యథా యోగ్యస్తస్మిన్ స యోజితః. 40

తా. (భరతముని నాట్యవేదాన్ని ఉపదేశించిన ఆయన కుమారుల పేర్లు –)

(1) శాండిల్యుడు (2) వాత్స్యుడు (3) కోహలుడు (4) దత్తిలుడు (5) జటిలుడు (6) అంబష్టకుడు (7) తండు (8) అగ్నిశిఖుడు (9) సైంధవుడు (10) పులోముడు (11) శాద్వలి (12) విపులుడు (13) కపింజలి (14) బాదరి (15) యముడు (16) ధూమ్రాయణుడు (17) జంబుధ్వజుడు 918) కాకజంఘుడు (19) స్వర్ణకుడు (20) తాపసుడు (21) కైదారి (22) శాలికర్ణుడు (23) దీర్ఘగాత్రుడు (24) శాలికర్ణుడు (25) కౌత్సుడు (26) తాండాయని (27) పింగలుడు (28) చిత్రకుడు (29) బంధులుడు (30) భల్లకుడు (31) ముష్టికుడు (32) సైంధవాయనుడు (33) తైతిలుడు (34) భార్గవుడు (35) శుచి (36) బహులుడు (37) అబుధుడు (38) బుధసేనుడు (39) పాండుకర్ణుడు

సుమాలాం సంతతిం చైవ సునన్దాం సుముఖీం తథా,
మాగధీమర్జునీం చైవ సరలాం కేరలాం ధృతిమ్. 49

నన్దాం సపుష్కలాం చైవ కలమాం చైవ మే దదౌ,

తా. మంజుకేశి, సుకేశి, మిశ్రకేశి, సులోచన, సౌదామిని, దేవదత్త, దేవసేన, మనోరమ, సుదతి, సుందరి, విదగ్ధయైన విపుల, సుమాల, సుమతి, సునంద, సుముఖి, మాగధి, అర్జుని, సరల, కేరల, ధృతి, నంద, పుష్కల, కలమ అను అప్సరసలను నాకు అప్పగించాడు.

మూ. స్వాతిర్భాణ్డనియుక్తస్తు సహ శిష్యైః స్వయంభువా. 50
నారదాద్యాశ్చ గన్ధర్వా గానయోగే నియోజితాః.

తా. బ్రహ్మదేవుడు, స్వాతినీ, ఆతని శిష్యులను భాండానికి (మృదంగాది వాద్య సముదాయానికి) సంబంధించిన విషయా లన్నీ చూచుకొనడానికీ, నారదుడు మొదలైన గంధర్వులను గానానికి సంబంధించిన వీణావేణ్వాదుల విషయాలు పర్యవేక్షించడానికీ నియమించాడు.

వి. ఇక్కడ చెప్పినదానిని బట్టి సంగీతశాస్త్రప్రవీణు డైన నారదుడు దేవర్షి యైన నారదుడు కాదు; గంధర్వుడైన మరొక నారదు డని తెలుస్తూన్నది.

బ్రహ్మదేవుని ఆజ్ఞచేత ప్రథమనాట్యప్రయోగప్రారంభం

మూ. ఏవం నాట్యమిదం సమ్యగ్బుద్ధ్వా సర్వైః సుతైః సహ. 51
స్వాతినారదసంయుక్తో వేదవేదాఙ్గకారణమ్,
ఉపస్థితోఽహం బ్రహ్మాణం ప్రయోగార్థం కృతాఞ్జలిః. 52

తా. నేను, నా పుత్రులూ కూడ ఈ విధంగా వేద - వేదాంగాలనుండి జనించిన నాట్యాన్ని గూర్చి బాగా తెలిసికొన్నాం. పిమ్మట నేను స్వాతితోను, నారదునితోను కలిసి బ్రహ్మదేవుని దగ్గరకు వెళ్లి, అంజలి ఘటించి, దీని ప్రయోగాన్ని గూర్చి ఆయనను అభ్యర్థించాను.

మూ. "నాట్యస్య గ్రహణం ప్రాప్తం బ్రూహి కిం కరవాణ్యహమ్"
ఏతత్తు వచనం శ్రుత్వా ప్రత్యువాచ పితామహః. 53

తా. "దేవా! ఇపుడు నాట్యాన్ని ప్రయోగించవలసి ఉన్నది. నే నేమి చేయవలెనో ఆదేశించుము" అని కోరాను. నా మాట విని బ్రహ్మదేవు డిట్లన్నాడు.

మూ. "మహానయం ప్రయోగస్య సమయః ప్రత్యుపస్థితః,
అయం ధ్వజమహః శ్రీమాన్ మహేన్ద్రస్య ప్రవర్తతే. 54
అత్రేదానీమయం వేదో నాట్యసంజ్ఞః ప్రయుజ్యతామ్."

తా. "నాట్యప్రయోగానికి (ప్రదర్శనానికి) తగిన మంచి అవకాశం ఇప్పుడు వచ్చినది - మహేంద్రధ్వజమహోత్సవం జరుగుతూన్నది. ఈ ఉత్సవంలో ఈ నాట్యవేదప్రదర్శన చెయ్యండి."

మూ. తతస్తస్మిన్ ధ్వజమహే నిహతాసురదానవే. 55
ప్రహృష్టామరసంకీర్ణే మహేన్ద్రవిజయోత్సవే,
పూర్వం కృతా మయా నాన్దీ హ్యాశీర్వచనసంయుతా. 56

తా. ధ్వజోత్సవం ప్రారంభ మైనది. అసురులు దానవులు నశించగా దేవత లందరూ ఆనందిస్తూన్న ఆ మహేంద్రవిజయోత్సవంలో నేను ముందుగా ఆశీర్వచనంతో కూడిన నాంది చేశాను.

మూ. అష్టాఙ్గపదసంయుక్తా విచిత్రా వేదనిర్మితా,
తదన్తేఽనుకృతిర్బద్ధా యథా దైత్యాః సురైర్జితాః. 57

తా. ప్రారంభంలో నేను చేసిన నాంది నాట్యవేదంలో చెప్పిన ప్రకారం అంగములైన ఎనిమిది పదములతో విచిత్రంగా ఉన్నది. ఆ నాంది చేసిన తరువాత సురులు దైత్యులను జయించినట్లు అనుకృతి (అభినయం) చేయబడింది.

మూ. సంఫేటవిద్రవకృతా చ్ఛేద్యభేద్యాహవాత్మికా,
తతో బ్రహ్మాదయో దేవాః ప్రయోగపరితోషితాః. 58

తా. ఆ అనుకృతి (అభినయం) సంఫేటంతోనూ, విద్రవంతోను చేయబడినదై ఛేద్య భేద్యాహవాల స్వరూపంతో ఉన్నది. అప్పుడు ఆ ప్రయోగానికి సంతోషించిన బ్రహ్మాది దేవతలు -

వి. రోషంతో పలికిన వాక్యాలతో కూర్చినది **సంఫేటం.** శంకా - భయ - త్రాసాలతో కూర్చినది విద్రవం. శస్త్రయుద్ధం ఛేద్యం. మల్లయుద్ధం భేద్యం. ఆహవం = యుద్ధం.

సంతసించిన బ్రహ్మాదిదేవతలు ఉపకరణాలను ఇచ్చుట

మూ. ప్రదదుర్మత్సుతేభ్యస్తు సర్వోపకరణాని వై,
ప్రీతస్తు భగవాన్ శక్రో దత్తవాన్ స్వం ధ్వజం శుభమ్. 59

తా. (దేవతలు) నా పుత్రులకు అన్ని (నాట్య) సాధనాలను బహూకరించారు. సంతోషించిన ఇంద్రుడు ముందుగా తన (ఇంద్ర) ధ్వజం బహూకరించాడు.

మూ. బ్రహ్మా కుటిలకం చైవ భృఙ్గారం వరుణః శుభమ్,
సూర్యశ్ఛత్రం శివః సిద్ధిం వాయుర్వ్యజనమేవ చ. 60

తా. బ్రహ్మదేవుడు (విదూషకుడు చేతిలో ధరించే) వంకరగా ఉండే దండం ఇచ్చాడు. వరుణుడు మంగళప్రదమైన పాత్ర ఇచ్చాడు. సూర్యుడు ఛత్రం (ఇక్కడ దీనికి వితానం, అనగా డేరా పైకప్పువంటి ఆచ్ఛాదనపటం అని అర్థం). శివుడు సిద్ధిని (తలపెట్టిన కార్యం నిర్విఘ్నంగా సిద్ధించడాన్నీ), వాయువు వింజామరను బహూకరించారు.

మూ. విష్ణుః సింహాసనం చైవ కుబేరో మకుటం తథా,
శ్రావ్యత్వం ప్రేక్షణీయస్య దదౌ దేవీ సరస్వతీ. 61

తా. విష్ణువు సింహాసనము, కుబేరుడు కిరీటము, సరస్వతీదేవి దృశ్యమైన రూపకాలలోని గీతాదులు శ్రావ్యంగా ఉండడాన్ని ఇచ్చారు.

మూ. శేషా యే దేవగన్ధర్వా యక్షరాక్షసపన్నగాః,
తస్మిన్ సదస్యభిప్రేతాన్నానాజాతిగుణాశ్రయాన్. 62

అంశాంశైర్భాషితం భావాన్ రసాన్ రూపం బలం తథా,
దత్తవన్తః ప్రహృష్టాస్తే మత్సుతేభ్యో దివౌకసః. 63

తా. ఆ సదస్సులో ఉన్న మిగిలిన దేవతలు, గంధర్వులు. యక్షులు, రాక్షసులు, పన్నగులు వాళ్లకు ఇష్టమైన అనేకవిధాలైన జాతులకు, గుణాలకు సంబంధించిన ఆయా అంశలకు (భూమికలకు) అనుగుణమైన సంభాషణలను, భావాలను, రసాలను, రూపమును, బలమును ఇచ్చారు. ఈ విధంగా సంతసించిన ఆ దేవతలు (దేవాదులు) నా పుత్రులకు అనేక వస్త్రాదులను ఇచ్చారు.

విరూపాక్షుడు మొదలైన దైత్యులు నాట్యప్రయోగంలో విఘ్నం కలిగించుట

మూ. ఏవం ప్రయోగే ప్రారబ్ధే దైత్యదానవనాశనే,
అభవన్ క్షుభితాః సర్వే దైత్యా యే తత్ర సంగతాః. 64

తా. దైత్యదానవుల నాశనాన్ని చూపే నాట్యప్రయోగం ఈ విధంగా ప్రారంభం కాగానే అక్కడ చేరిన దైత్యు లందరు క్షోభ చెందారు. ఆ ప్రదర్శనం తమ జాతివాళ్లను కించపరచేదిగా ఉన్న దని వాళ్లు ఆగ్రహించారు.

మూ. విరూపాక్షపురోగాంశ్చ విఘ్నాన్ ప్రోత్సాహ్య తేఽబ్రువన్,
న క్షమిష్యామహే నాట్యం హేతదాగమ్యతామితి. 65

తా. వాళ్లు విరూపాక్షుడు మొదలైన విఘ్నాలను ప్రోత్సహించి, – “మేం ఈ నాట్యం సహించజాలం. వెళ్లిపోదాం. వచ్చి వేయండి” (అంటూ బైటకు వెళ్లిపోయారు).

మూ. తతస్తైరసురైః సార్ధం విఘ్నా మాయాముపాశ్రితాః,
వాచశ్చేష్టాం స్మృతిం చైవ స్తమ్భయన్తి స్మ నృత్యతామ్. 66

తా. విఘ్నాలు (విఘ్నకారకులైన భూతాలు) అసురులతో కలిసి, మాయాబలంతో ఆ నాట్యప్రయోగంలో నృత్యం చేస్తున్నవాళ్ల వాక్కులను, చేష్టలను, స్మృతినీ స్తంభింప చేశారు.

మూ. తథా విధ్వంసనం దృష్ట్వా సూత్రధారస్య దేవరాట్,
కస్మాత్ప్రయోగవైషమ్యమిత్యుక్త్వా ధ్యానమావిశత్. 67

తా. సూత్రధారుణ్ణి ఆ విధంగా బాధించడం చూచిన దేవేంద్రుడు నాట్యప్రయోగంలో ఈ విధంగా వైషమ్యం ఎందుకు కలిగిందా అని ధ్యానించాడు. ఆలోచించాడు.

జర్జరం ఆవిర్భవించుట

మూ. అథాపశ్యత్సదో విఘ్నైః సమన్తాత్పరివారితమ్,
సహేతరైః సూత్రధారం నష్టసంజ్ఞం జడీకృతమ్. 68

తా. ఈ విధంగా ధ్యానం ద్వారా ఇంద్రుడు, పరివారసమేతు డైన సూత్రధారుణ్ణి విఘ్నాలు చుట్టుముట్టి సంజ్ఞ లేకుండా, జడుడుగా చేసినట్లు తెలుసుకొన్నాడు.

మూ. ఉత్థాయ త్వరితం శక్రః గృహీత్వా ధ్వజముత్తమమ్,
సర్వరత్నోజ్జ్వలం తం తు కిఞ్చిదుద్వృత్తలోచనః. 69

రఙ్గపీఠగతాన్విఘ్నానసురాంశ్చైవ దేవరాట్,
జర్జరీకృతదేహాంస్తానకరోజ్జర్జరేణ సః. 70

తా. దేవేంద్రుడు వెంటనే లేచి, కోపంతో నేత్రాలు కొంచెం త్రిప్పుచు, సమస్త రత్నాలతో ప్రకాశిస్తూన్న ఉత్తమమైన ఆ (ఇంద్ర) ధ్వజాన్ని ఎత్తి (చేత ధరించి) ఆ జర్జరంతో రంగపీఠం మీద ఉన్న విఘ్నాల దేహాలను, అసురుల దేహాలను జర్జరమై పోయేటట్లు చేశాడు.

వి. జర్జరం (దుర్బలం) అయేటట్లు చేయడంచేత ఆ దండానికి ‘జర్జరం’ అని పేరు.

మూ. నిహతేషు చ సర్వేషు విఘ్నేషు సహ దానవైః,
సంప్రహృష్య తతో వాక్యమాహుః సర్వే దివౌకసః. 71

తా. విఘ్నాలూ, దానవులూ నశించిపోవడంతో దేవత లందరూ సంతోషించి ఇంద్రునితో ఇలా అన్నారు -

మూ. అహో ప్రహరణం దివ్యమిదమాసాదితం త్వయా,
జర్జరీకృతసర్వాఙ్గా యేనైతే దానవాః కృతాః. 72

తా. ఆహా! నీ కెంత దివ్యమైన దండం లభించినది! ఇది సకలదానవుల అవయవాలన్నీ చితగకొట్టినది.

మూ. యస్మాదనేన తే విఘ్నాః సాసురా జర్జరీకృతాః,
తస్మాజ్జర్జర ఏవేతి నామతోఽయం భవిష్యతి. 73

తా. ఈ దండం విఘ్నాలను అసురులనూ కూడ జర్జరులను చేసింది. అందుచేత దీనికి 'జర్జరము' అను పేరు ప్రసిద్ధికి వస్తుంది.

మూ. శేషా యే చైవ హింసార్థముపయాస్యన్తి హింసకాః,
దృష్ట్వైవ జర్జరం తేఽపి గమిష్యన్త్యేవమేవ తు. 74

తా. ఇంకా మిగిలిన హింసకులు ఎవరైనా విఘ్నాలు కల్పించడానికి వచ్చినా, వాళ్లు కూడ ఈ జర్జరాన్ని చూడగానే జర్జరదేహులై పారిపోతారు.

మూ. ఏవమేవాస్త్వితి తతః శక్రః ప్రోవాచ తాన్ సురాన్,
రక్షాభూతశ్చ సర్వేషాం భవిష్యత్యేష జర్జరః. 75

తా. "మీరన్నట్లే జరుగుతుంది; ఈ జర్జరం నాట్యప్రయోక్త లందరికీ రక్షగా ఉంటుంది" అని దేవేంద్రుడు దేవతలకు మాట ఇచ్చాడు.

మూ. ప్రయోగే ప్రస్తుతే హ్యేవం స్ఫీతే శక్రమహే పునః,
త్రాసం సంజనయన్తి స్మ విఘ్నాః శేషాస్తు నృత్యతామ్. 76

తా. ఇంద్రోత్సవం మళ్లీ మహోత్సాహంతో ప్రారంభం కాగానే మిగిలిన విఘ్నాలు నర్తకులను భయపెట్టడం ప్రారంభించారు(యి).

మూ. దృష్ట్వా తేషాం వ్యవసితం దైత్యానాం విప్రకారజమ్,
ఉపస్థితోఽహం బ్రహ్మాణం సుతైః సర్వైః సమన్వితః. 77

తా. ఆ దైత్యులు పగ తీర్చుకొనడంకోసం చేస్తూన్న ఆ ప్రయత్నాన్ని చూచి, నేను నా పుత్రులతో కలిసి బ్రహ్మదేవుని దగ్గరకు వెళ్లాను.

మూ. "నిశ్చితా భగవన్! విఘ్నా నాట్యస్యాస్య వినాశనే,
అస్య రక్షావిధిం సమ్యగాజ్ఞాపయ సురేశ్వర!" 78

తా. "దేవాధిపతి వైన ఓ! పూజ్యుడా! విఘ్నాలు ఈ నాట్యప్రయోగం జరగకుండా చెయ్యాలన్న నిశ్చయంతో ఉన్నారు (యి); ఈ ప్రయోగాన్ని బాగా, రక్షించే విధానం ఏమో నువ్వు ఆజ్ఞాపించు."

విశ్వకర్మ నాట్యశాల నిర్మించుట

మూ. తతశ్చ విశ్వకర్మాణం బ్రహ్మోవాచ ప్రయత్నతః,
"కురు లక్షణసంపన్నం నాట్యవేశ్మ మహామతే." 79

తా. అప్పుడు బ్రహ్మదేవుడు విశ్వకర్మను పిలిచి - "ఓ! మహామతీ! అన్ని మంచి లక్షణాలతో కూడిన ఒక నాట్యగృహం నీవు ప్రయత్నపూర్వకంగా నిర్మించాలి" అని ఆదేశించాడు.

మూ. తతోఽచిరేణ కాలేన విశ్వకర్మా మహచ్ఛుభమ్,
సర్వలక్షణసంపన్నం కృత్వా నాట్యగృహం తు సః. 80
ప్రోక్తవాన్ ద్రుహిణం గత్వా సభాయాం తు కృతాఞ్జలిః,
సజ్జం నాట్యగృహం దేవ తదవేక్షితుమర్హసి. 81

తా. బ్రహ్మదేవుని ఆదేశమును విని విశ్వకర్మ సర్వలక్షణసంపన్నమూ, శుభకరమూ అయిన ఒక నాట్యగృహం అచిరకాలంలో నిర్మించి సభలో ఉన్న బ్రహ్మదేవునివద్దకు వెళ్లి నమస్కరించి "ప్రభూ! నాట్యగృహం నిర్మించాను. నీవు వచ్చి దర్శించుము" అని విన్నవించాడు.

మూ. తతః సహమహేన్ద్రేణ సురైః సర్వైశ్చ సేతరైః,
ఆగతస్త్వరితో ద్రష్టుం దృహిణో నాట్యమణ్డపమ్. 82

తా. బ్రహ్మదేవుడు వెంటనే మహేంద్రునితోను, సకల దేవతలతోను విద్యాధర గంధర్వాదులతోను కలిసి ఆ నాట్యమండపం చూడడానికి వచ్చాడు.

బ్రహ్మదేవుడు నాట్యమండపరక్షణకై దేవతలను నియోగించుట

మూ. దృష్ట్వా నాట్యగృహం బ్రహ్మా ప్రాహ సర్వాన్సురాంస్తతః,
అంశభాగైర్భవద్భిస్తు రక్ష్యోఽయం నాట్యమణ్డపః. 83

తా. బ్రహ్మదేవుడు నాట్యగృహం చూచిన తరువాత దేవతలను ఇలా ఆజ్ఞాపించాడు - "మీరందరూ ఎవరికి ఏ అంశం నిర్దేశిస్తున్నానో ఆ అంశల ప్రకారం ఈ నాట్య మండపాన్ని రక్షిస్తుండాలి."

మూ. రక్షణే మణ్డపస్యాథ వినియుక్తస్తు చన్ద్రమాః,
లోకపాలాస్తథా దిక్షు విదిక్ష్వపి చ మారుతాః. 84

తా. పూర్తి మండపాన్ని రక్షించడానికి (సౌమ్యస్వభావం గల) చంద్రుణ్ణీ, నాలుగు దిక్కుల రక్షణకు నలుగురు లోకపాలులను, విదిక్కులను రక్షించడానికి వాయువులను నియోగించాడు.

మూ. నేపథ్యభూమౌ మిత్రస్తు నిక్షిప్తో వరుణోఽమ్బరే.
వేదికారక్షణే వహ్నిః భాణ్డే సర్వదివౌకసః. 85

తా. వేషధారణగృహం రక్షణకు మిత్రుణ్ణీ (సూర్యునీ), ఆకాశ (ఊర్ధ్వభాగ) రక్షణకు వరుణుణ్ణీ, వేదికను (రంగస్థలాన్ని) రక్షించడానికి అగ్నినీ, వాద్యసముదాయరక్షణకు మేఘాలను (మేఘాధిష్ఠానదేవతలను) నియమించాడు.

మూ. వర్ణాశ్చత్వార ఏవాథ స్తమ్భేషు వినియోజితాః,
ఆదిత్యాశ్చైవ రుద్రాశ్చ స్థితాః స్తంభాన్తరేష్వథ. 86

తా. స్తంభాల రక్షణకు నలుగురు వర్ణాధిష్ఠానదేవతలను, నాలుగు స్తంభాల మధ్య భాగాలలో ఆదిత్యులను, రుద్రులను నియమించాడు.

మూ. ధారణీష్వథ భూతాని శాలాస్వప్సరసస్తథా,
సర్వవేశ్మసు యక్షిణ్యో మహీపృష్ఠే మహోదధిః. 87

తా. ధారణులయందు భూతాలను, శాలలయందు అప్సరసలను, సమస్తగృహాలలో యక్షిణులను, నేల వెనుక (అడుగున) మహాసముద్రాన్ని రక్షణకై నియమించాడు.

మూ. ద్వారశాలానియుక్తౌ తు కృతాన్తః కాల ఏవ చ,
స్థాపితౌ ద్వారపత్రేషు నాగముఖ్యౌ మహాబలౌ. 88

తా. ద్వార-శాలల రక్షణకై యముణ్ణి, కాలదేవతను, తలుపుల రక్షణకై మహాబలశాలు లైన అనంతుడు గులికుడు అను ప్రధాననాగులను నియమించాడు.

మూ. దేహల్యాం యమదణ్డస్తు శూలం తస్యోపరిస్థితమ్,
ద్వారపాలౌ స్థితౌ చోభౌ నియతిర్మృత్యురేవ చ. 89

తా. గుమ్మంమీద యమదండమూ, దాని పైభాగంలో శూలమూ వాటి రక్షణకై ఉన్నాయి. నియతి (దైవం) మృత్యువు అను ఇద్దరు దేవతలు ద్వారపాలకులుగా ఉన్నారు.

మూ. పార్శ్వే చ రఙ్గపీఠస్య మహేన్ద్రః స్థితవాన్ స్వయమ్,
స్థాపితా మత్తవారణ్యాం విద్యుద్దైత్యనిషూదనీ. 90

తా. రంగపీఠం ప్రక్కన స్వయంగా మహేంద్రుడే రక్షకుడుగా ఉన్నాడు. మత్తవారణి రక్షణకై దైత్యవినాశక మైన వజ్రరూపమైన మెరుపు నిలపబడింది.

మూ. స్తమ్భేషు మత్తవారణ్యాః స్థాపితాః పరిపాలనే,
భూతయక్షపిశాచాశ్చ గుహ్యకాశ్చ మహాబలాః. 91

తా. మత్తవారణి స్తంభాలమీద వాటి రక్షణకై భూత - యక్ష - పిశాచాలను, మహాబలవంతు లైన గుహ్యకులను (యక్షులలో ఒక తెగ) నియమించాడు.

మూ. జర్జరే తు వినిక్షిప్తం వజ్రం దైత్యనిబర్హణమ్,
తత్పర్వసు వినిక్షిప్తాః సురేన్ద్రా హ్యమితౌజసః. 92

తా. గొప్ప తేజస్సు గల సురేంద్రులను దైత్యసంహారకమైన జర్జరంలోను, దాని పర్వల (కణుపుల) లోను రక్షణకై ఉంచాడు.

మూ. శిరఃపర్వస్థితో బ్రహ్మా ద్వితీయే శఙ్కరస్తథా,
తృతీయే చ స్థితో విష్ణుశ్చతుర్థే స్కన్ద ఏవ చ. 93

తా. జర్జరం చివరి పర్వమీద బ్రహ్మ, రెండవదానిమీద శంకరుడు, మూడవదాని మీద విష్ణువు, నాల్గవదాని మీద కుమారస్వామి ఉన్నారు.

మూ. పఞ్చమే చ మహానాగాః శేషవాసుకితక్షకాః,
ఏవం విఘ్నవినాశాయ స్థాపితా జర్జరే సురాః. 94

తా. శేష - వాసుకి - తక్షకు లను మహానాగులు ఐదవ పర్వంమీద ఉన్నారు. ఈ విధంగా విఘ్నవినాశంకొరకై ఆ యా దేవతలు జర్జరంమీద (జర్జరంలో) నిలుపబడ్డారు.

మూ. రఙ్గపీఠస్య మధ్యే తు స్వయం బ్రహ్మా ప్రతిష్ఠితః,
ఇష్ట్యర్థం రఙ్గమధ్యే తు క్రియతే పుష్పమోక్షణమ్. 95

తా. బ్రహ్మదేవుడే స్వయంగా రంగపీఠం మధ్య నిలిచి ఉంటాడు. రంగమధ్యలో (బ్రహ్మదేవుని) పూజించడానికై పుష్పాలు చల్లుతారు.

మూ. పాతాలవాసినో యే చ యక్షగుహ్యకపన్నగాః,
అధస్తాద్రఙ్గపీఠస్య రక్షణే తే నియోజితాః. 96

తా. రంగపీఠం క్రిందిభాగాన్ని రక్షించడానికై పాతాళవాసులైన యక్షులు, గుహ్యకులు, పన్నగులు నియమింపబడ్డారు.

మూ. నాయకం రక్షతీన్ద్రస్తు నాయికాం చ సరస్వతీ,
విదూషకమథోఙ్కారః శేషాస్తు ప్రకృతీర్హరః. 97

తా. నాయకుణ్ణి ఇంద్రుడు, నాయికను సరస్వతి, విదూషకుణ్ణి ఓంకారము, మిగిలిన ప్రకృతులను (actors) అందరినీ హరుడు రక్షిస్తుంటారు.

మూ. యాన్యేతాని నియుక్తాని దైవతానీహ రక్షణే,
ఏతాన్యేవాధిదైవాని భవిష్యన్తీత్యువాచ సః. **98**

తా. ఆ యా స్థానాదుల రక్షణకై ఏ దేవతలు నియమింపబడ్డారో వాళ్లే వాటికి అధిష్ఠానదేవత లవుతా రని బ్రహ్మదేవుడు చెప్పాడు.

మూ. ఏతస్మిన్నన్తరే దేవైః సర్వైరుక్తః పితామహః,
సామ్నా తావదిమే విఘ్నాః స్థాప్యన్తాం వచసా త్వయా. **99**
పూర్వం సామ ప్రయోక్తవ్యం ద్వితీయం దానమేవ చ,
తయోరుపరి భేదస్తు తతో దణ్డః ప్రయుజ్యతే. **100**

తా. ఇంతలో దేవతలందరూ బ్రహ్మదేవునితో ఇలా అన్నారు – "పూజ్యుడా! ముందుగా నువ్వు ఈ విఘ్నకర్తలతో మాట్లాడి వాళ్లను విఘ్నాలు కలిగించకుండా ఆపుచెయ్యి. ఎందువల్ల ననగా – ముందు సామోపాయం ప్రయోగించాలి. రెండవది దానోపాయం. ఈ రెండూ విఫలమైతే భేదోపాయం. అదీ విఫలమైతే దండం ప్రయోగించాలి."

బ్రహ్మదేవుడు దైత్యుల విషయంలో సామం ప్రయోగించుట

మూ. దేవానాం వచనం శ్రుత్వా బ్రహ్మా విఘ్నానువాచ హ,
కస్మాద్భవన్తో నాట్యస్య వినాశాయ సముత్థితాః. **101**

తా. దేవతల మాటలు విని బ్రహ్మదేవుడు – "మీరందరూ నాట్యాన్ని చెడగొట్టడానికి ఎందుకు పూనుకొన్నారు?" అని విఘ్నకారకు లైన ఆ దైత్యులను ప్రశ్నించాడు.

మూ. బ్రహ్మణో వచనం శ్రుత్వా విరూపాక్షోఽబ్రవీద్వచః,
దైత్యైర్విఘ్నగణైః సార్ధం సామపూర్వమిదం తతః. **102**

తా. విఘ్నగణా లైన దైత్యులు ప్రక్కనే ఉన్న విరూపాక్షుడు బ్రహ్మదేవునితో సామపూర్వకంగా (సవినయంగా) ఇలా అన్నాడు.

మూ. "యోఽయం భగవతా సృష్టో నాట్యవేదః సురేచ్ఛయా,
ప్రత్యాదేశోఽయమస్మాకం సురార్థం భవతా కృతః. **103**

తా. "సురులు కోరగా నువ్వు ఈ నాట్యశాస్త్రం సృజించావు. ఇది మాకు తిరస్కారం. అవమానకరం! నువ్వు దీనిని సురులకోసం నిర్మించావు.

మూ. తన్నైతదేవం కర్తవ్యం త్వయా లోకపితామహ,
యథా దేవాస్తథా దైత్యాః త్వత్తః సర్వే వినిర్గతాః." **104**

తా. "సకలలోకపితామహు డైన నువ్వు ఇలా చేసి ఉండకూడదు. నీనుండి దేవతలు ఏ విధంగా ఆవిర్భవించారో దైత్యు లందరూ కూడ అలాగే ఆవిర్భవించారు."

మూ. విఘ్నానాం వచనం శ్రుత్వా బ్రహ్మా వచనమబ్రవీత్,
అలం వో మన్యునా దైత్యాః విషాదం త్యజతానఘాః. **105**

తా. విఘ్నాల మాటలు విని బ్రహ్మదేవు డిలా అన్నాడు – "దైత్యులారా! మీకు ఏమాత్రమూ కోపం తగదు. ఓ! దోషరహితులారా! మీరు విషాదం చెందకండి."

మూ. భవతాం దేవతానాం చ శుభాశుభవికల్పకః,
కర్మభావాన్వయాపేక్షీ నాట్యవేదో మయా కృతః. **106**

తా. నేను రచించిన ఈ నాట్యవేదం మీకూ దేవతలకూ కూడ శుభాశుభాలను వికల్పించేది. కర్మలమీద, మనోభావాలమీదా, వంశ – దేశాదులభేదాల మీదా ఆధార పడినది.

వి. దేవతలు గొప్పవాళ్ళనీ దానవాదులు చెడ్డవాళ్లనీ చిత్రించడం నాట్యంయొక్క ఉద్దేశ్యం కాదు. దానస్నానాదులు ధర్మం; హింస, చౌర్యం మొదలైనది అధర్మం. ధర్మం ఆచరించినవాడు, అతడు సురుడైనా అసురుడైనా సుఖం పొందుతాడు. అధర్మం చేసినవాడు కష్టాల పాలవుతాడు అని బోధించడమే నాట్యం ఉద్దేశించిన పని. "ప్రతీ ఒక్కడు తాను చేసిన కర్మను, తన భావాన్నీ, తాను పుట్టిన జాతిదేశాదులను పట్టి ప్రవర్తిస్తాడు, ఫలం అనుభవిస్తాడు" అని మాత్రమే నాట్యం బోధిస్తుంది.

నాట్యస్వరూపం ఏమో తెలుపుట

మూ. నైకాన్తతోఽత్ర భవతాం దేవానాం చానుభావనమ్,
త్రైలోక్యస్యాస్య సర్వస్య నాట్యం భావానుకీర్తనమ్. **107**

తా. ఈ నాట్యంలో కేవలం మీకు సంబంధించిన విషయాలు తెలపడం కాని, సురులకు సంబంధించిన విషయాలు తెలపడం కాని ఉద్దిష్టం కాదు. నాట్యం మూడు లోకాలలో నివసించే స్వరూపస్వభావాలను చిత్రీకరిస్తుంది. ప్రత్యక్షంగా జరుగుతున్నట్లు చూపి ప్రేక్షకుల హృదయాలలో ఆ అనుభవాలను రేకెత్తిస్తుంది.

మూ. క్వచిద్ధర్మః క్వచిత్క్రీడా, క్వచిదర్థః, క్వచిచ్ఛమః,
క్వచిద్ధాస్యం, క్వచిద్యుద్ధం, క్వచిత్కామః, క్వచిద్వధః. **108**

తా. నాట్యంలోని కొన్ని ఘట్టాలలో ధర్మం ప్రదర్శింపబడుతుంది; ఒక చోట ఆటలు, ఒకచోట అర్థం (ధనదాన్యాదిసంపద), ఒక చోట హాస్యం, మరొక చోట యుద్ధం, వేరొక చోట కామం, ఒకచోట వధ చిత్రింపబడతాయి.

మూ. ధర్మో ధర్మప్రవృత్తానాం కామః కామోపసేవినామ్,
నిగ్రహో దుర్వినీతానాం వినీతానాం దమక్రియా. 109

తా. ధర్మప్రవృత్తిగలవాళ్ల ధర్మాచరణ, కామాలు అనుభవించేవాళ్ల కామోపభోగమూ, దుర్మార్గుల నిగ్రహమూ, వినీతుల (ఇంద్రియనిగ్రహవంతుల) శమపూర్వక మైన ప్రవర్తన - ఇవన్నీ నాట్యంలో ప్రయోగింపబడతాయి (ప్రదర్శింపబడతాయి).

మూ. క్లీబానాం ధార్ష్ట్యజననముత్సాహః శూరమానినామ్,
అబుధానాం విబోధశ్చ వైదుష్యం విదుషామపి. 110

తా. నపుంసకులలో ధార్ష్ట్యాన్ని (హాస్యాన్ని) పుట్టించడమూ, శూరులైన ఆత్మాభిమానవంతుల ఉత్సాహము, తెలివితక్కువవాళ్లు తెలిసికొనేటట్లు చేయడము, విద్వాంసుల వైదుష్యమూ - ఇవన్నీ నాట్యంలో ప్రయోగింపబడతాయి.

మూ. ఈశ్వరాణాం విలాసశ్చ స్థైర్యం దుఃఖార్దితస్య చ,
అర్థోపజీవినామర్థో ధృతిరుద్విగ్నచేతసామ్. 111

తా. ప్రభువుల విలాసలు, దుఃఖపీడితుల మానసికస్థైర్యము, అర్థసంపాదనకోసం జీవించేవాళ్ల అర్థమూ, (అర్థసంపాదనావిధానము) దిగులు చెందిన మనస్సులు కలవాళ్ల ధృతి (ధైర్యము) ప్రయోగింపబడతాయి.

మూ. నానాభావోపసంపన్నం నానావస్థాన్తరాత్మకమ్,
లోకవృత్తానుకరణం నాట్యమేతన్మయా కృతమ్. 112

తా. నేను రచించిన ఈ నాట్యంలో లోకప్రవృత్తి, ఎన్నో విధా లైన మానవాదుల ప్రవర్తన అనుకరించబడుతుంది; ప్రదర్శింపబడుతుంది. దీనిలో అనేకవిధాలైన భావాలు, అనేకవిధాలైన అవస్థలు పుష్కలంగా ప్రదర్శింపబడతాయి.

మూ. ఉత్తమాధమమధ్యానాం నరాణాం కర్మసంశ్రయమ్,
హితోపదేశజననం ధృతిక్రీడాసుఖాదికృత్. 113

తా. సమాజంలో కొందరు ఉత్తము లుంటారు. కొందరు మధ్యము లుంటారు; కొందరు అధములు ఉంటారు. అలాంటివాళ్లు చేసే పనులను, వాళ్ల ప్రవర్తనాదులను ఆశ్రయించుకొని ఉంటుంది నాట్యం. హితం ఉపదేశిస్తుంది. ధైర్యం కలగజేస్తుంది. కొందరికి క్రీడగా, వినోదం కలిగించే ఆటగా, ఉంటుంది. సుఖం మొదలైన వాటిని కలిగిస్తుంది.

మూ. (ఏతద్రసేషు భావేషు సర్వకర్మక్రియాస్వథ,
సర్వోపదేశజననం నాట్యం లోకే భవిష్యతి).

తా. (లోకంలో ఈ నాట్యం రసాల విషయంలోను, భావాల విషయంలోను, అన్ని విధాలైన కర్మల (పనుల) ఆచరణ విషయంలోను అందరికీ ఉపదేశం చేస్తుంది).

మూ. దుఃఖార్తానాం శ్రమార్తానాం శోకార్తానాం తపస్వినామ్,
విశ్రాన్తిజననం కాలే నాట్యమేతద్భవిష్యతి. 114

తా. వ్యాధ్యాదులవల్ల కలిగిన దుఃఖంతో బాధపడుతున్నవారికీ, దూరగమనం మొదలైన శ్రమతో బాధపడుతున్నవారికీ, ఇష్టజనమరణాదులవల్ల కలిగిన శోకంతో బాధపడుతున్నవారికీ, ఉపవాస - కృచ్ఛ్రచాంద్రాయణాదివ్రతాలతో అలసిపోయిన మునులకు తగు సమయాలలో నాట్యం విశ్రాంతిని కలిగిస్తుంది.

మూ. ధర్మ్యం యశస్యమాయుష్యం హితం బుద్ధివివర్ధనమ్,
లోకోపదేశజననం నాట్యమేతద్భవిష్యతి. 115

తా. నాట్యం ధార్మిక ప్రవృత్తిని కలిగిస్తుంది. యశస్సును ఇస్తుంది. ఆయుర్దాయం పెంచుతుంది. హితోపదేశం చేస్తుంది. బుద్ధిని పెంచుతుంది. లోకం పోకడను తెలుపుతుంది.

మూ. న తద్ జ్ఞానం న తచ్ఛిల్పం న సా విద్యా న సా కలా,
నాసౌ యోగో న తత్కర్మ నాట్యేఽస్మిన్ యన్న దృశ్యతే. 116

తా. నాట్యంలో ప్రదర్శింపబడని జ్ఞానం లేదు; శిల్పం లేదు; విద్య లేదు; కళ లేదు; యోగం లేదు. కర్మ లేదు.

వి. జ్ఞానం = ఆత్మజ్ఞానాదికం. శిల్పం = మాలా - చిత్ర - పుత్తలికా (బొమ్మ)ది రచన. విద్య = దండనీతి మొ; కళ = సంగీత - వాద్యాదికం. యోగం = వీటిలో కొన్నింటిని మేళవించడం. కర్మ = యుద్ధ - మల్లయుద్ధాదికం.

మూ. తన్నాత్ర మన్యుః కర్తవ్యో భవద్భిరమరాన్ ప్రతి,
సప్తద్వీపానుకరణం నాట్యమేతద్భవిష్యతి. 117
(యేనానుకరణం నాట్యమేతత్తద్యన్మయా కృతమ్).

తా. అందుచేత మీకు దేవతలమీద కోపం కలగకూడదు. ఏడు ద్వీపాలలోని విషయాల అనుకరణం ఈ నాట్యంలో ఉంటుంది. (ఎందువల్ల ననగా నేను రచించిన ఈ నాట్యం అనుకరణప్రధాన మైనది).

మూ. దేవానామసురాణాం చ రాజ్ఞామథ కుటుమ్బినామ్,
బ్రహ్మర్షీణాం చ విజ్ఞేయం నాట్యవృత్తాన్తదర్శకమ్. 118

తా. దేవతలు, అసురులు, రాజులు, కుటుంబాలు, బ్రహ్మర్షులు - వీళ్ల అందరి వృత్తాంతాలను చరిత్రలను ఈ నాట్యం ప్రదర్శిస్తుంది.

మూ. యోఽయం స్వభావో లోకస్య సుఖదుఃఖసమన్వితః,
సోఽఙ్గాద్యభినయోపేతః నాట్యమిత్యభిధీయతే. 119

తా. నాట్యం అంటే ఏమనగా - సుఖదుఃఖాదులతో నిండిన లోకుల స్వభావాన్నే (జీవనవిధానాదులనే) అంగాభినయాదులతో ప్రదర్శిస్తే అది 'నాట్యం' అంటారు.

మూ. (వేదవిద్యేతిహాసానామాఖ్యానపరికల్పనమ్,
వినోదకరణం లోకే నాట్యమేతద్భవిష్యతి.
శ్రుతిస్మృతిసదాచారపరిశేషార్థకల్పనమ్,
వినోదజననం లోకే నాట్యమేతద్భవిష్యతి.)

తా. (ఈ నాట్యంలో వేదములు, ఇతరవిద్యలు, ఇతిహాసములు - వీటినుండి అఖ్యానాల కల్పన చేయబడుతుంది. ఈ విధంగా ఇది వినోదసాధనంగా లోకంలో ఉంటుంది.

శ్రుతులలోను, స్మతులలోను ఉన్న విషయాలను, సదాచారంతో సంబంధించిన విషయాలను, ఇంకా మిగిలిన ఇతరవిషయాలను కూర్చడంచేత నాట్యం వినోదకరం అవుతుంది).

రంగదేవతాపూజ చెయ్యా లని బ్రహ్మదేవుడు చెప్పుట

మూ. ఏతస్మిన్నన్తరే దేవాన్ సర్వానాహ పితామహః,
క్రియతామద్య విధివద్యజనం నాట్యమణ్డపే. 120

తా. ఈ మధ్యలో పితామహుడు దేవతలతో - "ఇప్పుడు నాట్యమండపంలో యథాశాస్త్రంగా పూజలు నిర్వహించాలి" అన్నాడు.

మూ. బలిప్రదానైర్హోమైశ్చ మన్త్రౌషధిసమన్వితైః,
భోజ్యైర్భక్ష్యైశ్చ పానైశ్చ బలిః సముపకల్ప్యతామ్. 121

తా. మంత్రాలతోను ఓషధులతోను కూడిన బలిప్రదానములచేత, హోమాలచేత, భోజ్యములచేత, భక్ష్యములచేత, పానీయములచేత పూజలు ఏర్పరచాలి.

వి. బలి = అనేకవిధా లైన రంగులు పూసిన తండులాదులు. హోమం = తిలాదులు అగ్నిలో ఉంచడం. భోజ్యం = నమిలి తినే గట్టి పదార్థం. భక్ష్యం = పాయసం, పొంగలి మొ. పానం = పాలు, చెరకురసం, ద్రాక్షారసం మొ. "**బల్యన్తే ఆప్యాయ్యన్తే దేవతాః**

అనేన ఇతి బలిః" అని వ్యుత్పత్తి. "దేనిచేత దేవతలకు సంతృప్తి కలిగింపబడుతుందో అది బలి" అని బలిశబ్దానికి సాధారణమైన (general) అర్థం.

మూ. మర్త్యలోకగతాః సర్వే శుభాం పూజామవాప్స్యథ.
(మర్త్యలోకేష్వయం వేదః శుభాం పూజామవాప్స్యతి)
అపూజయిత్వా రఙ్గం తు నైవ ప్రేక్షాం ప్రవర్తయేత్. 122

తా. మీరందరూ మర్త్యలోకానికి వెళ్లి శుభమైన పూజను పొందగలరు. ("ఈ నాట్య వేదం మర్త్యలోకాలలో అనగా భూలోకనివాసులలో, శుభమైన పూజను (ఆదరమును) పొందగలదు") రంగపూజచేయకుండా నాట్యప్రదర్శనం చేయకూడదు.

మూ. అపూజయిత్వా రఙ్గం తు యః ప్రేక్షాం కల్పయిష్యతి,
నిష్ఫలం తస్య తద్ జ్ఞానం తిర్యగ్యోనిం చ యాస్యతి. 123

తా. రంగపూజ చేయకుండా నాట్యప్రదర్శనం చేయించేవాని నాట్యజ్ఞానం అంతా నిష్ఫలం అయిపోతుంది; వాడు పశుపక్ష్యాదిజన్మ ఎత్తుతాడు.

మూ. యజ్ఞేన సంమితం హ్యేతద్రఙ్గదైవతపూజనమ్,
తస్మాత్సర్వప్రయత్నేన కర్తవ్యం నాట్యయోక్తృభిః. 124

తా. రంగదేవతాపూజ యజ్ఞంతో సమాన మైనది. అందుచేత నాట్యప్రయోగం చేసే వాళ్లు అన్ని విధాలా ప్రయత్నించి ఈ రంగపూజ జరిపించాలి.

మూ. నర్తకోఽర్థపతిర్వాపి యః పూజాం న కరిష్యతి,
న కారయత్యన్యైర్వా ప్రాప్నోత్యపచయం తు సః. 125

తా. నర్తకుడు గాని, అర్థపతిగాని, అనగా డబ్బు పెట్టుబడి పెట్టి నాట్యం జరిపించే ధనికుడు గాని, తాను స్వయంగా ఈ పూజలు చేయకపోయినా, ఇతరులచేత చేయించక పోయినా అతడు నష్టపోతాడు.

మూ. యథావిధి యథాదృష్టం యస్తు పూజాం కరిష్యతి,
స లప్స్యతే శుభానర్థాన్ స్వర్గలోకం స యాస్యతి. 126

తా. యథాశాస్త్రంగా ఇతరులు చేస్తూన్నప్పుడు తాను చూచిన విధంగా పూజలు జరిపించేవాడు శుభమైన ప్రయోజనాలను (లాభాలను) పొందుతాడు. స్వర్గలోకానికి వెడతాడు కూడ.

మూ. ఏవముక్త్వా తు భగవాన్ ద్రుహిణః సహ దైవతైః,
రఙ్గపూజాం కురుష్వేతి మామేవం సమచోదయత్. 127

ఇతి భరతీయే నాట్యశాస్త్రే శాస్త్రోత్పత్తిర్నామ ప్రథమోఽధ్యాయః.

తా. ముందుగా దేవతలతో ఇలా చెప్పి దేవతాసహితుడైన బ్రహ్మదేవుడు "రంగపూజ చెయ్యి" అని నన్ను ఆదేశించాడు.

వి. దేనిచేత ప్రేక్షకుల మనస్సులు రంజింపచేయబడతాయో అది రంగం. అనగా నాట్యం. నాట్యప్రయోగానికి ఆధారమైన మండపం కూడ రంగం అని చెప్పబడుతుంది.

పుల్లెల శ్రీరామచంద్రుడు రచించిన బాలానందిని అను భరతనాట్యశాస్త్రాంధ్ర వ్యాఖ్యానంలో నాట్యోత్పత్తి అను ప్రథమాధ్యాయం సమాప్తం.

"త్రిణేత్రపాదాబ్జసదాస్తవో (సమాశ్రయో)ల్లస
త్రసారభాక్స్ఫుటమిహ నాట్యశాసనే,
ప్రవర్తితేయం హృదయే మహాధియాం
ప్రకాశతామభినవగుప్తభారతీ."

– శ్రీమదభినవగుప్తాచార్యాః.

శ్రీః శ్రీః శ్రీః

స
జ
మూ. భ
"భ
తా.
సంబంధ
మూ.
రాబోయే
కోరుచు
మూ.
దానికి
కోరుతు
మూ.
విధానా
మూ.

శ్రీః

ఓం స్వస్తి శ్రీగణేశాయ నమః

అథ షష్ఠోఽధ్యాయః

రసాధ్యాయము

మూ. పూర్వరఙ్గవిధిం శ్రుత్వా పునరాహుర్మహత్తమాః,
భరతం మునయః సర్వే ప్రశ్నాన్ పఞ్చాభిధత్స్వ నః. 1

తా. మహాత్ములైన ఆ మును లందరు పూర్వరంగవిధానం విని భరతమునితో ఇలా అన్నారు – "మహాత్మా! మా ఐదు ప్రశ్నలకు ఉత్తరములు చెప్పుము.

మూ. యే రసా ఇతి పఠ్యన్తే నాట్యే నాట్యవిచక్షణైః,
రసత్వం కేన వై తేషామేతదాఖ్యాతుమర్హసి. 2

తా. (1) నాట్యమునందు మంచి నేర్పుగలవారు. "నాట్యంలో (రూపకాలలో) 'రసాలు' అని అంటూంటారు కదా? వాటికి రసత్వం ఎలా వచ్చిందో, అనగా వాటిని రసాలు అని ఎందుకు అంటారో, మాకు చెప్పుము.

మూ. భావాశ్చైవ కథం ప్రోక్తాః కిం వా తే భావయన్త్యపి,
సంగ్రహం కారికాం చైవ నిరుక్తం చైవ తత్త్వతః. 3

తా. (2) కొన్నింటిని భావా లని ఎందు కంటారు? అవి దేనిని భావింపచేస్తాయి. (3) రసభావాల సంగ్రహమును, (4) కారికను, (5) నిరుక్తమును మాకు విశదీకరింపుము.

మూ. తేషాం తు వచనం శ్రుత్వా మునీనాం భరతో మునిః,
ప్రత్యువాచ పునర్వాక్యం రసభావవికల్పనమ్. 4

తా. భరతముని ఆ మునుల మాటలు విని రసభావాల స్వరూపాన్ని లక్షణాదులను బోధిస్తూ వాళ్లతో ఇలా అన్నాడు.

మూ. అహం వః కథయిష్యామి నిఖిలేన తపోధనాః,
సంగ్రహం కారికాం చైవ నిరుక్తం చ యథాక్రమమ్. 5

తా. తపోధనులారా! రస – భావాదులకు సంబంధించిన సంగ్రహమూ, కారిక, నిరుక్తమూ కూడ క్రమానుసారంగా మీకు చెపుతాను.

మూ. న శక్యమస్య నాట్యస్య గన్తుమన్తం కథంచన,
కస్మాద్ బహుత్వాద్ జ్ఞానానాం శిల్పానాం చాప్యనన్తతః. 6

తా. ఈ నాట్యాన్ని గూర్చి పూర్తిగా తెలిసికొనడానికి ఏ విధంగా నూ కూడ శక్యం కాదు. ఎందువల్ల ననగా – జ్ఞానములు, అనగా వ్యాకరణాదివివిధశాస్త్రాలలో ఉన్న తెలిసికొనదగిన విషయాలు ఎన్నో ఉన్నాయి. చిత్రలేఖనము, పుత్తలికా (బొమ్మలు మొ.) నిర్మాణము మొదలైన శిల్పాలు అనంత మైనవి.

మూ. ఏకస్యాపి న వై శక్యస్త్వన్తో జ్ఞానార్ణవస్య హి,
గన్తుం కిం పునరన్యేషాం జ్ఞానానామర్థతత్త్వతః. 7

తా. ఒక్క జ్ఞాన (విద్యా) సముద్రం కొనలు చూడడమే శక్యం కాని పని; ఇతర జ్ఞానాల (సకలవిద్యల) తత్త్వాన్ని తెలుసుకొంటూ వాటి అంతాలను చూడగలవాడు ఎవ్వడూ ఉండ డని వేరుగా చెప్పాలా!

మూ. కిన్త్వల్పసూత్రగ్రన్థార్థమనుమానప్రసాదకమ్,
నాట్యస్యాస్య ప్రవక్ష్యామి రసభావాదిసంగ్రహమ్. 8

తా. అయినా కూడ అల్పమైన (చిన్నవైన) సూత్రరూపములలో ఉన్న గ్రంథానికి సంబంధించిన విషయాలు తెలిపేదీ, అనగా చిన్న సూత్రాల రూపంలో ఉన్న గ్రంథంలోని విషయా లన్నీ ప్రతిపాదించేదీ, అనుమానప్రమాణం ద్వారా విషయాలను బోధించేదీ, అనగా విషయజ్ఞానానికి ఉపయోగించే అనుమానాలను (inferences) సూచించేదీ అయిన, ఈ నాట్యానికి (రూపకనిర్మాణ ప్రయోగాదులకు) సంబంధించిన రస – భావాదుల సంగ్రహమును మీకు చెపుతాను.

మూ. విస్తరేణోపదిష్టానామర్థానాం సూత్రభాష్యయోః,
నిబన్ధో యః సమాసేన సంగ్రహం తం విదుర్బుధాః. 9

తా. సూత్రాలలోను వాటి భాష్యంలోను (విస్తృతవ్యాఖ్యానంలోను) సవిస్తరంగా చెప్పబడిన విషయాలను సమాసంచేత, అనగా సంక్షిప్తరూపంలో, నిబంధించడం (ఒకచోట కూర్చడం) సంగ్రహం అని పండితు లంటారు. ఇది సంగ్రహానికి లక్షణం.

మూ. రసా భావా హ్యభినయాః ధర్మీ వృత్తిప్రవృత్తయః,
సిద్ధిః స్వరాస్తథాతోద్యం గానం రఙ్గశ్చ సంగ్రహః. 10

తా. రసాలు, భావాలు, అభినయాలు, ధర్మి, వృత్తులు, ప్రవృత్తులు, సిద్ధి, స్వరాలు, ఆతోద్యం, గానం, రంగం – ఇవే నాట్యసంగ్రహం. నాట్యశాస్త్రంలో ఉన్న విషయా లేవో సంగ్రహంగా చెప్పా లంటే ఇవే అని అర్థం.

మూ. అల్పాభిధానేనార్థో యః సమాసేనోచ్యతే బుధైః,
సూత్రతః సాఽను పఠితా కారికార్థప్రదర్శినీ. 11

తా. చాల తక్కువ సంఖ్యలో ఉన్న శబ్దాలతో విస్తృత మైన అర్థాన్ని సమాసంచేత, అనగా సంక్షిప్త రూపంలో. క్రోడీకరించి సూత్రం బోధించగా ఆ సూత్రాన్ని అనుసరించి దానిలో ఇమడ్చిన అర్థాన్ని బోధించేది **కారిక.**

వి. ఈ శ్లోకానికి వ్యాఖ్య వ్రాస్తూ అభినవగుప్తుడు. "అర్థానికీ అనగా చెప్పబడే విషయానికీ, లక్షణరూప మైన సూత్రానికీ, ఆ సూత్రం అర్థాన్ని వివరించే శ్లోకానికీ కూడ కారిక అని పేరు" అన్నాడు. కాని ఆ అర్థం ఈ శ్లోకంలో రావడంలేదు.

మూ. **నానానామాశ్రయోత్పన్నం నిఘణ్టునిగమాన్వితమ్,**
ధాత్వర్థహేతుసంయుక్తం నానాసిద్ధాన్తసాధితమ్. **12**
స్థాపితోఽర్థో భవేద్యత్ర సమాసేనార్థసూచకః,
ధాత్వర్థవచనేనేహ నిరుక్తం తత్ప్రచక్షతే. **13**

తా. ఒక పదం ఏ ధాతువునుండి నిష్పన్న మైనదో దాని అర్థాన్ని చెపుతూ, సంక్షిప్తరూపంలో ఉన్న అర్థాన్ని సూచించే అర్థాన్ని ఏది స్థాపిస్తుందో అది **నిరుక్తం.** ఈ నిరుక్తం అనేకవిధా లైన నామల (సుబంతపదాల) ఆశ్రయంవల్ల ఏర్పడుతుంది. నిఘంటువులకు, వ్యాకరణాదిశాస్త్రాలకు అనుగుణంగా ఉంటుంది. ధాతువుయొక్క అర్థాన్ని హేతువుగా చూపి చెప్పబడుతుంది. అనేకవిధా లైన సిద్ధాంతాల సాహాయ్యంతో నిర్ణయింపబడుతుంది.

వి. ఈ ఘట్టంలోని శ్లోకాలను పట్టి, సంగ్రహం అనగా ఒక శాస్త్రంలోని విషయాలను సూచించే విషయసూచికవంటి దనీ, సూత్రాలలో సంక్షిప్తంగా చెప్పిన విషయాన్ని వివరించేది శ్లోకరూపంలో ఉంటే కారిక అనీ, ఒక పదానికి ఆ అర్థం ఎలా వచ్చిందో దాని మూలధాతువును, నిఘంట్వాదులలో ఉన్న ఆ పదం అర్థాన్నీ, ఇతరశాస్త్ర సిద్ధాంతాలను పరిశీలించి నిర్ణయించేది **నిరుక్తం** అనీ చెప్పినట్లు అర్థం అవుతున్నది. ఇది ఒక పద్ధతి.

అయితే వ్యాకరణశాస్త్రాదులలో సూత్రం, వార్తికం, భాష్యం, సంగ్రహం అను మరొక వ్యాఖ్యానవిధానం ఉంది. చాల తక్కువ పదాలలో అతివిస్తృత మైన విషయాన్ని సూచించేది సూత్రం.

"అల్పాక్షరమసందిగ్ధం సారవద్విశ్వతోముఖమ్,
అస్తోభమనవద్యం చ సూత్రం సూత్రవిదో విదుః."

సూత్రకారుడు చెప్పినవాటిలో ఏవైనా లోపా లుంటే సవరిస్తూ. చెప్పనివాటిని చేరుస్తూ, చెప్పినవాటికి అవసరం అయితే వివరణం ఇస్తూ వ్రాసినదానికి వార్తికం అని పేరు. ఇది శ్లోకరూపంలో ఉండవచ్చు, చిన్న వాక్యాల రూపంలో ఉండవచ్చు.

"ఉక్తానుక్తదురుక్తానాం చిన్తా యత్ర ప్రవర్తతే,

తం గ్రన్థం వార్తికం ప్రాహుర్వార్తికజ్ఞా మనీషిణః."

సూత్రాలవంటి చిన్న చిన్న వాక్యాలలో సూత్రార్థాన్ని వివరిస్తూ, తనలోని పదాల అర్థాలు కూడా వివరించేది **భాష్యం.**

సూత్రార్థో వర్ణ్యతే యత్ర పదైః సూత్రానుకారిభిః,
స్వపదాని చ వర్ణ్యన్తే భాష్యం భాష్యవిదో విదుః.

ఈ లక్షణాలు పాణినిసూత్ర - కాత్యాయనకృత వార్తిక - పతంజలికృత మహాభాష్యాలకు చక్కగా వర్తిస్తాయి. బ్రహ్మసూత్ర - శాంకరభాష్య - సురేశ్వరాచార్యకృత వార్తికాలకు కూడ వర్తిస్తాయిగాని వార్తికాలు భాష్యాలపై వ్రాయబడినవి.

వ్యాకరణశాస్త్రంలో సంగ్రహం అనేది కూడ ఒకటుండేది. సూత్ర - భాష్యాలలో విస్తృతంగా చెప్పిన విషయాలను సంక్షిప్తంగా చెప్పేది **సంగ్రహం.**

"విస్తరేణోపదిష్టానామర్థానాం సూత్రభాష్యయోః,
నిబన్ధో యః సమాసేన సంగ్రహం తం విదుర్బుధాః."

అని దీని లక్షణ. వ్యాడి అనే పండితుడు రచించిన **'సంగ్రహం'** అనేది ఉండేది; అది లభ్యం కాదు.

వైదికవాఙ్మయానికి సంబంధించిన 'నిఘంటు' 'నిరుక్తాలు' ప్రసిద్ధములే. ఇక్కడ చెప్పిన 'నిరుక్తం' నిరుక్తంవంటిదే కాని అది కాదు.

'రసాః భావాః' ఇత్యాదిశ్లోకంలో చెప్పిన సంగ్రహస్వరూపం, కోహలుడు చెప్పిన పదకొండు అంగాల సంగ్రహానికి సరిపడినా, నాట్యశాస్త్రంలోని అంగాలు - మూడు విధాల అభినయం, గీతము, ఆతోద్యము అని ఐదే గాన దీనికి సంబంధించినది కాదు అని అభినవగుప్తుని అభిప్రాయం.

మూ. **సంగ్రహో యో మయా ప్రోక్తః సమాసేన ద్విజోత్తమాః,**
విస్తరం తస్య వక్ష్యామి సనిరుక్తం సకారికమ్. **14**

తా. ద్విజోత్తములారా! నేను మీకు సంక్షిప్తరూపంలో చెప్పిన సంగ్రహానికి సంబంధించిన విస్తరాన్ని, నిరుక్తమును, కారికలను ఇప్పుడు చెపుతాను.

మూ. **శృఙ్గారహాస్యకరుణా రౌద్రవీరభయానకాః,**
బీభత్సాద్భుతసంజ్ఞా చేత్యష్టౌ నాట్యే రసాః. స్మృతాః. **15**

తా. నాట్యంలో శృంగారము, హాస్యము, కరుణ, రౌద్రము, వీరము, భయానకము, భీభత్సము, అద్భుతము అని ఎనిమిది రసాలు చెప్పబడ్డాయి.

మూ. ఏతే హ్యష్టౌ రసాః ప్రోక్తా ద్రుహిణేన మహాత్మనా,
పునశ్చ భావాన్ వక్ష్యామి స్థాయిసఞ్చారిసత్త్వజాన్. 16

తా. మహాత్ముడైన బ్రహ్మదేవుడు ఈ ఎనిమిది రసాలు చెప్పాడు. ఇంకా మీకు స్థాయిభావాలను, సంచారిభావాలను, సాత్త్వికభావాలను చెపుతాను.

స్థాయిభావాలు

మూ. రతిర్హాసశ్చ శోకశ్చ క్రోధోత్సాహౌ భయం తథా,
జుగుప్సా విస్మయశ్చేతి స్థాయిభావాః ప్రకీర్తితాః. 17

తా. (పైన చెప్పిన ఎనిమిది రసాలకు) రతి, హాసం, శోకం, క్రోధం, ఉత్సాహం, భయం, జుగుప్స (ఏవగింపు) విస్మయం (ఆశ్చర్యం) అనేవి వరుసగా ఎనిమిది స్థాయి భావాలు.

మూ. నిర్వేదగ్లానిశఙ్కాఖ్యాస్తథాసూయా మదః శ్రమః,
ఆలస్యం చైవ దైన్యం చ చిన్తా మోహః స్మృతిర్ధృతిః. 18
వ్రీడా చపలతా హర్ష ఆవేగో జడతా తథా,
గర్వో విషాద ఔత్సుక్యం నిద్రాపస్మార ఏవ చ. 19
సుప్తం విబోధోఽమర్షశ్చాప్యవహిత్థమథోగ్రతా,
మతిర్వ్యాధిస్తథోన్మాదస్తథా మరణమేవ చ. 20
త్రాసశ్చైవ వితర్కశ్చ విజ్ఞేయా వ్యభిచారిణః,
త్రయస్త్రింశదమీ భావాః సమాఖ్యాతాస్తు నామతః. 21

తా. నిర్వేదం, గ్లాని, శంక, అసూయ, మదం, శ్రమ, ఆలస్యం (సోమరితనం), దైన్యం, చింత, మోహం, స్మృతి, ధృతి (ధైర్యం), వ్రీడ (సిగ్గు), చపలత్వం, హర్షం, ఆవేగం (మనస్సులో కంగారు), జడత్వం (కదలిక లేకపోవడం), గర్వం, విషాదం, ఔత్సుక్యం, నిద్ర, అపస్మారం (మూర్ఛ), సుప్తం (నిద్ర), విబోధం (మేల్కొనడం) అమర్షం, అవహిత్థం (మనస్సులోని భావాలు దాచుకొనడం), ఉన్మాదం, మరణం, త్రాసం (భయం) వితర్కం (ఊహ) ఇవి వ్యభిచారిభావాలు. ఈ ముప్పైమూడు (33) భావాల పేర్లు చెప్పాను.

వి. వ్యభిచారిభావాలు అన్నా సంచారిభావాలన్నా ఒకటే. ఇవి పర్యాయపదాలు.

మూ. స్తంభః స్వేదోఽథ రోమాఞ్చః స్వరభఙ్గోఽథ వేపథుః,
వైవర్ణ్యమశ్రు ప్రలయ ఇత్యష్టౌ సాత్త్వికాః స్మృతాః. 22

తా. స్తంభం (కొయ్యబారిపోవడం), స్వేదం (చెమటపట్టడం), రోమాంచం, స్వర భంగం (కంఠస్వరం మారిపోవడం), వేపథు (కంపం), వైవర్ణ్యం (ముఖం రంగు

మారిపోవడం), ప్రలయం (సొమ్మసిలడం) ఇవి ఎనిమిది **సాత్త్వికభావాలు** (మనోవికారం వల్ల పుట్టే భావాలు).

మూ. ఆఙ్గికో వాచికశ్చైవ హ్యాహార్యః సాత్త్వికస్తథా,
చత్వారోఽభినయా హ్యేతే విజ్ఞేయా నాట్యసంశ్రయాః. 23

తా. ఆంగికము, వాచికము, ఆహార్యము, సాత్త్వికము అని నాట్యానికి సంబంధించిన అభినయాలు నాలుగు విధాలు.

మూ. లోకధర్మీ నాట్యధర్మీ ధర్మీతి ద్వివిధః స్మృతః,
భారతీ సాత్త్వతీచైవ కైశిక్యారభటీ తథా. 24
చతస్రో వృత్తయో హ్యేతా యాసు నాట్యం ప్రతిష్ఠితమ్.

తా. లోకధర్మి, నాట్యధర్మి అని ధర్మి రెండు విధాలు. భారతి, సాత్త్వతి, కైశికి, ఆరభటి అని వృత్తులు నాలుగు విధాలు. నాట్యం ఈ నాలుగు వృత్తులమీదనే ఆధారపడి ఉన్నది.

మూ. ఆవన్తీ దాక్షిణాత్యా చ తథా చైవౌఢ్రమాగధీ. 25
పాఞ్చాలమధ్యమా చేతి విజ్ఞేయాస్తు ప్రవృత్తయః.

తా. ఆవన్తి, దాక్షిణాత్య (ఆంధ్ర – కర్నాట – ద్రవిడ – కేరల – మహారాష్ట్ర – గుజరాతదేశాలు దాక్షిణాత్యదేశాలు), ఓఢ్రీమాగధి (అర్ధమాగధి), పాంచాలి, మధ్యమ అనేవి ప్రవృత్తులు.

మూ. దైవికీ మానుషీ చైవ సిద్ధిః స్యాత్ ద్వివిధైవ తు. 26

తా. దైవికి, మానుషి అని సిద్ధి రెండు విధాలైనది.

మూ. శారీరాశ్చైవ వైణాశ్చ సప్త షడ్జాదయః స్వరాః,
(నిషాదర్షభగాన్ధారమధ్యపఞ్చమధైవతాః)

తా. శారీరములు, వైణములు అను రెండు భేదములతో షడ్జం మొదలైన స్వరాలు ఏడు. (వాటి పేర్లు నిషాదము, ఋషభము, గాంధారము, మధ్యమము, పంచమము ధైవతము, షడ్జము).

మూ. తతం చైవావనద్ధం చ ఘనం సుషిరమేవ చ. 27
చతుర్విధం చ విజ్ఞేయమాతోద్యం లక్షణాన్వితమ్.

తా. తతము, అవనద్ధము, ఘనము, సుషిరము అని ఆతోద్యం వేరు వేరు లక్షణాలతో నాలుగు విధాలు.

మూ. తతం తన్త్రీగతం జ్ఞేయమవనద్ధం తు పౌష్కరమ్. 28
ఘనస్తు తాలో విజ్ఞేయః సుషిరో వంశ ఏవ చ.

తా. తీగ లున్న వీణాదివాద్యం **తతం.** రెండు ప్రక్కలా లేదా ఒక ప్రక్క చర్మచేత బిగించిన మృదంగాది వాద్యం **అవనద్ధం.** ఇత్తడి తాళాలు మొదలైనవి **ఘనం.** వెదురు వంటివాటితో చేసిన పిల్లనగ్రోవి మొదలైన రంధ్రా లున్న వాద్యం **సుషిరం.**

మూ. ప్రవేశాక్షేపనిష్క్రామప్రాసాదికమథాన్తరమ్. 29
గానం పఞ్చవిధం జ్ఞేయం ధ్రువాయోగసమన్వితమ్.

తా. ధ్రువతో సంబంధించిన గానం ప్రవేశకం, ఆక్షేపం నిష్క్రామం, ప్రాసాదికం, అన్తరం అని ఐదు విధాలు.

వి. రంగప్రవేశం చేస్తూన్న పాత్రల ప్రకృతిని, మనోభావాదులను సూచించే గానం **ప్రవేశికం.** ప్రకృతమైన రసంకంటె భిన్నమైన రసాన్ని దూరంగా ఉంచే గానం **ఆక్షేపం.** పాత్రలు రంగంనుండి నిష్క్రమిస్తూన్నప్పుడు చేసే గానం **నిష్క్రామం.** ప్రవేశించిన పాత్ర యొక్క చిత్తవృత్తిని సామాజికులకు తెలిపే గానం **ప్రాసాదికం.** ప్రవేశ - నిష్క్రమణాల మధ్య చేసే గానం ఆంతరం.

మూ. చతురశ్రో వికృష్టశ్చ రఙ్గస్త్ర్యశ్రశ్చ కీర్తితః. 30

చతురశ్రం, వికృష్టం, త్ర్యశ్రం అని రంగం మూడు విధాలు.

మూ. ఏవమేషోఽల్పసూత్రార్థో నిర్దిష్టో నాట్యసంగ్రహః,
అతఃపరం ప్రవక్ష్యామి సూత్రగ్రన్థవికల్పనమ్. 31

తా. ఈ విధంగా సూత్రాల అల్పార్థమైన నాట్యసంగ్రహం చెప్పాను. ఇటుపైన సూత్రాల వ్యాఖ్యారూప మైన పరీక్షను చెప్పెదను.

మూ. తత్ర రసానేవ తావదభివ్యాఖ్యాస్యామః. న హి రసాదృతే కశ్చిదర్థః ప్రవర్తతే.

తా. ముందుగా రసాలను గూర్చియే విస్తృత మైన వ్యాఖ్య (వివరణం) చేస్తాం. ఎందువల్ల ననగా రసం లేకుండా నాట్యాంగమైన ఏ విషయమూ ప్రవర్తించదు. నడవదు.

రసలక్షణసూత్రం

మూ. తత్ర విభావానుభావవ్యభిచారిసంయోగాద్రసనిష్పత్తిః.

తా. విభావాల, అనుభావాల, వ్యభిచారిభావాల సంయోగంవల్ల రసం నిష్పన్నం అవుతుంది.

వి. ఇది రససిద్ధాంతానికి ఆయువుపట్టు వంటి సూత్రం. దీనిలోని **'సంయోగాత్'** 'నిష్పత్తిః' అను పదాలకు అనేకవిధాల అర్థాలు చెపుతూ అనేకవాదనలు బయలుదేరాయి.

అభినవగుప్తుడు, ఆయనకంటె ముందున్న నాట్యశాస్త్రవ్యాఖ్యాతలు ఈ సూత్రాన్ని, ఎలా వ్యాఖ్యానించాలో, వారి వ్యాఖ్యాభేదాలను పట్టి రసస్వరూపనిరూపణం ఎలా వేరు వేరుగా జరిగిందో **'రససిద్ధాంతం'** అను శీర్షికతో అస్మద్విరచిత **అలంకారశాస్త్రచరిత్రలో** ప్రతిపాదింపబడింది. ఆ భాగం (386 - 407 పేజీలు) యథాతథంగా ఈ షష్ఠాధ్యాయం చివర ఇవ్వబడింది. అందుచేత ఇక్కడ ఈ సూత్రానికి విస్తృతవ్యాఖ్యానం ఏమీ చేయలేదు.

మూ. కో దృష్టాన్తః? అత్రాహ - యథా హి నానావ్యఞ్జనౌషధిద్రవ్యసంయోగాద్రసనిష్పత్తిః తథా నానాభావోపగమాద్రసనిష్పత్తిః. యథా హి గుడాదిభిర్ద్రవ్యైః వ్యఞ్జనైః ఓషధిభిశ్చ షాడబాదయో రసాః నిర్వర్త్యన్తే తథా నానాభావోపగతా అపి స్థాయినః భావాః రసత్వమాప్నువన్తీతి.

తా. విభావాదులు కలవడంవల్ల రసనిష్పత్తి జరుగుతుంది అని చెప్పడానికి దృష్టాంతం ఏమిటి? దీనికి సమాధానం చెపుతున్నారు - అనేక విధాలైన వ్యంజనాలతోను, ఓషధులతోను ఒకద్రవ్యం కలవడంవల్ల (క్రొత్త) రసం (రుచి) ఎలా నిష్పన్నం అవుతుందో అట్లే అనేకవిధా లైన భావాలు వచ్చి స్థాయితో చేరడంవల్ల రసనిష్పత్తి జరుగుతుంది. సూత్రప్రాయంగా ఉన్న ఈ వాక్యాన్నే వ్యాఖ్యానిస్తున్నాడు -

యథాహీతి :- బెల్లం మొదలైన ద్రవ్యాలు వ్యంజనములతోను, నంజులతోను, ఓషధులతోను (ఎలకులు లవంగాలు కుంకుమపువ్వు మొదలైన ఓషధులతోను) కలవడం వల్ల (కలిపి) షాడవం మొదలైన రసాలు తయారు చేయబడతాయో అదే విధంగా అనేక విధాలైన విభావాదిభావాలతో కూడిన స్థాయిభావాలు రసత్వాన్ని పొందుతాయి; రసం అవుతాయి.

వి. మధుర (తియ్యని) తిక్త (చేదైన) ఆమ్ల (పుల్లని) లవణ (ఉప్పని) కటు (కారం) కషాయ (వగరు) రుచులు గల పదార్థాలను కలపగా ఈ ఆరు రుచులకంటె భిన్నమైన రుచి ఏర్పడుతుంది. అదే **షాడబం** అనగా అని **అభినవభారతి.** ప్రధానమైన ఒక గుడం వంటి పదార్థంతో వేరు వేరు రుచులు గల కొన్ని వస్తువులు కొంచెం కొంచెం కలపగా క్రొత్తగా రుచి పుట్టి నట్లు ప్రధానమైన స్థాయిభావంతో ఇతరభావాలు కలుపగా క్రొత్తగా రసం నిష్పన్నమౌతుంది అని అర్థం.

మూ. అత్రాహ - రస ఇతి కః పదార్థః? ఉచ్యతే; ఆస్వాద్యత్వాత్.

తా. 'రసః' అంటున్నావు కదా? ఆ పదానికి అర్థం ఏమిటి? అని అడుగుతున్నాడు. దీనికి సమాధానం చెప్పబడుతూన్నది - ఆస్వాదింపబడుతుంది కాబట్టి ఇది రసం అని చెప్పబడుతున్నది. **"రస్యతే ఇతి రసః"** అని నిరుక్తి చూపినట్లయింది.

మూ. కథమాస్వాద్యతే రసః? **యథాహి నానావ్యఞ్జనసంస్కృతమన్నం భుఞ్జానాః రసానా స్వాదయన్తి సుమనసః పురుషాః, హర్షాదీంశ్చాధిగచ్ఛన్తి తథా నానాభావాభినయవ్యఞ్జి** తాన్ వాగఙ్గసత్త్వోపేతాన్ స్థాయిభావాన్ ఆస్వాదయన్తి సుమనసః ప్రేక్షకాః; హర్షాదీంశ్చా ధిగచ్ఛన్తి. తస్మాన్నాట్యరసా ఇత్యభివ్యాఖ్యాతాః.

తా. (ప్రశ్న) రసం ఎలా ఆస్వాదింప బడుతుంది? (సమాధానం) మంచి మనస్సులతో ఉన్న, అనగా శోకక్రోధాదులు ఏవీ మనస్సులలో లేని, పురుషులు అనేకవిధా లైన వ్యంజనాలతో సంస్కరింపబడిన అన్నం తింటూ రసాలను ఎలా ఆస్వాదిస్తారో, (ఆ రసాలలో ఉన్న భేదాలను, తమ ఇష్టత్వానిష్టత్వాదులను బట్టి) హర్షాదులు పొందుతారో (తమ కిష్టం కాని రసం తగిలితే కొంచెం క్లేశం కూడ పొందవచ్చును గాన హర్షాదీన్ అని 'ఆది' శబ్దం ప్రయోగించాడు) అదే విధంగా సహృదయు లైన ప్రేక్షకులు అనేక విధాలైన భావాల అభినయంచేత వ్యంజింపచేయబడిన వాచిక - ఆంగిక - సాత్త్వికాభినయములతో కూడిన స్థాయిభావాలను ఆస్వాదిస్తారు, హర్షాదులు కూడ పొందుతారు. అందుచేత వీటిని నాట్యరసాలు - నాట్యం ద్వారా నిష్పన్నములైన రసాలు - అని అంటారు.

మూ. అత్రానువంశ్యౌ శ్లోకౌ **భవతః.**

యథా బహుద్రవ్యయుతైర్వ్యఞ్జనైర్బహుభిర్యుతమ్,
ఆస్వాదయన్తి భుఞ్జానా భక్తం భక్తవిదో జనాః. **32**
భావాభినయసంబద్ధాన్ స్థాయిభావాంస్తథా బుధాః,
ఆస్వాదయన్తి మనసా తస్మాన్నాట్యరసాః స్మృతాః. **33**

తా. ఈ విషయంలో రెండు **అనువంశ్యశ్లోకాలు** ప్రసిద్ధిలో ఉన్నాయి - అనేక ద్రవ్యాలతో చేర్చిన, అనేక వ్యంజనాలతో కలిసిన అన్నమును తింటూ భోజనప్రియులు దానిని ఏ విధంగా ఆస్వాదిస్తారో అదే విధంగా, బుధులు, భావాల అభినయాలతో కూడిన స్థాయిభావాలను మనస్సుతో ఆస్వాదిస్తారు. అందువల్లనే, అనగా దీనికి భావాభినయం ప్రధానకారణం అవడంవల్ల, వీటిని నాట్యరసా లంటారు.

వి. 'వంశో ద్విధా - విద్యయా **జన్మనా** చ' అను అభియుక్తోక్తి ననుసరించి గురు శిష్యపరంపర విద్యావంశం. ఆ విద్యావంశానికి సంబంధించినవి గాన గురుశిష్య పరంపరయా వస్తూన్నవి గాన, ఇలాంటి అజ్ఞాతకర్తృకా లైన ప్రాచీన శ్లోకాలకు **అనువ్యంశ్య** శ్లోకాలు అని పేరు.

మూ. అత్రాహ - **కిం రసేభ్యో భావానామభినిర్వృత్తిః, ఉతాహో భావేభ్యో రసానామితి? కేషాంచిన్మతం పరస్పరసంబన్ధాదేషామభినిర్వృత్తిరితి. తన్న; కస్మాత్? దృశ్యతే హి భావేభ్యో రసానామభినిర్వృత్తిః న తు రసేభ్యో భావానామభినిర్వృత్తిరితి.**

తా. ఇక్కడ ఇలా ప్రశ్నిస్తున్నాడు - రసాలనుండి భావాలు ఏర్పడతాయా; లేక భావాల నుండి రసాలు ఏర్పడతాయా? రసభావాలకు పరస్పరం సంబంధంచేత, కలవడంచేత, ఇవి ఏర్పడతాయి, (అనగా రసాలతో సంబంధించి భావాలు, భావాలతో సంబంధించి రసాలు పుడతాయి) అని కొంద రంటారు. అది యుక్తం కాదు. ఎందువల్ల? భావాలనుండి రసాల ఉత్పత్తి కనబడుతూన్నది కాని రసాలనుండి భావాల ఉత్పత్తి కనబడడంలేదు కదా?

మూ. భవన్తి చాత్ర శ్లోకాః -
నానాభినయసంబన్ధాన్భావయన్తి రసానిమాన్,
యస్మాత్తస్మాదమీ భావా విజ్ఞేయా నాట్యయోక్తృభిః. **34**

తా. ఈ విషయంలో కొన్ని అనువంశ్యశ్లోకా లున్నాయి -

అనేకవిధా లైన అభినయాలతో సంబంధం గల రసాలను భావింపజేస్తాయి కాబట్టి వీటిని 'భావాలు' అని నాట్యప్రయోక్తలు తెలుసుకోవాలి.

వి. అనగా **"భావయన్తి రసానితి భావాః"** - ఏవి రసాలను భావింపచేస్తాయో అవి భావాలు అను వ్యుత్పత్తిచేత భావాలే రసాల ఉత్పత్తికి హేతువులు అని అర్థం.

మూ. నానాద్రవ్యైర్బహువిధైర్వ్యఞ్జనం **భావ్యతే యథా,**
ఏవం భావా **భావయన్తి** రసానభినయైః **సహ.** **35**

తా. ఎన్నో రకా లైన అనేకద్రవ్యాలచేత ఏ విధంగా వ్యంజనం భావింపబడుతుందో అట్లే భావాలు, అభినయాలతో కలిసి రసాలను భావింపచేస్తాయి.

వి. భవనం అనగా ఉండడం; పుట్టడం. **భావనం** అనగా ఉండే టట్లు, పుట్టే టట్లు, చెయ్యడం. భావయన్తి = రసాన్ని ఉండే టట్లు, పుట్టే టట్లు చేస్తాయి. అందుచేత వాటి కా పేరు అని అర్థం. అస లంటూ ముందుగా భావా లుండాలి. ఆ వివిధభావాలను (విభావానుభావవ్యభిచారిభావాలను) ఒక్క సందర్భంలో చతుర్విధాభినయాల ద్వారా ఆవిష్కరిస్తే అప్పుడు రసోదయం అవుతుంది.

'భావన' శబ్దానికి సంస్కరించడం అను అర్థం కూడ ఉంది. ఒక వస్తువులో అంతకు పూర్వం లేని ఒక మంచి గుణాన్ని పుట్టించడం సంస్కారం. పాయసంలో ఏలకుల పొడి, కుంకుమపువ్వు మొదలైనవి వేయడంవంటిది. ఒక విధమైన వ్యభిచారి భావాదులవల్ల పూర్వమే జనించి ఉన్న రసానికి ఒక విధమైన సంస్కారం చేసిన ట్లవుతుంది గాన ఆ అర్థంలో కూడ అన్వయించవచ్చును గాని మొదటి అర్థమే యుక్తతర మైనది.

వ్యంజనం అనగా ఏదైన ఒక ప్రధానమైన ఆహారపదార్థం తింటూన్నప్పుడు దానిలో కొంత రుచి పుట్టించడానికి మధ్య మధ్య నలుచుకొనే పచ్చడి, కూర మొదలైనది; నంజు;

అని అర్థం. ప్రకృత శ్లోకంలో - "బహువిధద్రవ్యాల కలయికచే వ్యంజనం పుడుతుంది" అన్నప్పుడు 'వ్యంజనం' అనగా క్రొత్త రుచి అని అర్థం గ్రహించాలి.

మూ. న భావహీనోఽస్తి రసో న భావో రసవర్జితః,
పరస్పరకృతా సిద్ధిస్తయోరభినయే భవేత్. 36

తా. భావం లేని రసం ఉండదు; రసం లేని భావం ఉండదు. అభినయంలో, (ఇక్కడ అభినయం అనగా నాట్యం అని అర్థం), నాట్యంలో, రస - భావాలు రెండింటి మొత్తం పట్ల పరస్పరసంబంధంచేత జరుగుతుంది.

మూ. వ్యఞ్జనౌషధిసంయోగో యథాన్నం స్వాదుతాం నయేత్,
ఏవం భావా రసాశ్చైవ భావయన్తి పరస్పరమ్. 37

తా. వ్యంజనాలు, ఓషధులు కలపడంవల్ల అన్నంలో రుచి పుట్టి నట్లు భావాలు రసాలూ కూడ పరస్పరమూ భావింపచేస్తుంటాయి.

వి. 'భావయన్తి' అనుదానికి ఇక్కడ, 'భావన' శబ్దానికి, పైశ్లోకవ్యాఖ్యానంలో చెప్పిన రెండవ అర్థం కూడ వర్తిస్తుంది.

మూ. యథా బీజాద్భవేద్వృక్షో వృక్షాత్పుష్పం ఫలం యథా,
తథా మూలం రసాః సర్వే తేభ్యో భావా వ్యవస్థితాః. 38

తా. బీజంనుండి వృక్షం ఎలా పుడుతుందో, వృక్షంనుండి పుష్పమూ ఫలమూ ఎలా పుడతాయో అదే విధంగా రసాలే అన్నింటికీ మూలం. అందుచేత రసాలవల్లనే భావాలు ఏర్పడతాయి.

వి. భావాలవల్ల రసాలు పుడతాయి అని అన్నట్లయితే "న హి రసాదృతే కశ్చిదప్యర్థః ప్రవర్తతే; తేన పూర్వం త ఏవోద్దేశ్యాః" (రసం లేకపోతే ఇతరమైన వేవీ లేవు; అందుచేత ముందుగా రసాలనే చెప్పాలి అని వెనుక చెప్పినదానికి ఇది విరుద్ధం కదా అని ఆశం తలంచుకొని - మొదట విత్తునుండి పుట్టిన చెట్టునుండే చివరికి పుష్పం ద్వారా ఫలరూపమైన మరొక విత్తనం పుట్టినట్లు, రసం అను విత్తనంనుండి క్రమంగా పుట్టిన భావాలే మళ్లీ రసానికి విత్తనాల వలె పనిచేస్తాయి అని ఈ శ్లోకంలో చెప్పబడింది. అనగా నిగూఢంగా నైనా రసాస్వాదార్హత లేని వానికి ఏ భావాలూ పుట్టవు; రసం అసలే పుట్టదు అని భావం.

మూ. తదేషాం రసానాముత్పత్తివర్ణదైవతనిదర్శనాన్యభివ్యాఖ్యాస్యామః, తేషాముత్పత్తిహేతవశ్చత్వారో రసాః, తద్యథా శృఙ్గారో, రౌద్రో, వీరో, బీభత్స ఇతి. అత్ర -

తా. ఇక ఈ రసాల ఉత్పత్తి, వర్ణాలు, దేవతలు, ఉదాహరణలు - వీటి వ్యాఖ్య

(విస్తృత ప్రతిపాదనం) చేస్తాం. (నాలుగు రసాల ఉత్పత్తికి నాలుగు రసాలు కారణం. అదెట్లనగా - శృంగారం, రౌద్రం, వీరం, బీభత్సం - (ఇవి కారణరసాలు). వీటిలో -

మూ. శృఙ్గారాద్ధి భవేద్ధాస్యో రౌద్రాచ్చ కరుణో రసః,
వీరాచ్చైవాద్భుతోత్పత్తిః బీభత్సాచ్చ భయానకః. 39

తా. శృంగారరసంనుండి హాస్యరసం పుడుతుంది. రౌద్రంనుండి కరుణ, వీరంనుండి అద్భుతం, బీభత్సంనుండి భయానకమూ పుడతాయి.

మూ. శృఙ్గారానుకృతిర్యా తు స హాస్యస్తు ప్రకీర్తితః,
రౌద్రస్యైవ చ యత్కర్మ స జ్ఞేయః కరుణో రసః. 40
వీరస్యాపి చ యత్కర్మ సోఽద్భుతః పరికీర్తితః,
బీభత్సదర్శనం యచ్చ జ్ఞేయః స తు భయానకః. 41

తా. శృంగారాన్ని అనుకరిస్తే అది హాస్యం అవుతుంది. రౌద్రరసం కర్మ (దాని పని) కరుణరసం. వీరరసం కర్మ అద్భుతరసం. బీభత్సాన్ని చూపడం భయానకం.

మూ. శ్యామో భవతి శృఙ్గారః సితో హాస్యః ప్రకీర్తితః,
కపోతః కరుణశ్చైవ రక్తో రౌద్రః ప్రకీర్తితః. 42
గౌరో వీరస్తు విజ్ఞేయః కృష్ణశ్చైవ భయానకః,
నీలవర్ణస్తు బీభత్సః పీతశ్చైవాద్భుతః స్మృతః. 43

తా. శృంగారం చామనచాయతో ఉంటుంది. హాస్యం తెల్లగాను, కరుణ పావురం రంగుతోను, రౌద్రం ఎఱ్ఱగాను, వీరం పసుపు కలిసిన తెలుపువర్ణంతోను (బంగారం రంగు) భయానకం నల్లగాను, బీభత్సం నీలంగాను, అద్భుతం పచ్చగాను ఉంటాయి.

వి. ఆ యా రసాలను ధ్యానించడానికై ఈ రంగుల చెప్పబడ్డాయి. (అ.భా.)

మూ. శృఙ్గారో విష్ణుదేవత్యో హాస్యః ప్రమథదైవతః,
రౌద్రో రుద్రాధిదైవత్యః కరుణో యమదైవతః. 44
బీభత్సస్య మహాకాలః కాలదేవో భయానకః,
వీరో మహేన్ద్రదేవః స్యాదద్భుతో బ్రహ్మదైవతః. 45

తా. శృంగారానికి అధిష్ఠానదేవత విష్ణువు. హాస్యానికి ప్రమథగణాలు. రౌద్రానికి రుద్రుడు. కరుణకు యముడు. బీభత్సానికి మహాకాలుడు. భయానకానికి కాలదేవత. వీరానికి మహేంద్రుడు. అద్భుతానికి బ్రహ్మదేవుడు.

వి. ఆ యా రసాల సిద్ధికై పూజలు నిర్వర్తించి నపుడు పూజించవలసిన దేవతలు వీరు. (అ.భా.)

మూ. ఏవమేతేషాం రసానాముత్పత్తివర్ణదైవతాన్యభివ్యాఖ్యాతాని. ఇదానీమన్నుభావవిభావ వ్యభిచారిసంయుక్తానాం లక్షణనిదర్శనాన్యభివ్యాఖ్యాస్యామః. స్థాయిభావాంశ్చ రసత్వముప నేష్యామః.

తా. ఈ విధంగా ఈ రసాల ఉత్పత్తి - వర్ణ - అధిష్ఠానదేవతలను చెప్పాం. ఇప్పుడు అనుభావ - విభావ - వ్యభిచారిభావాలతో కూడిన రసాల లక్షణాలను, ఉదాహరణలను వ్యాఖ్యానించెదము. స్థాయిభావాలు ఎలా రసా లవుతాయో ప్రతిపాదిస్తాం.

అథ శృఙ్గారరసప్రకరణమ్

మూ. తత్ర శృఙ్గారో నామ రతిస్థాయిభావప్రభవః. ఉజ్జ్వలవేషాత్మకః. యత్కించిల్లోకే శుచి మేధ్యమ్, ఉజ్జ్వలం, దర్శనీయం వా తత్ శృఙ్గారేణోపమీయతే. యస్తావదుజ్జ్వలవేషః స శృఙ్గారవానిత్యుచ్యతే. యథా చ గోత్రకులాచారోత్పన్నాని, ఆప్తోపదేశసిద్ధాని పుంసాం నామాని భవన్తి తథైవేషాం రసానాం భావానాం చ నాట్యాశ్రితానాం చార్థానామ్ ఆచారోత్పన్నాని ఆప్తోపదేశసిద్ధాని నామాని. ఏవమేష ఆచారసిద్ధో హృద్యోజ్జ్వలవేషాత్మకత్వాత్ శృఙ్గారో రసః. స చ స్త్రీపురుషహేతుక ఉత్తమయువప్రకృతిః.

తా. వాటిలో శృంగారం అనేది రతి అను స్థాయిభావంనుండి పుట్టినది. ఉజ్జ్వలమైన అనగా ప్రకాశించే, మెరిసిపోయే ఆకర్షక మైన వేషస్వరూప మైనది. లోకంలో శుభ్రము, పవిత్రము, ప్రకాశించేది, చూడ ముచ్చట గొల్పేది అయిన ఏ వస్తువైనా దానిని శృంగారంతో (శృంగారపురుషునితో) పోలుస్తారు. ఉజ్జ్వల మైన వేషం ధరించినవానిని శృంగారవంతు డంటారు. పురుషులకు గోత్రము, కులము, ఆచారము (ఇంటిలోని సంప్రదాయము) వీటిని పట్టి ఏర్పడినవి, ఆప్తుల ఉపదేశంచేత నిర్ణయింపబడినవీ అయిన పేర్లు ఏ విధంగా ఉంటాయో అదే విధంగా, ఈ రసాలకు, భావాలకు, నాట్యానికి సంబంధించిన ఇతర విషయాలకు కూడ ఆచారం (సంప్రదాయం) ప్రకారం వస్తూన్నవీ, ఆప్తుల ఉపదేశంచేత నిర్ణయింపబడినవి అయిన పేర్లు ఉంటాయి. ఈ విధంగా, ఈ రసం ఉజ్జ్వలవేషస్వరూప మైనది గాన 'శృంగారము' అను పేరు ఆచారసిద్ధ మైనది. దీనికి స్త్రీపురుషులు హేతువు. ఉత్తమప్రకృతి గల యువతీయువకులు దీనికి కారణం.

వి. రసాదులకు ప్రసిద్ధిలో ఉన్న పేర్లన్నీ అతిప్రాచీనకాలంనుంచీ వస్తూన్నవే కాని క్రొత్తగా నాట్యశాస్త్రకారుడు పెట్టినవి కావు అని పై మాటలవల్ల తెలుస్తూన్నది. కొన్ని పేర్లకు శ్రమపడితే వ్యుత్పత్త్యర్థం కనబడవచ్చు గాని అన్నింటికి లభించకపోవచ్చు. శృంగార శబ్దానికి వ్యుత్పత్తి చెప్పడంకోసం ప్రయత్నిస్తూ కొందరు శాస్త్రకారులు - శృంగం అనగా ప్రాధాన్యం; రసాలలో ప్రాధాన్యం పొందినది శృంగారం అని అర్థం చెప్పారు కాని

నాట్యశాస్త్రంలోని ఈ ఘట్టం చూస్తే ఈ పేర్లన్నీ అతిప్రాచీనకాలంనుంచీ వస్తున్నట్లు కనబడుతుంది.

ఈ ఘట్టంలోనే అభినవగుప్తుడు **"రసాదీనాం తచ్ఛాస్త్రవేదివృద్ధవ్యవహారతః నిరూఢాని ప్రాక్తనబ్రహ్మాద్యాప్తప్రణీతాని నామాని"** రసాదుల ఈ పేర్లు ప్రాచీనులైన శాస్త్రకారుల ప్రసిద్ధిని పట్టి రూఢ మైపోయినవి (అనగా వీటికి వ్యుత్పత్తి వెదకడం అనవసరం). ప్రాచీను లైన బ్రహ్మాదు లైన ఆప్తులు ఏర్పరచినవే ఈ పేర్లు" అన్నాడు. 'శృంగ' శబ్దానికి ఏదో మత్వర్థప్రత్యయం చేర్చి అర్థం చెప్పిన ఒక వ్యాఖ్యకారుణ్ణి ఆక్షేపిస్తూ వ్యాకరణ శాస్త్రంలోని **'శృఙ్గవృన్దాభ్యామారకన్'** అను వార్తికాన్ని **'శృఙ్గారభృఙ్గారే'** అను ఉణాది సూత్రాన్ని మరిచి ఇత డిలా వ్రాశాడు అని ఆక్షేపించాడు. (అభినవభారతి).

మూ. తస్య ద్వే అధిష్ఠానే సమ్భోగో విప్రలమ్భశ్చ. తత్ర సంభోగస్తావత్ - ఋతుమాల్యానులేపనాలంకారేష్టజనవిషయవరభవనోపభోగోపవనగమనానుభవనశ్రవణదర్శనక్రీడాలీలాదిభిః విభావైరుత్పద్యతే.

తా. శృంగారరసానికి సంభోగము, విప్రలంభమూ అని రెండు అవస్థలు. వాటిలో సంభోగశృంగారం, ఋతువులు, పుష్పమాలలు, సుగంధద్రవ్యానులేపనములు (మైపూతలు) అలంకారములు, ఇష్టజనుడు (ప్రియుడు లేదా ప్రియురాలు) భోగ్యవస్తువులు, శ్రేష్ఠమైన భవనము, వాటి భోగము, ఉద్యానగమనము, అక్కడ అనుభవించడము, ప్రియుణ్ణి లేదా ప్రియురాలిని గూర్చి శ్రవణము, దర్శనము, క్రీడ, విలాసలు మొదలైన విభావాలచేత పుడుతుంది.

మూ. తస్య నయనచాతుర్య - భ్రూక్షేప - కటాక్ష - సంచార. లలితమధురాఙ్గహార - వాక్యాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. వ్యభిచారిణశ్చ అలస్య - ఔగ్ర్య - జుగుప్సాః వర్జ్యాః.

తా. నేత్రాల నేర్పు, కనుబొమ్మల విరుపు, క్రీకంటి చూపులు, నడక, లలితములు మధురములు అయిన అంగహారములు, మాటలు మొదలైన అనుభావాలతో సంభోగ శృంగారాభినయం చెయ్యాలి. దీనిలో ఆలస్యము, ఉగ్రత్వము, జుగుప్స అను వ్యభిచారి భావాల ప్రయోగం ఉండకూడదు.

మూ. విప్రలమ్భకృతస్తు నిర్వేద - గ్లాని - శఙ్కా - అసూయా - శ్రమ - చిన్తా - ఔత్సుక్య - నిద్రా - స్వప్న - విబోధ - వ్యాధి - ఉన్మాద - అపస్మార - జాడ్య (మోహ) మరణాదిభిః అనుభావైః అభినేతవ్యః.

తా. విప్రలంభశృంగారాన్ని నిర్వేదము, గ్లాని, శంక, అసూయ, శ్రమము, చింత, ఔత్సుక్యము. నిద్ర, స్వప్నము, మేల్కొనడం, వ్యాధి, ఉన్మాదము, అపస్మారము, జడత్వము, మోహము, మరణము మొదలైన అనుభావాలతో అభినయించాలి.

మూ. అత్రాహ - యద్యయం రతిప్రభవః శృఙ్గారః కథమస్య కరుణాశ్రయిణః భావాః భవన్తి? అత్రోచ్యతే. పూర్వమేవాభిహితం సంభోగవిప్రలమ్భకృతః శృఙ్గారః ఇతి. వైశిక శాస్త్రకారైశ్చ దశావస్థోఽభిహితః. తాశ్చ సామాన్యాభినయే వక్ష్యామః.

తా. ఇక్కడ ప్రశ్నిస్తున్నాడు - శృంగారం రతినుండిపుట్టినది కదా; కరుణకు సంబంధించిన భావాలు దీని కెలా ఉంటాయి? సమాధానం చెపుతున్నాం - శృంగారం సంభోగచేత విప్రలంభంచేత (వియోగంచేత) చేయబడుతుంది (కలుగుతుంది) అని పూర్వమే చెప్పాం కదా! అందుచేతనే కామశాస్త్రకారులు దీనిలో (శృంగారంలో) పది అవస్థలు ఉంటాయి అని చెప్పారు. వాటిని గూర్చి సామాన్యాభినయప్రకరణంలో చెపుతాం.

మూ. కరుణస్తు శాప - క్లేశ - వినిపతితేష్టజన - విభవనాశ - వధ - బన్ధసముత్థః నిరపేక్షభావః. ఔత్సుక్యచిన్తాసముత్థః సాపేక్షభావో విప్రలమ్భః. ఏవమన్యః కరుణః అన్యశ్చ విప్రలమ్భ ఇతి. ఏవమేష సర్వభావసంయుక్తః శృఙ్గారో భవతి.

తా. శాపము, క్లేశములు, పడిపోయిన (కష్టాలలో పడిన) ఇష్టజనులు, వైభవ నాశము, వధ, బంధము - వీటివల్ల కలిగిన నిరపేక్షభావం (పూర్తిగా ఆశ వదులు కొనడం) కరుణ. విప్రలభంలో నైతే ఔత్సుక్యంవల్ల చింతవల్ల సాపేక్షభావం (ఎప్పటికైనా ఈ కష్టంనుండి గట్టెక్కుతాం అనే ఆశ) ఉంటుంది. అందుచేత కరుణ వేరు విప్రలంభం వేరు. ఈ విధంగా శృంగారరసంలో అన్ని భావాలకు (వ్యభిచారిభావాలకు) అవకాశం ఉంటుంది.

మూ. అపి చ -

సుఖప్రాయేషు సంపన్నః ఋతుమాల్యాదిసేవకః,
పురుషః ప్రమదాయుక్తః శృఙ్గార ఇతి సంజ్ఞితః. 46

తా. మరొక విషయమేమనగా - సుఖప్రధానము లైనవాటియందు సంపన్నుడు, ఋతువులను, మాల్యాదులను సేవించేవాడు, తగిన ప్రమదతో కూడినవాడు అయిన పురుషుడే శృంగార మని చెప్పబడుచున్నాడు. అనగా పురుషుని ఇలాంటి స్థితి శృంగారము అని భావం.

మూ. అపి చాత్ర సూత్రార్థానువిద్ధే ఆర్యే భవతః -

ఋతుమాల్యాలఙ్కారైః ప్రియజనగాన్ధర్వకావ్యసేవాభిః,
ఉపవనగమనవిహారైః శృఙ్గారరసః సముద్భవతి. 47

నయనవదనప్రసాదైః స్మితమధురవచోధృతిప్రమోదైశ్చ
మధురైశ్చాఙ్గవిహారైస్తస్యాభినయః ప్రయోక్తవ్యః. 48

ఇతి శృఙ్గారరసప్రకరణమ్

తా. ఈ సందర్భంలో - సూత్రార్థంతో సంబంధించిన (సూత్రార్థాన్ని విశదీకరించే) రెండు ఆర్యలు కూడ ఉన్నాయి -

వసంతాదిఋతువులచేత, మాల్యములచేత, అలంకారాలచేత, ప్రియజనులను, సంగీతమును కావ్యములను సేవించడంచేత, అనగా వీటితో దగ్గర సంబంధంచేత, ఉద్యానవనమునకు వెళ్లడంచేత, అక్కడ విహరిండంచేత శృంగారరసం పుడుతుంది.

నేత్రాలు (చూపులు) ముఖము ప్రసన్నంగా ఉండడము, చిరునవ్వు, మధుర మైన మాటలు, మనః స్థైర్యము, మధురమైన అవయవాల కదలికలు - వీటితో శృంగారరసాభినయం చెయ్యాలి.

శృఙ్గారరసప్రకరణం సమాప్తం

అథ హాస్యరసప్రకరణమ్

మూ. అథ హాస్యో నామ హాసస్థాయిభావాత్మకః. స చ వికృతపరవేషాలంకార - ధార్ష్ట్య - లౌల్య - కుహకాసత్ప్రలాప - వ్యఙ్గదర్శన - దోషోదాహరణాదిభిః విభావైః ఉత్పద్యతే. తస్య ఓష్ఠ - నాసా - కపోలస్పన్దన - దృష్టివ్యాకోశ - ఆకుఞ్చన - స్వేద - ఆస్యరాగ - పార్శ్వగ్రహణాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. వ్యభిచారిణశ్చాస్య అవహిత్థా - ఆలస్య - తన్ద్రా - నిద్రా - స్వప్న - ప్రబోధ - అసూయాదయః.

తా. హాసం స్థాయిభావంగా గలది హాస్యరసం. ఇతరుల వికృతవేషము, అలంకారము, ధార్ష్ట్యము (పొగరు), చపలత్వము, కుహకము, చెడ్డ పేలాపన, అంగవికారము మొదలైన వాటిని చూడడం, ఏవైన దోషాలను (నత్తి మొదలైనవి) గూర్చి చెప్పడం మొదలైన విభావాలచేత హాస్యరసం పుడుతుంది. పెదవులు, ముక్కు, చెక్కిళ్లు మొదలైనవాటి స్పందనము (కదలడం), కళ్లు పెద్దవి చేయడం, చిన్నవి చేయడం, చెమట, ముఖం ఎఱ్ఱబడడం. పక్కలు చేతులతో పట్టుకొనడం మొదలైన అనుభవాలచేత అభినయించి హాస్యరసాన్ని ప్రయోగించాలి. అవహిత్థ, అలసత్వము, తంద్ర (బద్ధకం), నిద్ర, స్వప్నం, మేల్కొనడం, అసూయ మొద లైనవి హాస్యానికి వ్యభిచారిభావాలు.

వి. కుహకం అనగా చక్కిలిగింతలుపెట్టడం అని అభినవభారతి. వంచన, మోసం అను అర్థాలు చెపితే బాగుంటుంది.

మూ. ద్వివిధశ్చాయమాత్మస్థః పరస్థశ్చ. యదా స్వయం హసతి తదా ఆత్మస్థః. యదా తు పరం హాసయతి తదా పరస్థః.

తా. ఆత్మస్థము, పరస్థమూ అని హాస్యం రెండు విధాలు. తాను నవ్వినపుడు ఇది ఆత్మస్థం. పరులను నవ్వించి నప్పుడు ఇది పరస్థం.

మూ. అత్రానువంశ్యే ఆర్యే భవతః -

విపరీతాలఙ్కారైర్వికృతాచారాభిధాన వేషైశ్చ,
వికృతైరర్థవిశేషైర్హసతీతి రసః స్మృతో హాస్యః. 49

తా. ఈ విషయంలో రెండు అనువంశ్య ఆర్య లున్నాయి -

విపరీతమైన అలంకారాలచేత, వికృతమైన ఆచారం (ఆచరణ) చేత, పేర్లచేత, వేషాలచేత, వికృతమైన ఆ యా విషయాలచేత, మానవుడు నవ్వుతాడు. అందుచేత అది హాస్య మను రసంగా చెప్పబడింది. ఇది **ఆత్మస్థహాస్యం**.

మూ. వికృతాచారైః వాక్యైః అఙ్గవికారైశ్చ వికృతవేషైశ్చ,
హాసయతి జనం యస్మాత్ తస్మాత్ జ్ఞేయో రసో హాస్యః. 50

తా. వికృతమైన ప్రవర్తనలచేత, వికృతమైన మాటలచేత, అవయవవికారాలచేత వికృత మైన వేషాలు ధరించడంచేత ఇతరులను నవ్వింపచేస్తాడు. ఇది **పరస్థహాస్యం**.

మూ. స్త్రీనీచప్రకృతావేష భూయిష్ఠం దృశ్యతే రసః,
షడ్భేదాశ్చాస్య విజ్ఞేయాః తాంశ్చ వక్ష్యామ్యహం పునః. 51

తా. ఈ రసం తరచు స్త్రీలలోను, నీచప్రకృతి గల మనుషులలోను కనబడు తున్నది. దీనిలో ఆరు భేదా లున్నాయి. వాటిని కూడ నేను చెపుతాను.

మూ. స్మితమథ హసితం విహసితముపహసితం చాపహసితమతిహసితమ్,
ద్వౌ ద్వౌ భేదౌ స్యాతాముత్తమమధ్యాధమప్రకృతౌ. 52

తా. స్మితము, హసితము, విహసితము, ఉపహసితము, అపహసితము, అతిహసితము అను ఆరు విధాల హసితభేదాలలో రెండేసి వరుసగా ఉత్తమ - మధ్యమ - అధమప్రకృతులైన వాళ్లలో ఉంటాయి.

మూ. తత్ర -

స్మితహసితే జ్యేష్ఠానాం మధ్యానాం విహసితోపహసితే చ,
అధమానామపహసితం హ్యతిహసితం చాపి విజ్ఞేయమ్. 53

తా. ఉత్తమప్రకృతి గలవాళ్లకు స్మిత - హసితాలు, మధ్యమప్రకృతి గలవాళ్లకు విహసితోపహసితాలు. అధములకు అపహసిత - అతిహసితాలు ఉంటాయి.

మూ. అత్ర శ్లోకాః -

ఈషద్వికసితైర్గణ్డైః కటాక్షైః సౌష్ఠవాన్వితైః,
అలక్షితద్విజం ధీరముత్తమానాం స్మితం భవేత్. 54

ఉత్ఫుల్లాననేత్రం తు గణ్డైర్వికసితైరథ,
కించిల్లక్షితదన్తం చ హసితం తద్విధీయతే. 55

తా. కొంచెం వికసించిన చెక్కిళ్లతో, చక్కగా అందంగా ఉన్న క్రీగంటి చూపులతో, దంతాలు కనబడకుండగా ధీరంగా గంభీరంగా ఉన్న చిరునవ్వు స్మితం. అది ఉత్తమ ప్రకృతులలో ఉంటుంది.

చెక్కిళ్లు కొంచెం వికసించగా, ధీరంగా ముఖము నేత్రాలూ కూడ బాగా ఉత్ఫుల్లము లువుతాయి (వికసిస్తాయి). దంతాలు కొంచెం పైకి కనబడతాయి. ఇది హసితం. ఇది కూడ ఉత్తప్రకృతులలోనే ఉంటుంది.

మూ. అథ మధ్యమానామ్ -

ఆకుఞ్చితాక్షిగణ్డం యత్సస్వనం మధురం తథా,
కాలాగతం సాస్యరాగం తద్వై విహసితం భవేత్. 56
ఉత్ఫుల్లనాసికం యత్తు జిహ్మదృష్టినిరీక్షితమ్,
నికుఞ్చితాఙ్గకశిరస్తచ్చోపహసితం భవేత్. 57

తా. కళ్లూ గండస్థలాలూ కొంచెం వంగుతాయి. మధురమైన ధ్వని ఉంటుంది. ముఖం ఎఱ్ఱబడుతుంది. తగిన సమయంలో (కారణం ఉంటేనే) వస్తుంది. అది **విహసితం**.

ఏ నవ్వులో ముక్కు వికసిస్తుందో, కంటి చూపు వక్రంగా ఉంటుందో, ఒడలూ శిరస్సూ కూడ వంచబడతాయో అది **ఉపహసితం**.

ఈ రెండు విధాల హాస్యాలూ మధ్యమప్రకృతులవి.

మూ. అథాధమానామ్ :-

అస్థానహసితం యత్తు సాశ్రునేత్రం తథైవ చ,
ఉత్కమ్పితాంసకశిరః తచ్చాపహసితం భవేత్. 58

సంబద్ధం సాశ్రునేత్రం చ వికృష్టస్వరముద్ధతమ్,
కరోపగూఢపార్శ్వం చ తచ్చాతిహసితం భవేత్. 59

తా. కన్నీళ్లతో నిండిన కళ్లతో, బుజాలూ శిరస్సూ ఊగిపోతూ అస్థానంలో, నవ్వకూడని చోట నవ్వే నవ్వు **అపహసితం**.

చాలా హడావిడి చేస్తూ, కళ్లనుండి నీళ్లు కారుతూండగా, కర్ణకఠోరమైన ధ్వనితో రెండు చేతులతో రెండు పార్శ్వాలూ పట్టుకొంటూ బిగ్గరగా నవ్వే నవ్వు **అతిహసితం**. ఈ రెండు విధాలైన హసితములూ కూడ అధమప్రకృతిగలవారిలో కనబడుతాయి.

మూ. హాస్యస్థానాని యాని స్యుః కార్యోత్పన్నాని నాటకే,
ఉత్తమాధమమధ్యానామేవం తాని ప్రయోజయేత్. 60

తా. నాటకంలో ఉత్తమాధమ మధ్యములకు సంబంధించిన హాస్యానికి అవసరం ఏర్పడినప్పుడు వాటిని ఈ విధంగా ప్రయోగించాలి.

మూ. ఇత్యేష స్వసముత్థస్తథా పరసముత్థశ్చ విజ్ఞేయః,
ద్వివిధస్త్రిప్రకృతిగతస్త్ర్యవస్థగతో రసో హాస్యః. 61

ఇతి హాస్యప్రకరణమ్.

తా. ఈ విధంగా స్వసముత్థము, పరసముత్థము అని రెండు విధా లైనదీ, ఉత్తమ మధ్యమ - అధమప్రకృతిగత మవడంచేత త్రిప్రకృతి అయిన మూడు అవస్థలు గల రసం హాస్యం.

వి. ఇతరులకు సంక్రమించని, స్మిత - హసిత - విహసితాలు ఆత్మసముత్థములు. తరులలో సంక్రమించే ఉపహసిత - అపహసిత - అతిహసితాలు పరసముత్థాలు (అభినవభారతి).

హాస్యప్రకరణం సమాప్తం.

అథ కరుణప్రకరణమ్

మూ. అథ కరుణో నామ శోకస్థాయిభావప్రభవః. స చ శాప - క్లేశవినిపతితేష్టజన- ప్రయోగ - విభవనాశ - వధ - బన్ధ - విద్రవ - ఉపఘాత - వ్యసనసంయోగాదిభిః విభావైః సముపజాయతే. తస్య అశ్రుపాత - పరిదేవన - ముఖశోషణ - వైవర్ణ్య - స్రస్తగాత్రతా - నిఃశ్వాస - స్మృతిలోపాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. వ్యభిచారిణశ్చాస్య నిర్వేదగ్లాని - చిన్తా - ఔత్సుక్య - ఆవేగ - భ్రమ - మోహ - శ్రమ భయ - విషాద - దైన్య - వ్యాధి - జడతా - ఉన్మాద - అపస్మార - త్రాస - ఆలస్య మరణ - స్తమ్భ - వేపథు - వైవర్ణ్య - అశ్రు - స్వరభేదాదయః.

తా. కరుణరసం శోకం అను స్థాయిభావంనుండి పుడుతుంది. అది శాపంచేత కష్టాలలో చిక్కుకొన్న లేదా ఏదో కష్టంలో చిక్కుకొన్న ఇష్టజనులు, వియోగం, వైభవనాశం, వధ, బంధము, లోకోపద్రవము తలచినదానికి ఎదురుదెబ్బలు తగలడం, లేదా ఆకస్మికంగా శరీరానికి దెబ్బలు తగలడం, వ్యవసనంతో సంబంధము (వ్యసనం కలగడం) మొదలైన విభావాలచేత కలుగుతుంది. కన్నీళ్లు, విలపించడం, ముఖం ఎండిపోవడం, ముఖం రంగు మారిపోవడం, అవయవాలు జారిపోవడం, నిట్టూర్పు, మరుపు, మొదలైన అనుభావాలచేత దీని అభినయం చెయ్యాలి. దీనికి - నిర్వేదము, గ్లాని, చింత, ఔత్సుక్యం,

ఆవేగం, భ్రమ, మోహం, శ్రమ, భయం, విషాదం, దైన్యం, వ్యాధి, జడత్వం, ఉన్మాదం, మూర్ఛ, త్రాసం (దిగులు), అలసత్వం, మరణం, స్తంభం (కొయ్యబారడం), వణుకు, రంగు మారిపోవడం, కన్నీళ్లు, కంఠస్వరంలో వికారం, మొదలైనవి వ్యభిచారులు.

మూ. అత్రార్యే భవతః -
ఇష్టవధదర్శనాద్వా విప్రియవచనస్య సంశ్రవాద్వాపి,
ఏభిర్భావవిశేషైః కరుణరసో నామ సంభవతి. 62
సస్వనరుదితైర్మోహాగమైశ్చ పరిదేవితైర్విలపితైశ్చ,
అభినేయః కరుణరసో దేహాయాసాభిఘాతైశ్చ. 63

ఇతి కరుణరసప్రకరణం.

తా. ఇష్టులైనవారి వధను చూడడంవల్ల గాని, అప్రియ మైన వార్త వినడంవల్ల గాని, ఈ విధమైన ఇతరమైన భావవిశేషాలవల్ల గాని, (లేదా ఇలాంటి భావవిశేషాలతో,) కరుణ అనే రసం పుడుతుంది. బిగ్గరగా ఏడ్పులచేత మోహం చెందుతూండ డంచేత, పరిదేవితములచేత (దైవాన్నీ, ఇతరులనూ నిందించడంచేత), విలాపాలచేత తన దేహాన్ని ఆయాసపెట్టే రొమ్ము బాదుకొనడం వంటి పనులు చేయడం చేతా కరుణ రసాన్ని అభినయించాలి.

కరుణరసప్రకరణం సమాప్తం.

అథ రౌద్రరసప్రకరణమ్

మూ. అథ రౌద్రో నామ క్రోధస్థాయిభావాత్మకః. రక్షోదానవోద్ధతమనుష్యప్రకృతిః సంగ్రామ హేతుకః. స చ క్రోధ - ఆఘర్షణ - అధిక్షేప - అనృతవచన - ఉపఘాత - వాక్పారుష్య - అభిద్రోహ - మాత్సర్యాదిభిః విభావైః ఉత్పద్యతే. తస్య చ తాడన - పాటన - పీడన - ఛేదన - భేదన - ప్రహరణాహరణ - శస్త్రసంపాత - సంప్రహార - రుధిరాకర్షాద్యాని కర్మాణి. పునశ్చ రక్తనయన - భృకుటీకరణ - దన్తోష్ఠపీడన - గణ్డస్ఫురణ - హస్తాగ్రనిష్పేషాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః.

తా. రౌద్రరసానికి స్థాయిభావం క్రోధం. దీనికి ప్రకృతి (ఆశ్రయం) రాక్షసులు, దానవులు, ఉద్ధతమనుష్యులు (తీవ్రస్వభావం గల భీమసేనాదులు). యుద్ధం దీనికి హేతువు. క్రోధంతో లాగడం, నిందించడం, అసత్యవచనం, దెబ్బతగలడం, పరుష వాక్కులు, ద్రోహము, మాత్సర్యం మొదలైన విభావాలవల్ల పుడుతుంది. కొట్టడం, చీల్చడం, పీడించడం, ఛేదించడం, బద్దలుకొట్టడం, ఆయుధాలు ప్రయోగించడం, ఆయుధాలతో కొట్టడం, రక్తం లాగడం మొదలైన పనులు దీనివల్ల జరుగుతాయి. ఎఱ్ఱని నేత్రాలు, కను

బొమ్మలు విరవడం, దంతాలు పెదవులు బిగించడం, చెక్కిళ్లు కదలడం, అరిచేతులు పిండడం మొదలైన అనుభావాలచేత రౌద్రరసాభినయం చెయ్యాలి.

మూ. భావాశ్చాస్య అసమ్మోహా - ఉత్సాహా - ఆవేగ - అమర్ష - చపలతా - ఔగ్ర్య - గర్వ - స్వేద - వేపథు - రోమాఞ్చ - గద్గదాదయః.

తా. సంమోహం లేకపోవడం, ఉత్సాహము, ఆవేగము, అమర్షము, చపలత, ఉగ్రత్వము, గర్వము, చెమట, వణకు, రోమాంచము, గద్గదస్వరము మొదలైనవి దీనికి సంబంధించిన భావాలు (వ్యభిచారిసాత్త్వికభావాలు).

మూ. అత్రాహ - యదభిహితం రక్షోదానవాదీనాం రౌద్రో రసః - కిమన్యేషాం నాస్తి? ఉచ్యతే. అస్త్యన్యేషామపి రౌద్రో రసః. కింత్వధికారోఽత్ర గృహ్యతే. తే హి స్వభావత ఏవ రౌద్రాః. కస్మాత్? బహుబాహవః, బహుముఖాః, ప్రోద్ధూతవికీర్ణపిఙ్గలశిరోజాః, రక్తోద్వృత్తవిలోచనాః, భీమాసితరూపిణశ్చైవ. యచ్చ కించిత్సమారభన్తే స్వభావచేష్టితం వాగఙ్గాదికం తత్సర్వం రౌద్రమేతేషామ్. శృఙ్గారశ్చ తైః ప్రాయశః ప్రసభం సేవ్యతే. తేషాం చానుకారిణో యే పురుషాః తేషామపి సంగ్రామసంప్రహారకృతః రౌద్రో రసః అనుమన్తవ్యః.

తా. (ప్రశ్న) ఇక్కడ అంటున్నాడు - రౌద్రరసం రాక్షసదానవాదులకు సంబంధించినది అని అంటున్నావు కదా? ఇది ఇతరులలో ఉండదా? (సమాధానం) చెపుతున్నాం; విను. రౌద్రరసం ఇతరులకు కూడా ఉంటుంది. కాని ఈ విషయంలో రాక్షసాదులలో ఉన్న అధికారం (రౌద్రరసానువృత్తి) గ్రహింపబడుతుంది. ఎందువల్ల అనగా వాళ్లు సహజంగా స్వభావంచేతనే రౌద్రులు. ఎందువల్ల? వాళ్లకు చాలా చేతులు, చాలా ముఖాలు, ఉంటాయి. ఎఱ్ఱగా ఉన్న జుట్టు విరమోసికొని ఉంటారు. ఎఱ్ఱని కళ్లు గుడ్లు తిప్పుతూ ఉంటారు. నల్లగా భయంకర మైన రూపాలతో ఉంటారు. వాళ్లు మామూలుగా చేసే పనులు, మాటలు తీరూ కూడ రౌద్రంగానే ఉంటాయి. వాళ్ల శృంగారసేవ కూడ చాల మోటగా ఉంటుంది. వాళ్లను అనుకరించే పురుషులలో కూడ యుద్ధమూ, ఆయుధప్రయోగమూ మొదలైనవాటిచే ఏర్పడు రౌద్రం ఉంటుం దని అంగీకరించాలి; వాళ్లు ఆ విధంగా ప్రవర్తించాలి.

మూ. అత్రానువంశ్యే ఆర్యే భవతః -

యుద్ధప్రహారఘాతనవికృతచ్ఛేదన విదారణైశ్చైవ,
సంగ్రామసంభ్రమాద్యైరేభిః సంజాయతే రౌద్రః. 64

నానాప్రహరణమోక్షైః శిరఃకబన్ధభుజకర్తనైశ్చైవ,
ఏభిశ్చార్థవిశేషైః అస్యాభినయః ప్రయోక్తవ్యః. 65

తా. ఈ సందర్భంలో రెండు అనువంశ్యఆర్యలు ఉన్నాయి.

యుద్ధము, చంపివేయడము, అవయవాలు నరికివేయడము. వికారంగా శరీరం ఛేదించడము, చీల్చివేయడము, యుద్ధంకోసం ఆయుధాలు పట్టడం మొదలైన హడావిడి వీటి అన్నింటిచేతా రౌద్రం పుడుతుంది.

అనేకవిధాలైన ఆయుధాల ప్రయోగంచేత, శిరస్సులను, మొండెములను, భుజాలను ఖండించడంచేత, ఇంకా ఇలాంటి పనులచేత రౌద్రరసాభినయం ప్రయోగించాలి.

మూ. ఇతి రౌద్రరసో దృష్టో రౌద్రవాగఙ్గచేష్టితః,
శస్త్రప్రహారభూయిష్ఠః ఉగ్రకర్మక్రియాత్మకః. 66

ఇతి రౌద్రప్రకరణమ్.

తా. ఈ విధంగా రౌద్రరసం రౌద్రమైన మాటలూ, శారీరచేష్టలు, అధికమైన ఆయుధప్రయోగమూ ఉగ్రమైన పనులు చేయడం అనే స్వరూపంతో కనబడుతుంది.

రౌద్రరసప్రకరణం సమాప్తం.

అథ వీరరసప్రకరణమ్

మూ. అథ వీరో నామ ఉత్తమప్రకృతిః ఉత్సాహాత్మకః. స చ అసంమోహ - అధ్యవసాయ - నయ - వినయ - బల - పరాక్రమ - శక్తి - ప్రతాప - ప్రభావాదిభిః విభావైరుత్పద్యతే. తస్య - స్థైర్య - ధైర్య - శౌర్య - త్యాగ - వైశారద్యాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. భావాశ్చాస్య ధృతి - మతి - గర్వ - ఆవేగ - ఔగ్ర్య - అమర్ష - స్మృతి - రోమాఞ్చాదయః.

తా. వీరరసం ఉత్తమప్రకృతి గలది, ఉత్సాహస్వరూప మైనది. సంమోహం (ఏమి చెయ్యాలో తెలియని స్థితి) లేకపోవడం, నిశ్చితమైన ఆలోచన, నీతి, వినయం, బలం, పరాక్రమం, శక్తి, ప్రతాపం, ప్రభావం ఈ విభావాలవల్ల పుడుతుంది. స్థైర్యం, ధైర్యం, శౌర్యం, త్యాగం, నేర్పుమొదలైన అనుభవాలతో దీని అభినయం ప్రయోగించాలి. ధృతి, మతి, గర్వం, ఆవేశం, ఉగ్రత్వం, అమర్షం (కోపం) స్మృతి, రోమాంచం మొదలైనవి దీని భావాలు (వ్యభిచారి - సాత్త్వికభావాలు).

వి. **అసంమోహాధ్యవసాయం** అనగా యథార్థస్థితిని జాగర్తగా తెలిసికొని నిర్ణయం తీసికొనడం. సంధి మొదలైన షడ్గుణాలను సరిగా ప్రయోగించడం నయం. ఇంద్రియ జయం **వినయం.** చతురంగసైన్యం **బలం.** శత్రుమండలాక్రమణం **పరాక్రమం.** యుద్ధాది సామర్థ్యం శక్తి. శత్రువులను బాధించగలడు అను ప్రసిద్ధి **ప్రతాపం.** అభిజనులు, ధనం, మంత్రులు మొదలైనవాటి సంపత్తి (సమృద్ధి) **ప్రభావం** (అ.భా.).

మూ. అత్రార్యే రసవిచారముఖే :-

ఉత్సాహాధ్యవసాయాదవిషాదిత్వాదవిస్మయామోహాత్,
వివిధాదర్థవిశేషాద్వీరరసో నామ సంభవతి. 67
స్థితిధైర్యవీర్యగర్వైరుత్సాహపరాక్రమప్రభావైశ్చ,
వాక్యైశ్చాక్షేపకృతైర్వీరరసః సమ్యగభినేయః. 68

ఇతి వీరరసప్రకరణమ్

తా. ఈ సందర్భంలో, రసవిచారప్రారంభంలో రెండు సాంప్రదాయికములైన ఆర్యలు - ఉత్సాహము, అధ్యవసాయము, అవిషాదము, అవిస్మయం (చిన్నవిషయానికి కూడ ఆశ్చర్యపడడం విస్మయం. అది లేకపోవడం అవిస్మయం), మోహం లేకపోవడం, ఇలాంటి అనేకవిషయాలవల్ల వీరరసం పుడుతుంది.

స్థితి, ధైర్యము, వీర్యము, గర్వము, ఉత్సాహము, పరాక్రమము, ప్రభావము - వీటితోను, ఆక్షేపించే మాటలతోను వీరరసాన్ని బాగా అభినయించాలి.

వీరరసప్రకరణం సమాప్తం.

అథ భయానకరసప్రకరణమ్

మూ. అథ భయానకో నామ భయస్థాయిభావాత్మకః. స చ వికృతరవ - సత్త్వదర్శన - శివోలూకత్రాసోద్వేగ - శూన్యాగారారణ్యగమన - స్వజనవధబన్ధదర్శన - శ్రుతికథాదిభిర్విభావైరుత్పద్యతే. తస్య ప్రవేపిత కరచరణ - నయనచాపల - పులక - ముఖ - వైవర్ణ్య - స్వరభేదాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. భావాశ్చాస్య స్తమ్భ - స్వేద - గద్గద - రోమాఞ్చ - వేపథు - స్వరభేద - వైవర్ణ్య - శంకా - మోహ - దైన్య - ఆవేగ - చాపల - జడతా - త్రాస - అపస్మార - మరణాదయః.

తా. భయానకరసానికి భయం స్థాయిభావం. వికృతమైన ధ్వని (వినబడడం) పిశాచాదులను చూడడం, నక్కల, గుడ్లగూబల భయంవల్ల ఉద్వేగం, అనగా అవి భయపడి అరుస్తూండగా విని లేదా చూచి ఉద్వేగం చెందుట, శూన్యగృహంలోనికి, శూన్యారణ్యంలోనికి వెళ్లడం, తనవాళ్ల వధను గాని, బంధనాన్ని చూడడం, లేదా వినడం లేదా దాని గూర్చి సంభాషణ - మొదలైనవాటినుండి భయానకరసం పుడుతుంది. చేతులు కాళ్లు వణకిపోవడం, కళ్లు తిరిగిపోవడం, పులకలు, ముఖం రంగు మారిపోవడం, కంఠస్వరం మారిపోవడం మొదలైన అనుభావాలతో దీని అభినయం ప్రయోగించాలి.

స్తంభము, స్వేదము, దగ్గుత్తిక, రోమాంచము, వణుకు - స్వరం మారిపోవడం,

దైన్యం, ఆవేగం (కంగారు), చపలత్వం, జడత, త్రాసము, అపస్మారం, మరణం మొదలైనవి దీని భావాలు (వ్యభిచారి - సాత్త్వికభావాలు).

మూ. అత్రార్యాః-

వికృతరవసత్త్వదర్శనసంగ్రామారణ్యశూన్యగృహగమనాత్,
గురునృపయోరపరాధాత్కృతకశ్చ భయానకో జ్ఞేయః. 69

తా. ఈ విషయంలో మూడు ఆర్య లున్నాయి - వికృతమైనధ్వని (అట్టహాసాదికం) వినబడడం, పిశాచాదులు కనబడడం, యుద్ధరంగంలోకి, శూన్యగృహంలోకి, అరణ్యంలోకి ప్రవేశించడం - వీటివలన భయానకరసం పుడుతుంది. గురువుల (పెద్దవాళ్ల) విషయంలో కాని, రాజు విషయంలో కాని తనవలన ఏదైన అపరాధం జరిగి నప్పుడు చాల భయపడి నట్లు అభినయిస్తే అది కృత్రిమమైన భయానకం.

మూ. గాత్రముఖదృష్టిభేదైరూరుస్తమ్భాభివీక్షణోద్వేగైః,
సన్నముఖశోషహృదయస్పన్దనరోమోద్గమైశ్చ భయమ్. 70

తా. అవయవాలలోను, ముఖంలోను, నేత్రాలలోను మార్పుల చేత, కాళ్లు బిగిసిపోవడంచేత, నాలుగు దిక్కుల వైపూ చూస్తుండడంచేత, ఉద్వేగంచేత (మనస్సులో కంగారుచేత) చిక్కిపోయిన ముఖం ఎండిన ట్లయిపోవడంచేత, గుండె కొట్టుకొనడంచేత, రోమాంచంచేత భయానకాన్ని అభినయించాలి.

మూ. ఏతత్స్వభావజం స్యాత్ సత్త్వసముత్థం తథైవ కర్తవ్యమ్,
పునరేభిరేవ కార్యైః కృతకం మృదుచేష్టితైః కార్యమ్. 71

తా. స్వాభావిక మైన భయం ఈ విధంగా ఉండాలి. పిశాచాదులవల్ల భయం కూడ ఇలాగే అభినయించాలి. కృత్రిమభయం విషయంలో కూడ ఇవే భావాలను ప్రయోగించి అభినయించాలి; అయితే ఆ భావాలు మృదువు లైన చేష్టల ద్వారా చూపాలి.

మూ. కరచరణవేపథుస్తమ్భగాత్రహృదయకమ్పేన,
శుష్కోష్ఠతాలుకణ్ఠైః భయానకో నిత్యమభినేయః. 72

ఇతి భయానకరసప్రకరణమ్.

తా. చేతులు కాళ్లు వణికిపోవడం, దేహం కొయ్యబారిపోవడం, గుండె కొట్టుకొనడం, పెదవులు, చెలివిలు, కంఠము ఎండిపోవడం - వీటితో భయానకరసాన్ని అభినయించాలి.

భయానకప్రకరణం సమాప్తం.

అథ బీభత్సరసప్రకరణమ్

మూ. అథ బీభత్సో నామ జుగుప్సాస్థాయిభావాత్మకః, స చ అహృద్య - అప్రియ - అచోష్య - అనిష్టశ్రవణదర్శనకీర్తనాదిభిః విభావైరుత్పద్యతే. తస్య సర్వాఙ్గ సంహార - ముఖవికూణన - ఉల్లేఖన - నిష్ఠీవన - ఉద్వేజనాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. భావాశ్చాస్య అపస్మారోద్వేగమోహవ్యాధిమరణాదయః.

తా. ఇపుడు జుగుప్స (ఏవగింపు) స్థాయిభావంగా గల బీభత్సం చెప్పబడుచున్నది ఇంపైనవి కానివి, అప్రియములు, తిన తగనివి, అనిష్టములు అయినవాటిని చూడడం, వాటిని గూర్చి వినడం, వాటిని గూర్చి చెప్పుకొనడం మొదలైన విభావాలచేత బీభత్సరసం పుడుతుంది. అన్ని అవయవాలు ముణుచుకొనడం, ముఖం వంకరగా తిప్పడం, చీంద్రించడం, ఉమ్మివేయడం, ఉద్వేజనం (అసహించుకోవడం) మొదలైన అనుభావాలచేత దీనిని అభినయించాలి. అపస్మారం, ఉద్వేగం, ఆవేగం, మోహం, వ్యాధి, మరణం మొదలైనవి దీని భావాలు.

మూ. అత్రానువంశ్యే ఆర్యే భవతః -

అనభిమతదర్శనేన చ గన్ధరసస్పర్శశబ్దదోషైశ్చ,
ఉద్వేజనైశ్చ బహుభిః బీభత్సరసః సముద్భవతి. 73

ముఖనేత్రవికూణనయా నాసాప్రచ్ఛాదనావనమితాస్యైః,
అవ్యక్తపాదపతనైః బీభత్సః సమ్యగభినేయః. 74

ఇతి బీభత్సరసప్రకరణమ్.

తా. ఈ రసం విషయంలో రెండు అనువంశ్యార్య లున్నాయి .

ఇష్టం కాని వస్తువును చూడడంచేత, గంధ - రస - స్పర్శ - శబ్దాలలోని దోషాలచేత అసహ్యం కలిగించే ఇంకా అనేకమైన వస్తువులచేత బీభత్సరసం పుడుతుంది.

ముఖమూ నేత్రాలూ వంకరగా తిప్పడంచేత, ముక్కు కప్పుకొనడంచేత, ముఖం ముందికి వంచుకొనడంచేత నడకలో తొట్రుబాటుచేత బీభత్సరసం బాగా అభినయించాలి.

బీభత్సరసప్రకరణం సమాప్తం.

అథ అద్భుతరసప్రకరణమ్

మూ. అథ అద్భుతో నామ విస్మయస్థాయిభావాత్మకః. స చ దివ్యజనదర్శన - ఈప్సిత మనోరథావాప్తి - ఉపవనదేవకులాదిగమన - సభా - విమాన - మాయా - ఇన్ద్రజాల సంభావనాదిభిః విభావైః ఉత్పద్యతే. తస్య నయనవిస్తార - అనిమిషప్రేక్షణ - రోమాఞ్చ

అశ్రు - స్వేద - హర్ష - సాధువాద - దానప్రబన్ధ - హాహాకార - బాహువదనచేలాఙ్గులి భ్రమణాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. భావాశ్చాస్య స్తమ్భ - అశ్రు - స్వేద - గద్గద - రోమాఞ్చ - ఆవేగ - సంభ్రమ - జడతా - ప్రలయాదయః.

తా. ఇప్పుడు విస్మయం స్థాయిభావంగా గల అద్భుతరసాన్ని గూర్చి చెప్పబడుచున్నది - దివ్యజనుల దర్శనం, అనుకొన్న కోరిక తీరడం, ఉద్యాన - దేవాలయాదులకు వెళ్లడం, సభ - విమానము (అందమైన భవనము) మాయ - ఇంద్రజాలము - ఆదరంతో చేసిన సత్కారము మొదలైన విభావాలచేత అద్భుతరసం ఉత్పన్నం అవుతుంది. కళ్లు పెద్దవిగా చేయడం, రెప్పపాటు లేకుండా చూడడం. రోమాంచం, కన్నీళ్లు, స్వేదము, సంతోషము, 'బాగు బాగు' అనడం, ధనం ఇవ్వడం, నిరంతరంగా ఆహా ఆహా అని బిగ్గరగా అనడం, చేతులు, ముఖము, చేతిలోని వస్త్రము వేళ్లు తిప్పడం మొదలైన అనుభవాలతో అద్భుతరసా భినయం ప్రయోగించాలి. స్తంభము, కన్నీరు, గద్గదస్వరము, రోమాంచము, ఆవేగమూ, సంభ్రమము, జడత్వము ప్రలయము (సంజ్ఞ లేకపోవడం) మొదలైనవి దీని భావాలు.

మూ. అత్రానువంశ్యే అర్యే భవతః -

యత్త్వతిశయార్థయుక్తం వాక్యం శిల్పం చ కర్మరూపం వా,
తత్సర్వమద్భుతరసే విభావరూపం హి విజ్ఞేయమ్. 75

స్పర్శగ్రహోల్లుకసనైః హాహాకారైశ్చ సాధువాదైశ్చ,
వేపథుగద్గదవచనైః స్వేదాద్యైరభినయస్తస్య. 76

ఇత్యద్భుతరసప్రకరణం

తా. ఈ విషయంలో అనువంశ్యార్యలు రెండున్నాయి -

ఏదో ఒక వైశిష్ట్యంతో కూడిన అర్థం గల వాక్కు అందమైన శిల్పము, ప్రశంస నీయమైన కర్మ - ఇవన్నీ అద్భుతరసంలో విభావా లని గ్రహించాలి.

స్పర్శ, గ్రహణము, ఉల్లుకసనము, హాహాకారము, 'బాగుబాగు' అనడము, వణుకు, గద్గరస్వరము. స్వేదము మొదలైనవాటితో అద్భుతరసాన్ని అభినయించాలి.

వి. స్పర్శ :- కళ్లు సగం మూసి, కనుబొమ్మలు పైకి ఎత్తి బుజాలు చెక్కిళ్ల వైపు ఎగరవేయడం (shrugging) స్పర్శ. పారవశ్యంలో ప్రక్కనున్నవాళ్లనో, ఏదైనవస్తువునో పట్టుకొనడం గ్రహం. కూర్చున్నచోటనే త్రుళ్లిపడడం ఉల్లుకసనం.

అద్భుతరస ప్రకరణం సమాప్తం.

రసాలలో మూడేసి విధాలు, అద్భుతంలో రెండు విధాలు

మూ. శృఙ్గారం త్రివిధం విద్యాద్వాఙ్నైపథ్యక్రియాత్మకమ్,
అఙ్గనైపథ్యవాక్యైశ్చ హాస్యరౌద్రౌ త్రిధా స్మృతౌ. **77**

తా. వాక్కు, నైపథ్యం (వేషము), క్రియ (చేష్టలు) అని శృంగారం మూడు విధాలు. అట్లే హాస్యరౌద్రాలు, శరీరచేష్టలు, వేషము - మాటలు - వీటిచేత మూడు విధాలు.

మూ. ధర్మోపఘాతజశ్చైవ తథార్థాపచయోద్భవః,
తథా శోకకృతశ్చైవ కరుణస్త్రివిధః స్మృతః. **78**

తా. ధర్మానికి విఘాతం ఏర్పడడంవల్ల కలిగినది, ధనం తరిగిపోవడంవల్ల, లేదా అనుకొన్న ప్రయోజనానికి లోపం కలగడంవల్ల కలిగినది, శోకంవల్ల, కలిగినది అని కరుణరసం మూడు విధాలు.

మూ. దానవీరం ధర్మవీరం యుద్ధవీరం తథైవ చ,
రసం వీరమపి ప్రాహ బ్రహ్మా త్రివిధమేవ హి. **79**

తా. దానవీరం, ధర్మవీరం, యుద్ధవీరం అని వీరరసం మూడు విధాలు అని బ్రహ్మదేవుడు చెప్పాడు.

మూ. వ్యాజాచ్చైవాపరాధాచ్చ విత్రాసితకమేవ చ,
పునర్భయానకం చైవ విద్యాత్ త్రివిధమేవ హి. **80**

తా. కృత్రిమము, అపరాధంవల్ల కలిగినది, భయహేతువు కనబడడంవల్ల కలిగినది అని భయానకం కూడ మూడు విధములు.

మూ. బీభత్సః క్షోభజః శుద్ధ ఉద్వేగీ స్యాత్ ద్వితీయకః,
విష్ఠాకృమిభిరుద్వేగః క్షోభజో రుధిరాదిజః. **81**

తా. చిత్తక్షోభవలన కలిగిన **బీభత్సం శుద్ధం**; ఉద్వేగిబీభత్సం రెండవది. విష్ఠ (మలాదికము) కృములుమొదలైన అశుద్ధమైన విభావాలవల్ల కలిగినది **ఉద్వేగజ బీభత్సము.** రక్తమాంసాదులు చూడగా కలిగిన చిత్తక్షోభచే కలిగినది **క్షోభజబీభత్సము.**

వి. ఈ విధంగా శ్లోకంలో ఉన్నదానిని పట్టి బీభత్సం; శుద్ధము, ఉద్వేగి అని రెండు విధాలే అన్నట్లు తెలుస్తున్నది. అభినవగుప్తుడు మాత్రం తన గురువుల అభిప్రాయం ఉటంకిస్తూ విష్ఠాదుల ద్వారా కలిగినది రుధిరాదిదర్శనంవల్ల కలిగినదీ కూడ అశుద్ధమే అని అంటూ, యోగశాస్త్రంలో చెప్పి నట్లు శరీరాదుల విషయంలోనే జగుప్స కలగడం

చేత ఏర్పడిన బీభత్సం మోక్షహేతువు గాన అది శుద్ధం అనిసూచించాడు. ఈవిధంగా బీభత్సంలోకూడ మూడుభేదాలు అంగీకరించినట్లయింది.

మూ. దివ్యశ్చానన్దజశ్చైవ ద్విధా ఖ్యాతోఽద్భుతో రసః,
దివ్యదర్శనజో దివ్యః హర్షాదానన్దజః స్మృతః. **82**

తా. దివ్యము, ఆనందజము అని అద్భుతరసం రెండు విధాలు. దివ్యములైన వస్తువులను, పురుషులను చూడడంవల్ల కలిగినది **దివ్యాద్భుతం.** సంతోషంవల్ల కలిగినది **ఆనందజాద్భుతం.**

అథ శాన్తవిచారః (ఇది కొన్ని ప్రతులలో లేదు)

మూ. అథ శాన్తో నామ శమస్థాయిభావాత్మకః మోక్షప్రవర్తకః. స తు తత్త్వజ్ఞాన - వైరాగ్య - ఆశయశుద్ధ్యాదిభిః విభావైః సముత్పద్యతే. తస్య యమ - నియమ - అధ్యాత్మ ధ్యాన - ధారణ - ఉపాసన - సర్వభూతదయా - లిఙ్గగ్రహణాదిభిః అనుభావైః అభినయః ప్రయోక్తవ్యః. వ్యభిచారిణశ్చాస్య నిర్వేద - స్మృతి - ధృతి - సర్వాశ్రమ - శౌచ - స్తమ్భ - రోమాఞ్చాదయః.

తా. శమం స్థాయిభావంగా గల శాంతరసం మోక్షమార్గంలో ప్రవర్తింపచేస్తుంది. అది తత్వజ్ఞానము, వైరాగ్యము, అంతఃకరణశుద్ధి మొదలైన విభావాలచేత పుడుతుంది. యమ - నియమ - ఆత్మతత్త్వధ్యాన - ధారణ - ఉపాసనములు, సర్వభూతములయందు దయ, లింగగ్రహణము అనగా వైరాగ్యచిహ్నాలైన కాషాయవస్త్రాదుల గ్రహణము మొదలైన అనుభావాలచేత శాంతరసాభినయం ప్రయోగించాలి. నిర్వేదము, స్మృతి, ధృతి, సర్వాశ్రమ, శుచిత్వము, స్తంభము (అన్ని ఆశ్రమాలలోను శుచిత్వము), రోమాంచము మొదలైనవి దీని వ్యభిచారిభావాలు.

వి. **యమాలు** - **"తత్రాహింసాసత్యాస్తేయబ్రహ్మచర్యాపరిగ్రహాః యమాః"** (పాతంజలయోగసూత్రం. 2.30) అహింస, సత్యము, పరుల సొత్తు హరించకపోవడం, బ్రహ్మచర్యం, ధనాదులు కూడబెట్టుకొనకపోవడం - ఇవి **యమాలు.** **"శౌచసంతోషతపః స్వాధ్యాయేశ్వరప్రణిధానాని నియమాః"** (యో.సూ. 2.32) పవిత్రత్వము, సంతృప్తి, తపస్సు, స్వాధ్యాయము, ఈశ్వరపూజ, (పరమేశ్వరునియందే ఎల్లవేళలా మనస్సు నిలుపుట) ఇవి **నియమాలు.** ఏదైన ఒకవసువునందు మనస్సు నిలపడం **ధారణ.** ఏవస్తువుపై మనస్సు నిలపబడినదో దానినే నిరంతరము చింతించుట **ధ్యానం.** **"దేశబన్ధః చిత్తస్య ధారణా" "తత్ర ప్రత్యయైకతానతా ధ్యానమ్"** (యో.సూ. 3.1,2.)

మూ. అత్రార్యాః శ్లోకాశ్చ భవన్తి -

మోక్షాధ్యాత్మసముత్థః తత్త్వజ్ఞానార్థహేతుసంయుక్తః,
నైఃశ్రేయసోపదిష్టః శాన్తరసో నామ సంభవతి. 1

తా. మోక్షమును గూర్చి, అధ్యాత్మవిషయాలను గూర్చి చింతనచేత పుట్టేదీ, తత్త్వజ్ఞానానికి ఉపయోగించే హేతువులతో కూడినది, మోక్షమార్గం చూపే మహాత్ములచేత ఉపదేశింపబడినదీ అయిన శాంతరసం అనేది సంభవించును; (ఇది అసంభవం కాదు).

మూ. బుద్ధీన్ద్రియకర్మేన్ద్రియసంరోధాధ్యాత్మసంస్థితోపేతః,
సర్వప్రాణిసుఖహితః శాన్తరసో నామ విజ్ఞేయః. 2

తా. బుద్ధీంద్రియ - కర్మేంద్రియాలను అదుపులో పెట్టుకొని ఆత్మయందే స్థిరంగా నిలచినవారిచేత పొందబడేది, సకలప్రాణులకు సుఖకరము, హితమూ అయినది శాంత రసముగా తెలియదగినది.

మూ. న యత్ర దుఃఖం న సుఖం న ద్వేషో నాపి మత్సరః,
సమః సర్వేషు భూతేషు స శాన్తః ప్రథితో రసః.

తా. దేనిలో దుఃఖం కాని, సుఖం కాని, ద్వేషం కాని, అసూయ కాని ఉండదో, అన్ని ప్రాణుల విషయంలోను సమత్వబుద్ధి ఉంటుందో అట్టి శాంత మను రసం ప్రసిద్ధమైనది.

మూ. భావా వికారాః రత్యాద్యాః శాన్తస్తు ప్రకృతిర్మతః,
వికారః ప్రకృతేర్జాతః పునస్తత్రైవ లీయతే. 3

తా. రతి మొదలైన భావాలు వికారాలు, వికృతులు; శాంతంనుండి పుట్టిన కార్యాలు. శాంత మైతే వాటి కన్నింటికీ ప్రకృతి, కారణం, ప్రకృతినుండి జనించిన వికారం మళ్లీ దానిలోనే లీనమైపోతుంది.

మూ. స్వం స్వం నిమిత్తమాసాద్య శాన్తాద్భావః ప్రవర్తతే,
పునర్నిమిత్తాపాయే చ శాన్త ఏవోపలీయతే. 4

ఏవం నవరసా దృష్టాః నాట్యజ్ఞైర్లక్షణాన్వితాః.

తా. ఆ యా నిమిత్తకారణంవల్ల శాంతరసంనుండి రత్యాదిభావాలు పుడతాయి. నిమిత్తం తొలగిపోగానే తిరిగి అవి శాంతంలోనే అణగిపోతాయి.

ఇంతవరకు కొన్ని పుస్తకాలలో మాత్రమే ఉన్న ఈ భాగాన్ని ప్రామాణికంగా గ్రహించి అభినవగుప్తుడు - శాంతం రసం మాత్రమే కాదు; అన్నింటికంటె ప్రధానమైన రసం;

అన్ని రసాలు దీనినుండే పుట్టాయి" అని గట్టిగా వాదించి స్థాపించాడు. ఈ విషయాలన్నీ ఈ అధ్యాయం చివర ఉన్న అనుబంధంలో చర్చించబడ్డాయి.

మూ. ఏవమేతే రసా జ్ఞేయాస్త్వష్టౌ లక్షణలక్షితాః,
అత ఊర్ధ్వం ప్రవక్ష్యామి భావానామపి లక్షణమ్. 83

ఇతి భరతీయే నాట్యశాస్త్రే రసాధ్యాయః షష్ఠః.

తా. ఈ విధంగా వేరు వేరు లక్షణాలు గల ఈ ఎనిమిది రసాలు తెలియదగినవి. ఇటుపైన భావాల లక్షణం కూడ చెపుతాను.

పుల్లెల శ్రీరామచంద్రుడు రచించిన 'బాలానందిని' అను నాట్యశాస్త్రాంధ్ర వ్యాఖ్యానమునందు రసాధ్యాయ మను ఆరవ అధ్యాయం సమాప్తం.

"ఇ (ర)త్యాదిశక్త్యష్టకమధ్యవృత్తిర్యస్య స్వహృన్మణ్డలసంప్రయోజ్యా (జ్యః),
స్థాయీ శివశ్చేతసి తేన వృత్తిః కృతా రసాధ్యాయ ఇహ క్రమేణ."

- శ్రీమదభినగుప్తాచార్యాః.

శ్రీః శ్రీః శ్రీః.

బాలాసన్దినీవాఖ్య

షష్ఠాధ్యాయానికి అనుబంధం

(రససిద్ధాంతాదులను గూర్చిన చర్చ)

రససిద్ధాంతం : ఇపుడు లభిస్తూన్న, రససిద్ధాంతాన్ని ప్రతిపాదించే గ్రంథాలలో అతి ప్రాచీనమైనది భరతుని **నాట్యశాస్త్రం**. అయితే **నాట్యశాస్త్రా**నికి పూర్వం రసాన్ని గూర్చి తెలియదని అర్థం కాదు. **నాట్యశాస్త్రం** ఈ ఆకారంలో సిద్ధం అవడానికి పూర్వం అనేకమైన అనువంశ్య శ్లోకాలు, ఆర్యలు ప్రచారంలో ఉండేవి. వాటిని **నాట్యశాస్త్రం**లో అక్కడక్కడ చేర్చడం జరిగింది. రూపక ప్రయోగాన్ని దృష్టిలో ఉంచుకొని **నాట్యశాస్త్రం** నిర్మించబడింది. కావ్య-నాట్యశబ్దాలు రెండూ పర్యాయపదాలుగా కూడ ఉపయోగింపబడేవి. రససిద్ధాంతం **అభినవభారతి**లో అతివిస్తృతంగాను, **లోచనం**లో సంక్షిప్తంగాను ప్రతిపాదింపబడింది. మహాకవీ విమర్శాగ్రేసరుడూ అయిన అభినవగుప్తుడు **ధ్వన్యాలోకా**నికి నాట్యశాస్త్రానికి కూడా వ్యాఖ్యానాలు రచించాడు. నాట్యశాస్త్రం షష్ఠాధ్యాయంలోని 'నాట్యరసాః స్మృతాః' అనే వాక్యాన్ని వివరిస్తూ – "**నాట్యాత్ సముదాయరూపాత్** రసాః, యది వా **నాట్యమేవ** రసాః, **రససముదాయో** హి **నాట్యమ్. న** నాట్య ఏవ చ రసాః, కావ్యేఽపి నాట్యాయమాన ఏవ రసః, కావ్యార్థవిషయే హి ప్రత్యక్షకల్ప సంవేదనోదయే రసోదయః ఇత్యుపాధ్యాయాః. తదాహుః కావ్యకౌతుకే

"ప్రయోగత్వమనాపన్నే కావ్యే నాస్వాదసంభవః" ఇతి.
'వర్ణనోత్కలికాభోగప్రౌఢోక్త్యా సమ్యగర్పితాః,
ఉద్యానకాన్తాచన్ద్రాద్యా భావాః ప్రత్యక్షవత్ స్ఫుటాః'

ఇతి (అ.భా.మొ.సం 291-92).

అభినవగుప్తుడు ఇంకా ఇలా అన్నాడు – "**కావ్యం తావన్ముఖ్యతః దశరూపాత్మకమేవ** ... తత్ర యే స్వభావతః నిర్మలముకురహృదయాః త ఏవ సంసారోచితక్రోధ మోహాభిలాషపరవశమనసః న భవన్తి **తేషాం తథావిధదశరూపకాకర్ణనసమయే సాధారణ** రసనాత్మచర్వణగ్రాహ్యః రససంచయః నాట్యలక్షణః స్ఫుట ఏవ. యే త్వతథాభూతాః తేషాం ప్రత్యక్షోచితతథావిధచర్వణాలాభాయ నటాదిప్రక్రియా స్వగతక్రోధశోకాదిసంకట హృదయగ్రన్థిభఞ్జనాయ గీతాదిప్రక్రియా చ మునినా విరచితా. 'సర్వానుగ్రాహకం హి శాస్త్రమ్' ఇతి న్యాయాత్. తేన నాట్య ఏవ రసాః న లోకే ఇత్యర్థః. **కావ్యం చ నాట్యమేవ**" (మొ.సం.పే. 292).

రస శబ్దానికి ముఖ్యార్థం రుచి, లేదా ఆస్వాదం. కావ్యనాటకాదులలోని సౌందర్యం

యొక్క భావావేశపూర్ణమైన అనుభూతి (ఆస్వాదం) అని దీని లాక్షణికార్థం. కవి చేసే రచన (కావ్యం) **"హ్లాదైకమయి"** (కేవలానందస్వరూపం) అని అంటాడు మమ్మటుడు. పఠితమీద ప్రసరించే అత్యధికమైన కావ్య ప్రభావానికి ఎంత ప్రాధాన్యం ఉన్నదో ఈ ఒక్కపదం స్పష్టం చేస్తూన్నది.

జ్ఞానప్రధానము, అనుభూతిప్రధానమూ అని వాఙ్మయం రెండు విధాలని డి.క్వేన్సీ చేసిన ద్వివిధవిభాగం సంస్కృత రచయితలు ఏనాడో అంగీకరించి ఉన్నారు. మొదటి తరగతికి చెందిన వాఙ్మయం ఆ యా విషయాల జ్ఞానం కలిగిస్తే రెండవ తరగతికి చెందినది హృదయాన్ని స్పందింపచేస్తుంది. ఈ రెండు విధాల వాఙ్మయాన్ని ఒకచోట కలపడానికి అవకాశం లేకపోలేదు. అయితే వీటిని పూర్తిగా వేరు వేరుగానే ఉంచవచ్చును. సాహిత్య విమర్శ అనేది, అది సంస్కృతంలో ఉన్నా ఇతర భాషలలో ఉన్నా కూడ, పైన చెప్పిన ద్వితీయభేదానికి చెందిన గ్రంథాలకు సంబంధించి ఉంటుంది. కావ్యం, రూపకం, కథాఖ్యాయికాదులు – ఇవన్నీ దీనికి చెందినవి. వీటిలో ఇది తప్పా, ఒప్పా, ఇలా ఉంటుందా ఉండదా అనే ప్రశ్నలకు తావు లేదు. ప్రతిభాత్మకమైన సహజమానసిక భావనకూ (సంవిత్తుకూ) తర్కబలసంపాదిత మైన జ్ఞానానికీ చాల భేదం ఉంటుంది. కావ్యంలో ధ్వనింపబడే అర్థం విషయంలో ఇది తప్పా ఒప్పా అనే ప్రశ్నకు అవకాశం లేదని ఆనందవర్ధనుడు స్పష్టంగా చెప్పాడు – **"కావ్యవిషయే చ వ్యఙ్గ్యప్రతీతీనాం సత్యాసత్త్వ నిరూపణస్య అప్రయోజకత్వమేవ ఇతి తత్ర** ప్రమాణాన్తరవ్యాపారపరీక్షా **ఉపహాసాయైవ సంపద్యతే"** (ధ్వన్యా. పే. 253). రసాలకు కావ్యాలతో ఉన్న సంబంధాన్ని గూర్చి క్రమబద్ధమైన రీతిలో చర్చ, నిర్ణయమూ **ధ్వన్యాలోకం** వచ్చేవరకు జరగలేదు. అయితే ప్రాచీనాలంకారికులకు రసాని కున్న ప్రాధాన్యం తెలియ దని అర్థం కాదు.

"కామం సర్వోప్యలంకారో రసమర్థే నిషిఞ్చతి,
తథాప్యగ్రామ్యతైవైనం భారం వహతి భూయసా" (కావ్యాదర్శం.I.62)

అని **కావ్యాదర్శం** అంటూన్నది. రసవదలంకారం ఎనిమిది రసాలలో ఏదో ఒక రసం మీద ఆధారపడి ఉంటుం దని దండి సోదాహరణంగా ప్రతిపాదించాడు. స్థాయిభావాలకీ రసాలకీ ఉన్న భేదం కూడ దండికి స్పష్టంగా తెలుసును (చూ.కావ్యాదర్శ II.280 - 292).

"మధురం రసవద్వాచి వస్తున్యపి రసస్థితిః,
యేన మాద్యన్తి ధీమన్తః మధునేవ మధువ్రతాః" (కావ్యాద.I.51)

"కన్యే కామయమానం మాం న త్వం కామయసే కథమ్,
ఇతి గ్రామ్యోఽయమర్థాత్మా వైరస్యాయ ప్రకల్పతే"

"కామం కన్దర్పచణ్డాలో మయి వామాక్షి నిర్దయః
త్వయి నిర్మత్సరో దిష్ట్యేత్యగ్రామ్యోఽర్థో రసావహః" (I. 63,64)

ఇత్యాది శ్లోకాలు కావ్యంలో దండి రసానికి ఎంత ప్రాధాన్యం ఇచ్చాడో సూచిస్తున్నాయి.

"రసవద్దర్శితస్పష్టశృఙ్గారాదిరసం యథా" (భామహకా. III. 6)

అను శ్లోకం భామహునకు రసాల విషయంలో ఉన్న పరిచయాన్ని సూచిస్తూన్నది. మహాకావ్యంలో రసా లుండాలి అని కూడ అతడు అన్నాడు -

"యుక్తం లోకస్వభావేన రసైశ్చ వివిధైః పృథక్" (కావ్యాలం. I. 31)

అయితే కావ్యంలో ఉండవలసిన ప్రధానాంశం రసం అని మాత్రం అతడు ప్రతిపాదించ లేదు.

"దీప్తరసత్వం కాన్తిః" (కా. అ. సూ. II. 2. 4) అని అంటూ వామనుడు రసాలను కాంతిగుణంలో చేర్చాడు. దండి (I. 31) భామహుడూ (I. 24) కూడ రూపకాలను గూర్చి తమ గ్రంథాలలో చర్చించకుండా, వాటిని తెలుసుకోవా లనుకొన్నవాళ్లు నాట్య శాస్త్రాదులు చూడవచ్చును అన్నారు. ప్రాచీనాలంకారికులు రూపకాలనూ కావ్యాలనూ అంతగా పరస్పర సంబంధం లేని విభిన్న ప్రక్రియలనుగా చూచి నట్లు కనబడుతుంది. అందుచేత ఆలంకారికులు ప్రారంభదశలో రసాలను గూర్చి తమ గ్రంథాలలో విస్తృతంగా చర్చించలేదు. రసాలను గురించి తొలిసారిగా చర్చించిన అలంకారశాస్త్ర గ్రంథం రుద్రటుని కావ్యాలంకారం. రుద్రటునికి రాదాపు నూరు సంవత్సరాలకు పూర్వం రచించబడిన శిశుపాలవధం లో రసాలకీ నాటకాదులకీ ఉన్న సంబంధం స్పష్టంగా వర్ణించబడింది-

"స్వాదయన్ రసమనేకసంస్కృతప్రాకృతైరకృతపాత్ర సంకరైః,
భావశుద్ధివిహితైర్ముదం జనో నాటకైరివ బభార భోజనైః" (శిశు. 14. 50)

భరతుని నాట్యశాస్త్రంలో కూడ రసస్వరూపచర్చ ఒక్కటే ప్రధాన విషయం కాదు. రూపక ప్రయోగంలో రసాని కున్న సంబంధాన్ని పట్టి రసానికి కావలసిన అన్ని విషయాలను చర్చించడం దీని ప్రధానోద్దేశ్యం. ఆంగిక - వాచిక - ఆహార్య - సాత్త్వికాభినయాల సాహాయ్యంతో ప్రేక్షకులకు రసానుభూతి కలిగించడం రూపకం చేయవలసిన ప్రధానమైన కార్యం. ఈ చతుర్విధాభినయాలు వరుసగా 8-13, 15-22, 23, 24 అధ్యాయాలలో నాట్యశాస్త్రంలో ప్రతిపాదించబడ్డాయి. **"న హి రసాదృతే కశ్చిదర్థః ప్రవర్తతే"** అని అంటుంది నాట్యశాస్త్రం (మొ. సం. పే. 274). దీని అర్థం వివరిస్తూ - రూపక ప్రదర్శనంలో మొదటి నుండి చివరి దాకా ఒక రసం సూత్రం వలె అనుస్యూతంగా నడుస్తూంటుంది" అని అభినవగుప్త డన్నాడు. "ఏక ఏవ తావత్పరమార్థతః రసః సూత్రస్థానీయత్వేన రూపకే

ప్రతిభాతి" (అ. భా. మొ. సం. పే. 273). **నాట్యశాస్త్రంలోని** చాలా వరకు గ్రంథం నాటకరచయితకూ, నటునికీ సంబంధించిన విషయాలకోసం వినియోగించబడింది. ప్రేక్షకులలో రసావిర్భావప్రక్రియా సానుభూతీ అనే విషయాలు 6,7 అధ్యాయాలలో మాత్రమే చర్చించబడ్డాయి. **కావ్యమీమాంసలో** చెప్పినదానిని పట్టి భరతుడు రూపకాలను గూర్చి మాత్రమే చర్చించగా రసచర్చ నందికేశ్వరుడు చేశాడు. అయితే మనకిపుడు లభించే **నాట్యశాస్త్రంలో** ఈ రెండు విషయాల ప్రతిపాదనా కూడా ఉన్నది. నందికేశ్వరుని గ్రంథం మనకు లభించడం లేదు.

రససిద్ధాంతం శారీరక - మానసిక ప్రవృత్తుల కలయిక మీద ఆధారపడి ఉందని అంటూ కాణే మానవులలో నిగూఢంగా ఉండే కొన్ని మానసిక ప్రవృత్తులను గూర్చిన, కొందరు శారీరక - మానసిక శాస్త్ర నిపుణుల అభిప్రాయాన్ని ఈ విధంగా ఉదాహరించారు (H.S.P;P - 357-358). "మానసిక శాస్త్రజ్ఞులకు అనేక విషయాలలో ఐకమత్యం లేదు. MacDowall అనే పండితుడు 'ది ఎనెర్జీస్ ఆఫ్ మెన్' అనే గ్రంథంలో (1932) (ఏడవ చాప్టర్ పే. 97,98) మానవులలో ఉండే పద్దెనిమిది సహజమైన ప్రవృత్తులను వర్ణించి చెప్పాడు. 'సేన్ సైకాలజీ' (1944) అనే గ్రంథంలో R.J.S. MacDowall ఈ పద్దెనిమిదింటినీ పద్నాలుగుకు తగ్గించి వాటికి సంబంధించిన భావావేశాలతో సహా ప్రతిపాదించాడు.

	సహజ ప్రవృత్తి (Instinct)	సంబద్ధ భావావేశం (Attendant emotion)
1.	ఆపదనుండి తప్పించుకొనడం (Escape from danger)	భయం (Fear)
2.	ఎదిరించడం (Combat)	కోపం (Anger)
3.	జుగుప్స (Repugnance)	అసహ్యించు కొనడం (Disgust)
4.	బాలసంరక్షణ (Parental Protection of the young)	వాత్సల్యం (Parental feeling)
5.	విషయజిజ్ఞాస (Curiosity)	సాహసప్రదర్శనం (Adventure)
6.	తనమాట నిలబెట్టుకొనడం (Self assertion)	ప్రభుత (Superiority)
7.	ఆత్మనింద (Self abasement)	లొంగి ఉండడం (Subjection)
8.	ఏడ్పు (Cry of distress)	అసహాయ స్థితి (Helplessness)

9. కామం (Sex)	లైంగిక ప్రవృత్తి (Sexual Desire)
10. గుంపు (Herd)	ఏకాంతస్థితి (Loneliness)
11. ఆహారాన్వేషణం (Food-Seeking)	ఆకలి (Appetite)
12. కూడబెట్టడం (Hoarding)	స్వత్వబుద్ధి (Feeling of owership)
13. నిర్మాణం (Construction)	సర్జనశక్తి (Feeling of Creativeness)
14. నవ్వు (laughter)	సంతోషం (Amusement)

ఈ మానసిక శాస్త్రవేత్తలు మొదటి స్తంభంలో (Column) ఉన్నవాటిని instincts (సహజప్రవృత్తులు) అనీ, రెండవ స్తంభంలో ఉన్నవాటిని attendent emotions అనీ అన్నారు. కాని నిజానికి మొదటి స్తంభంలో ఉన్నవాటిని attendant - instincts అనడం యుక్తం అని తోస్తుంది. ఎందువల్ల ననగా emotions అనేవి instincts కు కారణం. ఉదాహరణకి భయం అనే ఎమోషన్ కలగగానే కళ్లు మూసికొనడం, నెత్తికి చెయ్యి అడ్డుపెట్టుకొనడం వంటి, ఇన్‌స్టింక్ట్, ప్రభుత అనుభావం వల్ల సెల్ఫ్ అసెర్షన్ వంటి ఇన్‌స్టింక్ట్ కలుగుతాయి. నిజానికి మన అలంకారికులు ఏనాడో ప్రతిపాదించిన స్థాయి - సాత్త్విక - వ్యభిచారిభావాదులు వాటి విశ్లేషణా చూస్తే ఇతరులు చేసిన వాటిలో శబ్దాడంబరమే తప్ప పరిపూర్ణత్వం కనబడదు.

రత్యాదులను మాత్రమే స్థాయిభావాలుగా ఎందుకు అంగీకరించాలి అనేదానికి అభినవగుప్తుడు చక్కని ఉపపత్తి చూపించాడు. పుట్టినది మొదలు ప్రతీ మానవునిలోను ప్రతీప్రాణిలోను సుఖం అనుభవించాలనే కోరిక ఉంటుంది. (రతి); తనలో ఒక వైశిష్ట్యాన్ని ఆరోపించుకొని ఇతరులను పరిహసిస్తాడు (హాసం); తన కిష్టమైన వ్యక్తులు లేదా వస్తువులు దూరం అయినప్పుడు శోకిస్తాడు (శోకం). అలా దూరం చేయడానికి కారణం అయిన వారిమీద కోపం చూపుతాడు (క్రోధం); వాళ్లనేమీ చేయలేక తన్ను తాను రక్షించుకొనజాలనప్పుడు భయపడతాడు (భయం); ఇది సంపాదించాలి, అది సంపాదించాలి అని అనుకొంటూ ఉంటాడు (ఉత్సాహం); చెడ్డ వస్తువులను అసహ్యించుకొంటాడు (జుగుప్స); ఎవరైనా గొప్పపనులు చేస్తే అది చూచి ఆశ్చర్యపడతాడు (విస్మయం); కొన్నింటిమీద అనాసక్తి చూపుతాడు (నిర్వేదం). **"స్థాయిత్వం చ ఏతావతామేవ. జాత ఏవ హి జన్తుః ఇయతీభిః సంవిద్భిః పరీతో భవతి."** తథాహి - **"దుఃఖసంశ్లేషవిద్వేషీ సుఖాస్వాదన సాదరః" ఇతి న్యాయేన సర్వో రిరంసయా వ్యాప్తః, స్వాత్మని ఉత్కర్ష మానితయా పరముపహసన్, అభీష్టవియోగసంతప్తః తద్ధేతుషు కోపపరవశః, అశక్తౌ తతో భీరుః, కించిదర్జిజిషురపి, అనుచితవస్తువిషయవైముఖ్యాత్మకతయాక్రాన్తః,**

కిం చిదనభీష్టతయా అభిమన్యమానః, తత్తత్స్వపరకర్తవ్యదర్శనసముదితవిస్మయః, కించిచ్చ జిహాసురేవ జాయతే (అ.భా. VI. అధ్యాయం).

ఇంచుమించు ఇలాంటి తొమ్మిది భావాల ఆవిష్కరణం ఉన్నదే నిజమైన కావ్యం అని కొందరు ఆధునిక పాశ్చాత్య విమర్శకులు అంగీకరించడం గమనార్హం - "Every truth which a human being enunciates, every throught, even every outward impression which can enter into his consciousness, may become poetry when shown through an impassioned medium, when invested with the colouring of joy or grief or pity or affection or admiration or reverence, or awe or even hatred or terror: and unless so coloured, nothing, be it as interesting as it may, is poetry (quoted from Mill in the preface of mirror of composition' P. VIII; the contribution of panditaraja to sanskrit poetics part. I.P.141).

ఒక రూపకాన్ని చూచినపుడు ప్రేక్షకుల మనస్సులలో కలిగే భావాలను భరతుడు, తదనుసారులైన అర్వాచీనులు ఎలా విశ్లేషించారో ఇప్పుడు పరిశీలిద్దాం. రూపక ప్రయోగం నేత్రాలు, చెవులూ అనే రెండు ఇంద్రియాలకు మాత్రమే ప్రవర్తకంగా ఉంటుంది. **"క్రీడనీయకమిచ్ఛామో దృశ్యం శ్రవ్యం చ యద్భవేత్"** (నా.శా.I.11). ఇవి శారీరకాలంబనం (Physiological basis). నృత్యము, అభినయము, అలంకారాలు, చిత్రణము - ఇవి నేత్రం ద్వారా ఆనందాన్ని కలిగించే కళలు. సంభాషణ, పద్యాదిపఠనం, సంగీతం - ఇవి చెవుల ద్వారా ఆనందం కలిగించే కళలు. విషాదకరసంఘటనలు కూడ రూపకంలో ప్రదర్శించినపుడు ఆనందమే కలిగిస్తాయనే విషయం భరతాదులకు తెలుసు. మామూలు జీవితంలో జాలి, భయం ఆనందాన్ని కలిగించవు. వాటినే రంగస్థలం మీద ప్రదర్శించినప్పుడు వాటి ప్రభావం వేరుగా ఉంటుంది. అలాంటి సన్నివేశాలలో సహృదయులు అనుభవించే ఆ ఆనందాన్ని వీరు విశ్లేషించి పరీక్షించి వర్ణించారు. రూపకాదులను చూడడం వల్ల కలిగే ఆనందమూ రసమూ వాస్తవంలో ఒక్కటే; అనగా ఈ ఆస్వాదంలో భేదాలు లేవు. అభినవగుప్తుడు రసాన్ని వైయాకరణుల స్ఫోటతో పోలుస్తాడు - **తేన రస ఏవ నాట్యం యస్య వ్యుత్పత్తిః. ఫలమిత్యుచ్యతే. తథా చ రసాదృతే ఇత్యత్ర** (నా.శా.6.34) **ఏకవచనోపపత్తిః. తతశ్చ ముఖ్యభూతాన్మహారసాత్ స్ఫోటదృశీవాసత్యాని వా, అన్వితాభిధానదృశీవ ఉపాయాత్మకాని సత్యాని వా, అభిహితాన్వయదృశీవ తత్సముదాయరూపాణి వా రసాన్తరాణి భాగాభినివేశదృష్టాని రూప్యన్తే"** (నా.శా.I. 16). భాషలో ఒక పరిపూర్ణార్థాన్ని బోధించేవి వాక్యాలు. వాటిని పదాలుగాను, పదాలను వర్ణాలుగాను విభజించి పదాల అర్థం అనీ (కొన్నిచోట్ల) వర్ణాల అర్థం అనీ అంటున్నాం. నిజానికి ఇవన్నీ ఒకే ఒక వాక్యార్థానికి సంబంధించినవి. అదే విధంగా ఆనందానుభవం

ఒక్కటే అయినా దానిని విశ్లేషించి ఎనిమిది వేరువేరు స్థాయి భావాలకు సంబంధించిన దవడం చేత శృంగారాదిభేదాలతో ఎనిమిది విధాలని అంటున్నాం. వాస్తవంలో ఆనందానుభూతి, రసాస్వాదం అనేది ఒక్కటే.

రసం సామాజికాశ్రయం. ఇది స్థాయి భావభేదాన్ని పట్టి ఎనిమిది విధాలు అని భావప్రకాశనం చెపుతున్నది –

"యతోఽష్టధా మనోవృత్తిః సభ్యానాం నాట్యకర్మణి,
అష్టావేవానుభూయన్తే తాసూక్తాస్తై రసాః పృథక్.
సామాజికైస్తు రస్యన్తే యస్మాత్తస్మాద్రసాః స్మృతాః" (భా.ప్ర. II. P.46)

"వర్ధితాః స్థాయినో భావాః నాయకాదిసమాశ్రయాః,
అనుకారతయా నాట్యే క్రియమాణా నటాదిషు,
రసతాం ప్రతిపద్యన్తే సామాజికమనఃస్వతే,
సంస్కారైః ప్రోక్తనైస్తైశ్చ రస్యన్తే యత్నతో రసాః" (భా.ప్ర. II. P.46)

దశరూపకంలో కూడ ఈ విధంగానే ప్రతిపాదింపబడింది. (IV. 38–39). రసాస్వాదం కలగాలంటే కవి – శ్రోతల మధ్య సమన్వయం ఉండాలని **లోచనంలో** (పే. 23) చెప్పబడింది. "వక్తృప్రతిపత్తృప్రతిసహకారిత్వం హి **అస్మాభిః ద్యోతనస్య** ప్రాణత్వేనోక్తమ్."

రంగస్థలం మీద ప్రయోగించబడే రూపకాన్ని చూస్తున్నప్పుడు ప్రేక్షకులకు ఒక విధమైన ఆనందానుభూతి కలుగుతుంది. ఈ అనుభూతిలో దుఃఖానికి ఏ మాత్రమూ అవకాశం లేదు. సామాజికుల మనస్సులో అణగి ఉన్న రతి – హాస శోకాది భావాలను వివిధాభినయాల ద్వారా ఉత్తేజితము లయే టట్లు చేయడంచేత ఈ అనుభూతి వివిధ రూపాలలో ఉన్నట్లు కనబడుతుంది. (కాని, ఆ అనుభూతి వాస్తవంలో ఒక్కటే అని వీరి అభిప్రాయం) – "**అస్మన్మతే తు సంవేదనమేవ ఆనన్దఘనమ్ ఆస్వాద్యతే తత్ర కా** దుఃఖాశంకా? కేవలం **తస్యైవ చిత్రతాకరణే రతిశోకాదివాసనావ్యాపారః తదుద్బోధనే** చాభినయాదివ్యాపారః" (అ.భా.మొ.సం.I. పే. 293) అని అభినవగుప్త డన్నాడు.

భరతుడు నాట్యశాస్త్రంలోని ఆరవ అధ్యాయంలో రసాన్ని ప్రతిపాదించాడు. జాగర్తగా పరిశీలిస్తే భరతుడు ప్రతిపాదించిన రసానికి చివరకు అభినవగుప్తుని దగ్గరకు వచ్చేసరికి తేలిన రసస్వరూపానికి చాల భేదం ఉంది. "విభావానుభావవ్యభిచారిసంయోగాద్రస నిష్పత్తిః" అనేది భరతుడు చెప్పిన రససూత్రం. దీనిని ఆధారంగా చేసికొని వివిధ వ్యాఖ్యానాలు బయలుదేరాయి. ఈ సూత్రంలో స్థాయి శబ్దం ప్రయోగించలేదు. ఇలా

ప్రయోగించకపోవడంలో చాల విశేషం ఉందని కొందరు వ్యాఖ్యాతలు నిరూపించడానికి ప్రయత్నించారు. అయితే రెండు మూడు వాక్యాల తరవాత భరతుడు – "**యథా హి... తథా నానాభావోపగతా అపి స్థాయినో భావా రసత్వమాప్ను వన్తి**" అని స్థాయిభావాలను స్పష్టంగా పేర్కొన్నాడు. **'సంయోగ' 'నిష్పత్తి'** శబ్దాల అర్థం అస్పష్టంగా ఉండడం చేత ఈ సూత్రాన్ని వేరు వేరు విధాల వ్యాఖ్యానించడానికి అవకాశం ఏర్పడింది. దీనికి లోల్లటుడు, శంకుకుడు, భట్టనాయకుడు, అభివనవగుప్తుడు ఇచ్చిన నాలుగు విధాలైన వివరణలున్నాయి. జగన్నాథుడు ఈ నాలుగు కాక ఇంకా నాలుగు వివరణలను చూపాడు.

లోల్లట – శంకుక – భట్టనాయకుల గ్రంథా లేవీ మనకిప్పుడు లభించడం లేదు. వాళ్ల మతాలను గూర్చి అభినవగుప్త – మమ్మటాదులు చెప్పిన దానిని పట్టి మాత్రమే తెలుసుకొనవలసి ఉంది. వీటికి వరసగా **ఉత్పత్తివాదం, అనుమితివాదం, భుక్తివాదం, అభివ్యక్తివాదం** అని పేర్లు. ఈ వాదాలను తెలిసికొనే ముందు ఈ సూత్రంలో ఉపయోగించిన కొన్ని పారిభాషికపదాల అర్థాలు తెలుసుకొనవలసి ఉంది. నాట్యశాలకు వెళ్లేవారిలోను, కావ్యం పఠించేవారిలోను కొన్ని స్థిరమైన భావాలు నిగూఢంగా ఉంటాయి. ఇవి మౌలికములైన భావాలు. ఇవి సాధారణంగా అంతర్లీనంగానే ఉన్నా తగిన సంభాషణలు, పాటలు సంగీతం మొదలైనవి వినగానే, అభినయం చూడగానే పైకి ఉద్బుద్ధము లౌతాయి. శ్రవ్యకావ్యాలలో విశిష్టశబ్దాలు చదవడంచేత ఉద్బుద్ధమౌతాయి. అప్పుడు అవి వాళ్ల మనస్సులలో ఆనందరూప స్థితిని పొందుతాయి. స్థిరమైన ఈ భావాలకే స్థాయిభావా లని పేరు. వీటి కీ పేరు ఎందుకు వచ్చిందో భరతుడు ఏడవ అధ్యాయంలో ఈ విధంగా వివరించాడు. ఒక రాజుకు వాని పరిచారకులకు శరీరాదు లన్నీ సమంగానే ఉన్నా ఒకనిని రాజు అంటారు. ఇతరులు అతనికి సేవ చేస్తారు. అదే విధంగా ఒకటి స్థాయిభావం అయితే దానితో కలిసి ఉన్న ఇతర భావాలు విభావ – అనుభావ – వ్యభిచారిభావా లవుతాయి. వీటితో కూడిన స్థాయిభావం రసత్వాన్ని పొందుతుంది. ఆనందంగా, ఆస్వాదంగా మారుతుంది. "**యథా నరేన్ద్రో బహుజన పరివారోఽపి సన్ స ఏవ నామ లభతే నాన్యః సుమహానపి పురుషః తథా విభావానుభావ వ్యభిచారిపరివృతః** స్థాయీ భావో రసనామ లభతే. **భవతి చాత్ర శ్లోకః** – "

"యథా నరాణాం నృపతిః శిష్యాణాం చ యథా గురుః,
ఏవం హి సర్వభావానాం భావః స్థాయీ మహానిహ" (నా.శా. VII. 8)

దశరూపకంలో స్థాయిభావాల స్వరూపం మరొక దృక్కోణంతో పరిశీలించి చెప్పబడింది. "స్థాయిభావం సముద్రం వలె నిశ్చల మైనది. అప్పుడప్పుడు ఇతర భావాలు వచ్చి దానిని క్షుబ్దం చేయడానికి ప్రయత్నించినా అది కదలకుండా అలాగే ఉంటుంది.

ఇతరభావాలు స్థాయిభావాన్ని విచ్ఛిన్నం చేయజాలవు. అవి దానికి అంగంగా ఉండిపోతాయి. ఈ విధంగా విభావాదులచేత ఉత్తేజితములై రసస్థితిని పొందగల స్థాయిభావాలు రతి, హాసం, శోకం, క్రోధం, ఉత్సాహం, భయం, జుగుప్స విస్మయం అని ఎనిమిది. కొందరు శమాన్ని కూడ చేర్చి తొమ్మిది స్థాయిభావాలను అంగీకరించారు."

వీటి అన్నింటిసంయోగం వల్ల కలిగే ఆనందానికి రసం అని పేరు. దీనికి ఈ పేరు రావడానికి కారణం ఏమో భరతుడు వివరించాడు. మనుష్యులు బెల్లం, పాలు సుగంధద్రవ్యాలు, మిరియాలు మొదలైన వస్తువుల లన్నీ కలిపి తయారుచేసిన ఒక ఆహారపదార్థం తిన్నప్పుడు ఏ విధంగా ఆనందం అనుభవిస్తారో అదే విధంగా ప్రేక్షకులు అనేక భావాలచేత, అభినయాదులచేత పైకి ఉద్బుద్ధం అయే టట్లు చేయబడిన స్థాయి భావాలను ఆస్వాదిస్తారు. అందుచేత ఆ ఆస్వాదనానికి నాట్యరసం అని పేరు. లోకంలో రసశబ్దానికి పాదరసం, మాధుర్యం మొదలైనవి (మధురామ్లలవణకటుకషాయతిక్తాలు), సారం, అత్యంతాసక్తి, ఫలాదులనుండి పిండి తీసిన ద్రవపదార్థం, కషాయం, మొదలైన అనేక అర్థా లున్నాయి. అయితే కావ్యనాటకాదులలో దీనికి ఆస్వాదం అని అర్థం. "రసనాద్రసత్వమేషాం మధురాదీనామివోక్తమాచార్యైః" (14) అని రుద్రటు డన్నాడు. "**విభావానుభావసాత్త్వికవ్యభిచారిభావైః ఉపచీయమానః పరిపూర్ణః స్థాయీ భావో రస; చరమసమయపర్యన్తస్థాయిత్వాదస్య స్థాయిత్వవ్యపదేశః**" (రసతరం. IV) అని **రసతరంగిణి.**

లోపల కలిగిన భావంవల్ల పుట్టిన వికారం అనుభావం. ఇది లోపల పుట్టిన భావానికి సంసూచకం "**అనుభావో వికారస్తు భావసంసూచనాత్మకః**" (దశ రూ. IV. 3) అని దశరూపకం. "**స్థాయి భావాననుభావయన్తః సామాజికాన్ సభ్రూవిక్షేపకటాక్షాదయః రసపోషకారిణః అనుభావాః**" అని ధనికుడు వివరించాడు ఈ అనుభావాలలో ఎనిమిదింటికి సాత్త్విక భావాలని పేరు.

> పృథగ్భావా **భవన్త్యేతేఽనుభావత్వేఽపి సాత్త్వికాః,**
> **సత్త్వాదేవ సముత్పత్తేస్తచ్చ తద్భావభావనమ్.**
> **స్తమ్భప్రలయరోమాఞ్చాః స్వేదో వైవర్ణ్యవేపథూ,**
> **అశ్రు వైస్వర్యమిత్యష్టౌ స్తమ్భోఽస్మిన్నిష్క్రియాఙ్గతా.**
> **ప్రలయో నష్టసంజ్ఞత్వం శేషాః సువ్యక్తలక్షణాః.**"   (దశ రూ. IV. 4-6)

వీటిని సాత్త్వికభావా లనడానికి కారణం విషయంలో అభిప్రాయభేదం ఉంది. దశరూపకానుసారం సత్త్వం అనగా సానుభూతితో కూడిన Sympathetic హృదయం. దానిచేత ఏర్పడినవి (సత్త్వేన నిర్వృత్తాః) గాన సాత్త్వికభావాలు. **సాహిత్యదర్పణంలో** కూడ ఇదే వ్యుత్పత్తి చెప్పబడింది. (III. 134) అయితే **రసతరంగిణిలో "సత్త్వం జీవశరీరమ్,**

తస్య ధర్మాః సాత్త్వికాః. ఇత్థం చ శరీరభావాః స్తమ్భాదయః స్సాత్త్వికాః భావాః ఇత్యభిధీయన్తే" అని చెప్పబడింది. ఈ విధంగా సాత్త్విక భావాలు లోపల కలిగిన భావంవల్ల పుట్టి ఆ భావాన్ని ఇతరులు తెలుసుకొనే టట్లు చేస్తాయి గాన అనుభావాలు. ఇదే విధంగా లోపల నున్న రతి - క్రోధాదులవలన కలిగే భ్రూలతాకుంచన - కటాక్ష వీక్షణాదులు కూడ అనుభావాలే.

ఆలంబనవిభావం అనీ **ఉద్దీపనవిభావం** అనీ విభావం రెండు విధాలు. శృంగార రసం విషయంలో పరిశీలిస్తే నాయకునిలో ఉన్న రతికి ఆలంబనవిభావం నాయిక (ఆ రతికి ఆశ్రయం నాయకుడు). నాయికలో ఉన్న రతికి ఆలంబనవిభావం నాయకుడు (ఆశ్రయం నాయిక). ఆశ్రయం వేరు, ఆలంబనం వేరు. రతి ఉద్బుద్ధం అవడానికి ఉపకరించే ఏకాంతస్థాన - ఉద్యాన - చంద్రోదయాదులు ఉద్దీపన విభావాలు. నిర్వేదం, గ్లాని, శంక మొదలైన భావాలు మాటిమాటికీ మారిపోతూంటాయి. ఇవి కూడ స్థాయి భావాలను పరిపుష్టం చేస్తూంటాయి. వీటికి **వ్యభిచారిభావాలు** లేదా సంచారిభావాలు అని పేరు. ఇవి ముప్పైమూడు. వీటిలో కొన్ని అనేకరసాలకు సాధారణాలుగా ఉండవచ్చును. అనగా ఒక రసానికి వ్యభిచారిభావాలుగా ఉన్నవి ఇతరరసాలకి కూడ వ్యభిచారులుగా ఉండవచ్చును. ఒక్కొక్కప్పుడు రత్యాదిస్థాయిభావాలు కూడ పూర్తిగా పరిపుష్టం కానప్పుడు ఇతరరసాలకు వ్యభిచారిభావాలు కావచ్చును. తగిన విభావానుభావవ్యభిచారి భావాలచేత పరిపుష్టము లైన రతి - హాసాదులు శృంగార - హాస్యాది రూపాన్ని పొందుతాయి. రసాలను విభావాదుల ఉపస్థాపనం ద్వారా ఆస్వాద్యములయేటట్లు చెయ్యాలి కాని ఇక్కడ ఈ రసం ఉంది, అక్కడ అది ఉంది అని చెప్పకూడదు. విభావాద్యుపస్థాపనం లేకుండా పేర్లు చెప్పినా రసావిష్కృతి కలగదు. వీటి కన్నింటికి ప్రేక్షకునిలోను పఠితలోను భావుకత్వం, సహృదయత్వం ఉండాలి. అది లేనివానికి రసాస్వాదం కలగదు. వేషధారణమాత్రసంన్యాసులు కాకుండా నిజమైన వైరాగ్యం గల సంన్యాసులకు శృంగారకరుణాద్యాస్వాదం కలుగదు. పిరికిపందకు వీరరసం పడదు.

> **"సవాసనానాం నాట్యాదౌ రసస్యానుభవో భవేత్,**
> **నిర్వాసనాస్తు రఙ్గాన్తః కాష్ఠకుడ్యాశ్మసంనిభాః."**

"**విభావానుభావవ్యభిచారి సంయోగాద్రసనిష్పత్తిః**" అనే రససూత్రం చెప్పి భరతుడే దానికి వివరణ తన మాటలలో ఇచ్చి ఉన్నాడు - "**తత్ర విభావానుభావవ్యభిచారి సంయోగాద్రసనిష్పత్తిః" కో దృష్టాన్తః? అత్రాహ - యథా హి నానావ్యఞ్జనౌషధి సంయోగాత్ రసనిష్పత్తిః. తథా నానాభావోపగమాద్రసనిష్పత్తిః. యథా హి గుడాదిభిః ద్రవ్యైః వ్యఞ్జనైః ఓషధిభిశ్చ షాడవాదయః రసాః నిర్వర్త్యన్తే తథా నానాభావోపగతా అపి స్థాయినో భావాః**

రసత్వమ్ అప్నువన్తీతి. రసః ఇతి – కః పదార్థః? ఉచ్యతే ఆస్వాద్యత్వాత్. కథమాస్వాద్యతే రసః? యథా హి నానావ్యఞ్జన సంస్కృతమన్నం భుఞ్జానాః రసానా స్వాదయన్తి హర్షాదీంశ్చాధిగచ్ఛన్తీతి సుమనసః పురుషా ఇత్యభివ్యాఖ్యాతాః తథా నానాభావాభినయవ్యఞ్జితాన్ వాగఙ్గసత్త్వోపేతాన్ స్థాయిభావానాస్వాదయన్తి హర్షాదీంశ్చాధిగచ్ఛన్తీతి ప్రేక్షకాః సుమనస ఇత్యభివ్యాఖ్యాతాః. తస్మాన్నాట్యరసాః. అత్రానువంశ్యౌ శ్లోకౌ భవతః –

యథా బహుద్రవ్యయుతైః వ్యఞ్జనైర్బహుభిర్యుతమ్,
ఆస్వాదయన్తి భుఞ్జానా భక్తం భక్తవిదో జనాః.
భావాభినయసంబద్ధాన్ స్థాయిభావాంస్తథా బుధాః,
ఆస్వాదయన్తి మనసా తస్మాన్నాట్యరసాః స్మృతాః.

(నాట్యశా. హిం. అ.భా. పే. 442. 501)

భరతుడు చెప్పినదానిని పట్టి రసంలో అలౌకికత్వం ఏదీ లేదు. ఇది లోకంలో ప్రత్యక్షంగా కనబడే ఆ యా వస్తువులవల్ల, స్త్రీ పురుషాదులవల్ల పుట్టుట లేదు గాన దీనిని అలౌకికం అని అంటే అనవచ్చు నేమో! రసాన్ని భరతుడు పాకరసదృష్టాంతం సహాయంతో విశదీకరించాడు. వరిఅన్నం మొదలైనవాటిని వేరు వేరు రుచులు గల వివిధవ్యంజనాలతో (ఊరగాయలు మొదలైనవాటితో – పోపు సామాగ్రితో) కలిపినపుడు దాని కొక క్రొత్త రుచి వస్తుంది. (షాడబం అంటే అర్థం స్పష్టంగా తెలియదు. అలా తయారుచేసిన అన్నాదికం షాడబం కావచ్చు. దీని రుచికి ఆ పేరు ఉండవచ్చు). అదే విధంగా విభావానుభావవ్యభిచారిభావాలు స్థాయిభావంతో కలవడంచేత రసం నిష్పన్నం అవుతుంది. అనగా విభావాదులతో కలిసిన స్థాయిభావం రసంగా మారుతుంది. తినేవాళ్లకి పాకరసం ఆనందం ఇచ్చినట్లు ఈ రసం సహృదయులకు ఆనందం ఇస్తుంది. ఇక్కడ ఇచ్చిన ఈ దృష్టాంతాన్ని పట్టి చూస్తే భరతుని అభిప్రాయం ప్రకారం నాట్యరసం పాకరసం వలె పుట్టింపబడుతుంది గాన రసం వేరు, దానివల్ల కలిగే ఆనందం వేరు అన్నట్లు కనబడుతుంది. వ్యాఖ్యానాల జోలికి పోకుండా భరతుని మాటలను వాక్యనిర్మాణంలో పరిచయం ఉన్నవాళ్లు పరిశీలిస్తే ఇంతమాత్రం అర్థమే వస్తుంది. భరతుడు రసాలను నాట్యానికి సంబంధించి నంతవరకే ప్రతిపాదించాడు.

కాలాంతరంలో భరతుని రససూత్రానికి వేరు వేరు అర్థాలు చెప్పబడ్డాయి. లోల్లటుని వ్యాఖ్య భరతునికి చాల దగ్గరగా ఉంటుంది. భట్టలోల్లటాదుల ప్రకారం రసం ప్రధానంగా రామాదులలోనే ఉంటుంది. నాట్యంలో (రూపకాలలో) నటుడు రామాదుల వేషభూషాదులు ధరించి ఆ విధంగానే మాట్లాడుతూ రామాదుల్ని అనుకరించడంచేత నటుడిలో కూడ రసం ఉన్నట్లు కనబడుతుంది. రతి మొదలైనవాటికే విభావాదులతో సంబంధం ఏర్పడి

నప్పుడు అవి రసాలుగా మారుతాయి. శృంగారాన్ని గూర్చి చెప్పవలసి నప్పుడు – ఆలంబనం, ఉద్దీపనం అనే ద్వివిధ విభావాలవల్ల రతి పుడుతుంది. వాస్తంలో రతి పుట్టేది ఆలంబన విభావం చేతనే. పుట్టిన రతికి కొంత పుష్టి కలిగిస్తాయి కాబట్టి ఉద్దీపనవిభావాలను కూడ రతికి కారణం అని చెప్పడం జరుగుతున్నది. ఒక్కొక్కపుడు ఆలంబన విభావం ఉన్నా సుందరమైన పరిసరాలు వివిక్తస్థానం మొదలైన ఉద్దీపన విభావాలు లేకపోతే, రతి పుట్టకపోవచ్చు కూడ. ఈ విభావాలకీ రతికీ ఉన్న సంబంధం జన్యజనకభావసంబంధం. రతి జన్యం, పుట్టేది, విభావాలు జనకాలు, పుట్టించేవి. కటాక్షవీక్షణం మొదలైన అనుభవాలు రతివల్ల పుట్టిన కార్యాలు. వాటిని పట్టి రతి ఉన్నట్లు తెలుస్తుంది. ఈ అనుభావాలకీ రతికీ గమ్యగమకభావ సంబంధం. తెలుపబడేది రతి, తెలిపేవి అనుభావాలు. లజ్జ మొదలైన విభావాలు రతిని బాగా పరిపుష్టం చేసి శరీరం అంతటా వ్యాపించే టట్లు చేస్తాయి. కాబట్టి వీటికీ రతికీ మధ్య నున్న సంబంధం పోష్యపోషకభావసంబంధం. రతి పోషించదగినది, విభావాలు పోషించేవి. ఈ విధంగా రతితో విభావానుభావవ్యభిచారుల సంయోగంచేత, కలయికచేత, రామాదులైన అనుకార్యవ్యక్తులలో శృంగారరసం పుడుతుంది. బాగా అభినయాదులు చేయడంచేత నటుడిలో కూడ ఉన్నట్లు కనబడుతుంది.

ఈ విధంగా భట్టలోల్లటాదుల మతం ప్రకారం – (స్థాయినామ్ = నిగూఢంగా ఉన్న స్థాయిభావములకు), విభావ – లలనాదిరూపాలైన ఆలంబన విభావాలతోను ఉద్యానాదులైన ఉద్దీపనవిభావాలతోను ఉత్పాద్యోత్పాదక భావరూపసంబంధంవల్లా, అనుభావ – కటాక్షాలు, హస్తచాలనాలు మొదలైన కార్యాలైన అనుభావాలతో గమ్యగమక భావరూపసంబంధంవల్లా, వ్యభిచారి – నిర్వేదం మొదలైన వ్యభిచారిభావాలతో పోష్యపోషకభావ సంబంధంవల్లా, రసనిష్పత్తిః – వరసగా రసం యొక్క ఉత్పత్తి, అభివ్యక్తి, పుష్టి కలుగుతుంది అని రససూత్రానికి అర్థం. సూత్రంలో లేకపోయినా నాట్యశాస్త్రంలో తరవాత ప్రతిపాదించే రీతిని పట్టి "స్థాయినామ్" అనే పదాన్ని అధ్యాహారం తెచ్చుకొని అర్థం చెప్పుకోవాలి. (లోల్లటాదులకు సమకాలికులైన భవభూత్యాదులు రసం రామాదినిష్ఠం అని అంగీకరించడం గమనార్హం.)

ఈ విధంగా రసం అనుకరింపబడే రామాదులలలో నిష్పన్నం అయితే ఆ రసనిష్పత్తి లేని సామాజికులకు రసాస్వాదం ఎలా కలుగుతుంది? అందుచేత శ్రీశంకుకాదులు దీనిని మరొక విధంగా వ్యాఖ్యానించారు –

శ్రీ శంకుకాదుల అభిప్రాయం ప్రకారం ఆ యా హేతువుల చేత సామాజికుడు నటుడిలో ఉన్నట్లు ఊహించే (అనుమేయమైన) స్థాయిభావమే రసం. నటుడు గురువు

వద్ద సరియైన శిక్షణ పొంది చాలాకాలం స్వయంగా కూడ అభ్యాసం చేసి, రాముని వేషం ధరించి మాటలలోను, చేష్టలలోను ఆ రాముణ్ణే అనుకరిస్తున్నాడు. విభావానుభావ వ్యభిచారు లనే సామాంతరాలు గల కార్య - కారణ - సహకారులను ప్రదర్శిస్తున్నాడు. అవి కృత్రిమాలే అయినా కృత్రిమా లని అనిపించకుండా సహజాలే అన్నట్లు కనబరుస్తున్నాడు. "సేయం మమాఙ్గేషు" ద్వైవాదహమద్య" ఇత్యాదిశ్లోకాలు పఠిస్తూ అత డా విధంగా అభినయించే టప్పుడు సామాజికులు మనస్సులలో ఆ శ్లోకాల భావాన్ని మననం చేస్తూ ఆ నటుణ్ణి చూస్తూంటే, వాళ్లకి ఇతడు రాముడు అనే జ్ఞానం కలుగుతుంది. ఈ జ్ఞానం లోకంలో ప్రసిద్ధంగా ఉన్న ఏ జ్ఞానాల కోవకీ చెందదు. "ఇతడు రాముడే" అనే జ్ఞానం వలె ఇది సమ్యగ్జ్ఞానం (యథార్థజ్ఞానం) కాదు. ముత్యపు చిప్పను చూడగానే "ఇది వెండి" అనే జ్ఞానం కలిగి మరు క్షణంలోనే "ఇది వెండి కాదు" అని బాధజ్ఞానం కలుగుతుంది. ఈ బాధజ్ఞానాన్ని పట్టి మొదట కలిగిన జ్ఞానం మిథ్యాజ్ఞానం (భ్రమ) అని తెలుస్తుంది. ఇక్కడ "ఇతడు రాముడు కాడు," అను బాధజ్ఞానం కలగకపోవడం చేత ఇది (రామోఽయమ్ అనే జ్ఞానం) భ్రమ కాదు. ఇది స్థాణువా (బండఱాయా) లేక మనిషా అన్నపుడు ఈ జ్ఞానంలో రెండు కోటులు (పక్షాలు) ఉండడంచేత దీనిని సంశయం అంటాం. ఆ విధంగా ఇక్కడ "ఇతడు రాము డవునా కాదా" అను రెండు పక్షాలు లేకపోవడంచేత సంశయజ్ఞానం కాదు. "ఇతడు రాముడు వలె ఉన్నాడు" అనే జ్ఞానం కాదు కాబట్టి ఇది సాదృశ్యజ్ఞానము కాదు. ఈ విధంగా నటుణ్ణి చూస్తున్నపుడు కలిగే "ఇతడు రాముడు" అనే జ్ఞానం లోక ప్రసిద్ధాలైన అన్నివిధాల జ్ఞానాలకంటె విలక్షణ మైనది. చిత్రించిన గుఱ్ఱాన్ని చూచినపుడు కలిగే 'ఇది గుఱ్ఱం' అనే జ్ఞానం వంటిది. ఎందుచేత ననగా అది కూడ సమ్యగ్జ్ఞానము కాదు, సంశయమూ కాదు, సాదృశ్యజ్ఞానము కాదు. ఇది "గుఱ్ఱం కాదు" అనే బాధజ్ఞానం కలగక పోవడంచేత భ్రాంతీ కాదు. ధూమాన్ని చూచి పర్వతంమీద అగ్నిని ఊహించి నట్లు నటుని అభినయం అంతా చూచి సామాజికులు అతడు రాము డనుకొని అతనిలో స్థాయిభావం ఉందను కొంటున్నారు. ఆ స్థాయిభావానికీ నటుడు ప్రదర్శించే విభావాదులకూ సంబంధం గమ్యగమకభావసంబంధం. స్థాయిభావం గమ్యం, తెలియదగినది, విభావాదులు గమకాలు. తెలిపేవి; ఊహింపచేసేవి. ఈ స్థాయి భావంలో సహజంగా ఒక రమణీయత్వం ఉంది. అందుచేత ఇది లోకంలో అనుమీయమానములైన ఇతరవస్తువుల వంటిది కాదు. అందువలన దీనిని అనుమానప్రమాణంవలన గ్రహించినా ఇది ఆస్వాదయోగ్యంగా ఉంటుంది. ఈ విధంగా నటునిలో వాస్తవంగా లేని రతిని ఉన్నట్లుగా భావించి సామాజికులు ఆస్వాదిస్తారు. అదే రసం "స్థాయికి విభావానుభావవ్యభిచారులతో సంయోగంవల్ల అనగా అనుమాప్యానుమాపకసంబంధం వల్ల (స్థాయి అనుమాప్యం, ఊహింపచేయదగినది,

విభావాదులు అనుమాపకాలు, అనుమితిని కలిగించేవి) రసనిష్పత్తి. రసానుమితి" అని సూత్రార్థం.

చమత్కారం ప్రత్యక్షంవల్లనే కలగాలి కాని అనుమిత్యాదులవల్ల కలగదు అనే విషయం లోకప్రసిద్ధం. అందుచేత ఈ రసానుమితివాదం అయుక్తం అనే ఉద్దేశ్యంతో భట్టనాయకుడు ఈ సూత్రాన్ని మరొక విధంగా వ్యాఖ్యానించాడు -

కావ్యనాట్యాదులలో ప్రయోగించే శబ్దానికి అభిధ అనే వ్యాపారం (function) ఒక్కటే కాకుండా 'భావకత్వం', 'భోజకత్వం' అని మరి రెండు వ్యాపారాలు కూడ ఉంటాయి. రసానుభూతి విషయంలో ఈ రెండు వ్యాపారాలకీ చాల ప్రాధాన్యం ఉంది. నాట్యం సందర్భంలో నటుడు, రామాదినాయకులు, సామాజికుడు, అనే ముగ్గురు ఉంటారు. నటుడు నాయకుడూ కూడ తటస్థులే. అనగా రసానుభూతికి సంబంధించి సంతవరకు ఉదాసీనులే. అందుచేత రసం తటస్థులైన నట - రామాదులకు సంబంధించినదిగా గాని, తనకు, అనగా సామాజికునికి సంబంధించినదిగా గాని ప్రతీతి (జ్ఞాన) గోచరం కాదు. వారిలో పుట్టదు. వారిలో ఉన్నట్లు వ్యంజింపచేయబడదు. శబ్దంలో ఉన్న రెండవ వ్యాపారం అయిన భావకత్వం, సామాజికుణ్ణి, అభిధ ద్వారా తెలిసిన కావ్యార్థాన్ని మాటి మాటికీ భావనచేసే టట్లు చేస్తుంది. ఆ భావన ఉన్నంతవరకూ సామాజికుడు ఎదుటనున్న విభావాదుల్ని ఆ యా వ్యక్తులనుగా గాని, ఆ యా వ్యక్తులకు, దేశకాలాలకు సంబంధించిన వాటినిగా గాని చూడడు. సామాన్యరూపంలో (సర్వసాధారణరూపంలో) చూస్తాడు. అనగా రత్యాదులను సీతారామాదులకు సంబంధించినవాటినిగా కాక కేవలం రత్యాదిరూపంలో చూస్తాడు. అటుపైన భోజకత్వవ్యాపారం పనిచేయడం ప్రారంభిస్తుంది. అప్పుడు సాధారణీకృతాలైన విభావాదులతో సహకృతమైన ఈ భోజకత్వవ్యాపారంచేత సామాజికునికి ఈ రత్యాదుల ఆస్వాదం కలుగుతుంది. ఈ రత్యాద్యాస్వాదమే రసనిష్పత్తి. స్థాయికి విభావాదులతో భోజ్యభోజకభావసంబంధంచేత (స్థాయి భోజ్యం, అనుభవించ తగినది; విభావాదులు భోజకాలు, అనుభవింపచేసేవి) రసనిష్పత్తి అనగా రసభుక్తి (భోగం) అని ఈ సూత్రానికి అర్థం.

సాధారణీకరణం (universalisation) రససిద్ధాంతానికి సంబంధించిన అతి ప్రధానమైన అంశం. దీనిని ప్రప్రథమంగా ప్రతిపాదించిన గౌరవం భట్టనాయకునికి చెందుతుంది. వ్యంజనావ్యాపారం ఒక్కటే అంగీకరిస్తే చాలు, భావకత్వభోజకత్వ వ్యాపారాలు అంగీకరించవలసిన పనిలేదు అనే ఉద్దేశ్యంతో భట్టనాయకుని మతాన్ని ఖండించిన అభినవగుప్తాదులు కూడ ఈ సాధారణీకరణాన్ని అంగీకరించారు.

"సత్త్వోద్రేకప్రకాశానన్దమయసంవిద్విశ్రాన్తిసతత్త్వేన భోగేన భుజ్యతే' అనే వాక్యంలో మమ్మటుడు భట్టనాయకాభిమతరసస్వరూపాన్ని ప్రతిపాదించాడు. ప్రపంచకం అంతా

సత్త్వరజస్తమోగుణాత్మకం అని సాంఖ్యుల సిద్ధాంతం. ఇది దార్శనికుల కందరికీ అంగీకారయోగ్య మైన సిద్ధాంతం. మానవుడు కూడ సత్త్వరజస్తమోగుణాత్మకుడే. సత్త్వగుణం జ్ఞానాన్నీ, ప్రకాశాన్నీ కలిగిస్తుంది. రజోగుణం కార్యశీలత్వాన్ని కలిగిస్తుంది. తమోగుణం నిద్రా - ఆలస్యాదులకు (ఆలస్యం అనగా మందగొండితనం) కారణం. ఈ మూడు గుణాలు విషమంగా అనగా హెచ్చుతగ్గులలో ఉంటూంటాయి. ఒక గుణం హెచ్చుగా ఉన్నప్పుడు మిగిలిన రెండూ అణగి ఉంటాయి. సత్త్వగుణం రజస్తమోగుణాలను అణచి ఉద్రిక్తంగా ఉన్నపుడు జ్ఞానం, ప్రకాశం, ఆనందం అధికంగా ఉంటాయి. వాస్తవానికి జ్ఞాన - ప్రకాశ - ఆనందాలు మూడు ఒకటే అని తాత్త్వికులు చెపుతారు. భావకత్వవ్యాపారంచేత భావ్యమానమై, సాధరణీకృతమైన స్థాయిభావం, సత్త్వోద్రేకంచేత (సత్త్వగుణం రజస్తమోగుణాలను అణచి ఉద్రేకం చెందడంచేత) కలిగిన ప్రకాశ = ప్రకాశ అనే, ఆనన్దమయసంవిత్ = ఆనందరూపమైన జ్ఞానము నందు, విశ్రాన్తి = విశ్రమించడం, అనగా ఇతర జ్ఞానా లేవీ లేకుండా ఉండడం, అనే సతత్త్వేన = సమానమైన స్వరూపం గల, భోగంచేత అనగా సాక్షాత్కారంచేత, అనుభవించబడును అని అర్థం. భోగం అనగా - సత్త్వోద్రేకంచేత కలిగిన ప్రకాశ అనే ఆనందస్థితిలో ఇతర విషయజ్ఞానా లేవీ లేకుండా ఉండడం అని భావం. ఆ భోగమే రసాస్వాదం లేదా రసం ఇది భట్టనాయకుని మతంలోని సారం.

భట్టనాయకు డంగీకరించిన భావకత్వభోజకత్వవ్యాపారాలతో పని లేకుండా వ్యంజనావ్యాపారంచేతనే రసాస్వాదాన్ని నిరూపిస్తూ అభినవగుప్తుడు తన మతాన్ని ఈ విధంగా ప్రతిపాదించాడు - లోకంలో దైనందినజీవితంలో యువతి, ఉద్యానం మొదలైన (రతి) కారణాలనూ, కటాక్షవిక్షేపాదికార్యాలనూ, నిర్వేదం మొదలైన సహకారులనూ బాగా పరిశీలించి వాటి సహాయంచేత రత్యాదిభావాలను అనుమానించగలిగిన (అనగా ఊహించగలిగిన) వ్యక్తి హృదయంలో రత్యాదిస్థాయిభావాలు వాసనారూపంలో, అనగా సంస్కారరూపంలో, ఉండిపోతాయి. అలాంటివాడే సహృదయుడైన సామాజికుడు. వానికే రసాస్వాదయోగ్యత ఉంటుంది. కేవలం వ్యాకరణ - న్యాయ - మీమాంసా - వేదాంతాది శాస్త్రాదుల పఠనపాఠనాదులతోను, ఈనాటి విజ్ఞానశాస్త్రం, కంప్యూటర్లు మొదలైన వాటితోను కాలం గడిపే శుష్కహృదయులకూ, వేదాభ్యాసజడులకూ ఈ వాసన ఉండదు. రసాస్వాదం అసంభావ్యం. అందుచేతనే -

"వాసనాచేన్న హేతుః స్యాత్ స స్యాన్మీమాంసకాదిషు"

"సవాసనానాం నాట్యాదౌ రసస్యానుభవో భవేత్
నిర్వాసనాస్తు రఙ్గాన్తః కాష్ఠకుడ్యాశ్మసంనిభాః."

అని అంటారు. "రసాస్వాదనకి వాసన హేతువు కాకపోతే అలాంటి వాసన లేని మీమాంసకులకు కూడ (వీళ్లలో వేదాంతులు కూడ చేరుతారు) రసాస్వాదం కలగాలి. (కలగడం లేదు కదా)". "వాసన ఉన్నవాళ్లకే నాట్యాదులలో రసానుభవం కలుగుతుంది. వాసన లేనివాళ్లు నాట్యశాలలో కూర్చుండి చూస్తున్నా, అక్కడ ఉన్న స్తంభాలూ గోడలూ రాళ్లు ఎంతో వీళ్లు కూడ అంతే" అని ఈ వాక్యాల అర్థం.

అలాంటి సహృదయులైన సామాజికులు ధ్వనికావ్యాదులలోను -

"కాయికో వాచికశ్చైవ ఆహార్యః సాత్త్వికస్తథా,
చత్వారోఽభినయాః ప్రోక్తా నాట్యశాస్త్రవిశారదైః."

అని చెప్పిన చతుర్విధాభినయాలు ఉన్న నాట్యంలోను (రూపకంలోను) కవి - నటాదులు చూపిన వనితాదికారణకార్యసహకారుల్ని చూస్తారు. అయితే అవి లోకానికి (ప్రత్యక్ష జీవితానికి) సంబంధించినవి కావు. విభావనం, అనుభావనం, వ్యభిచారణం అనే అలౌకికాలైన వ్యాపారాలు (పనులు) చేస్తూంటాయి. అతి సూక్ష్మంగా వాసనారూపంలో ఉన్న రత్యాదుల్ని ఆస్వాదయోగ్యాలు అయే టట్లు చేయడం విభావనం. వాటిని అనుభవ యోగ్యం అయే టట్లు చేయడం వ్యభిచారణం. అందుచేత వీటికి కారణ - కార్య - సహకారు లనే పేర్లకు బదులు విభావ - అనుభావ - వ్యభిచారు లనే పేర్లు పెట్టి వ్యవహరిస్తారు. నిజానికి ఈ విభావాదులు ఒకానొక కాలంలో ఒకానొక దేశంలో జరిగిన లేదా జరిగినట్లు చిత్రించిన కథలోని వ్యక్తులకు సంబంధించినవి. అయితే సామాజికుడు సహృదయు డవడంచేత, భావనాబలంచేత, వ్యక్తి విశేష - దేశ - కాలాదుల్ని పూర్తిగా విస్మరించి ఆ వ్యక్తుల్ని నాయికా - నాయకాదిరూపంలోనే చూస్తాడు కాని ఏనాటివాళ్లో అయిన శకుంతలాదుష్యంతాదుల రూపాలలో చూడడు. తన సంకుచిత వ్యక్తిత్వాన్ని కూడ మరచిపోతాడు. ఈ విభావాదులు "నాకు సంబంధించినవి" అని కాని, "వీళ్ల కెవరికీ సంబంధించనివి" అని కాని అతనికి ఆ సమయంలో జ్ఞానం ఉండదు. వీటి నన్నింటినీ సాధారణరూపంలో చూస్తాడు (ఇదే సాధరణీకరణం అనగా). ఆ విభావాదులచేత వ్యంగ్యాలైన రత్యాదుల్ని సాధారణరూపంలోనే చూస్తాడు. ఆ సమయంలో విభావాదుల జ్ఞానం తప్ప ఇతరవిషయాల జ్ఞానం ఏదీ వానికి ఉండదు. అతని హృదయంలో అణగి ఉన్న రత్యాదులు ఉద్బుద్ధాలవుతాయి. ఆ రత్యాదుల్నే ఆస్వాదిస్తారు. ఈ విధంగా రత్యాదుల ఆస్వాదమే రసం. లేదా ఆస్వాదించబడే రత్యాదులే రసం.

అయితే ఇక్కడ ఒక ప్రశ్న ఉదయిస్తుంది. పటికబెల్లం వేరు, దాని ఆస్వాదనం వేరు. అదే విధంగా రసాస్వాదనం అన్నప్పుడు రసం వేరు, దాని ఆస్వాదనం వేరు అని చెప్పాలి కదా? ఆస్వాదమే రసం ఎలా అవుతుంది? దానికి బౌద్ధమతం ప్రకారం ఒక

సమాధానం చెపుతారు. బౌద్ధమతానికి సంబంధించిన ప్రధానమైన నాలుగు శాఖలలో యోగాచారశాఖ ఒకటి. యోగచారుల సిద్ధాంతం ప్రకారం జ్ఞానంకంటె భిన్నంగా బాహ్యమైన వస్తు వనేది లేదు. అయినా ఘటం వేరు, దాని జ్ఞానం వేరు అన్నట్లు ఘటజ్ఞానం అని వ్యవహరిస్తున్నాం. అదే విధంగా రసం వేరు దాని ఆస్వాదం వేరు కాకపోయినా 'రసాన్ని ఆస్వాదించడం' అని వ్యవహరించడం సౌకర్యం కోసం చెప్పే మాట మాత్రమే. ఔపచారికప్రయోగం అన్నమాట. ("ఈ కావ్యంలో ఈ రసం ఉంది" అని చెప్పేమాటలు పూర్తిగా ఔపచారికా లని వేరే చెప్పనక్కరలేదు). మరొక ఉదాహరణం చెప్పాలంటే – "నన్ను నేను తెలుసుకొనుచున్నాను" అని లోకంలో వ్యవహారం ఉంది. ఇక్కడ తెలుసుకొనే వాడు తెలుసుకొనబడేదీ కూడ తానే (ఆత్మయే). అదే విధంగా ఆస్వాదించబడేదీ ఆస్వాదనమూ కూడ రసమే. రసంలోని ప్రధానమైన అంశం ఏది? ఆస్వాదమే. రసం ఎంత సేపు ఉంటుంది? విభావాదుల జీవితమే దీనికి అవధి. అనగా విభావాదులు ఎంతసేపు ఉంటే ఇది అంతసేపు ఉంటుంది. విభావాదుల జ్ఞానం ఆగిపోతే రసాస్వాదం ఆగిపోతుంది. అంతేకాదు – ఆ తన్మయత్వస్థితి సడలి "ఈమె శకుంతల, ఇతడు దుష్యంతుడు" ఇత్యాదివిధంగా గాని "ఎదుట ఉన్నది ఫలానా నటుడు లేదా నటి' అని కాని అనుకొనగానే విభావాదుల సాధారణీకరణానికి ఆఘాతం కలిగినప్పుడు కూడ విభావాదుల జీవితం ఆగిపోయినట్లే.

ఈ రసాస్వాదం పానకరసాస్వాదం వంటిది. బెల్లం, ఏలకులు, మిరియాలు, పచ్చకర్పూరం మొదలైన వస్తువు లన్నీ వేసి తయారుచేసిన పానకం ఆస్వాదిస్తూన్నపుడు దాని రుచి ఆ వస్తువుల రుచుల సంమేళన రూపంలో ఉంటుంది. ఆ వస్తువుల్ని వేరు వేరుగా తిన్నపుడు ఉండే రుచి వేరు, అవన్నీ కలపగా వచ్చే రుచి వేరు. అదే విధంగా రసాస్వాదనంలో, విభావానుభావాదులు స్థాయితో కలవడంచేత ఆ సంమిశ్రితానుభూతి విశిష్టంగా ఉంటుంది. ఆ సమయంలో రసం మన ఎదటనే స్ఫురిస్తూన్నట్లు, హృదయంలో ప్రవేశించినట్లు, శరీరం అంతా వ్యాపించి నట్లు అనిపిస్తుంది. శరీరం పరవశమైపోతుంది. బ్రహ్మానందాన్ని అనుభవిస్తున్నామా అనిపించే టట్లు చేస్తుంది. బ్రహ్మానందంలో ఆత్మ ఒక్కటే భాసిస్తుంది. దీనిలో విభావాదులు కూడ భాసిస్తాయి. కాబట్టి ఇది బ్రహ్మానందం కాదు. తత్సదృశం మాత్రమే. దైనందిన జీవితంలో కనబడే దృశ్యాల అనుభూతి వేరు; ఈ కావ్యనాట్యాద్యనుభూతి వేరు. దానిలో చమత్కారం ఉండవచ్చు లేకపోవచ్చు కాని దీనిలో మాత్రం వర్ణించడానికి శక్యం కాని చమత్కారం, ఆనందానుభూతి కలుగుతుంది. అందుచేతనే ఇది అలౌకికం. ఈవిధంగా సామాజికు డాస్వాదించే, తనలోనే అణగి ఉండి విభావాదులచేత ఉద్బుద్ధాలైన రత్యాదులే రసం. "విభావానుభావవ్యభిచారి సంయోగాత్ = స్థాయిభావాలకు విభావాదులతో వ్యంగ్యవ్యంజకభావ సంబంధంవల్ల

లేదా విభావ – అనుభావ – వ్యభిచారిభావాలు పరస్పరం కలవడం వల్ల, రసనిష్పత్తిః = రసాభివ్యక్తి కలుగుతుంది" అని ఈ పక్షంలో రస సూత్రానికి అర్థం. ఇది అభినవగుప్తుని మతం. అభినవగుప్తుడు తన మతాన్ని పూర్వమతవిమర్శపూర్వకంగా **అభినవభారతిలోను, లోచనంలోను** ప్రతిపాదించాడు. (**కావ్యప్రకాశకు** అస్మద్విరచిత బాలానందినీ వ్యాఖ్యానంలో వివరించిన ఈ మత చతుష్టయాన్ని యథాతథంగా ఇక్కడ చూపించడం జరిగింది.)

జగన్నాథుడు **రసగంగాధరంలో**, అభినవగుప్తాదుల మతాలను చూపిన తరవాత రెండు క్రొత్త మతాలను కూడ చూపించాడు. వాటిలో **'నవ్యాస్తు'** అని ప్రారంభించి చెప్పిన మతం ప్రకారం రసానుభవం భ్రాంతిజ్ఞానజన్యం. ఇది వేదాంత సిద్ధాంతాన్ని అనుసరించి ప్రతిఫాదించిన మతం. ముత్యపుచిప్పను చూచినపుడు వెండి అనే భ్రాంతి కలుగుతుంది. ఆ సయంలో అక్కడ కనబడే వెండి అనిర్వచనీయం. అది నిజంగా ఉన్నది అనడానికి వీలు లేదు. నిజంగా ఉంటే క్షణాంతరంలో "ఇది వెండి కాదు" అనే జ్ఞానం కలగకూడదు. అలా గని అసలే లేదనడానికి వీలు లేదు. ఎదురుగా కనబడుతూన్నది కదా? ఈ విధంగా ఇది ఉన్న దని కాని లేదని కాని నిర్వచించడానికి శక్యం కాదు గాన **అనిర్వచనీయం.** భ్రాంతిస్థలా లన్నింటిలో ఇదే పద్ధతి. ఇదే విధంగా పరిపుష్టరత్యాదిరూపమైన ఈ శృంగారాదిరసం కూడ అనిర్వచనీయమే. కవి లేదా నటుడు ప్రదర్శించిన అసత్యములైన విభావాదులచేత సహృదయుడు వ్యంజనావ్యాపారం ద్వారా దుష్యంతాదులకు శకుంతలాదుల విషయంలో రతి ఉన్న దని గ్రహిస్తాడు. సహృదయునిలో భావన అనే దోషం ఉంది. దానిచేత తనలో దుష్యంతత్వాదికాన్ని ఆరోపించుకొంటాడు. అప్పుడు అతనిలో రతి పుడుతుంది. అది అనిర్వచనీయమే. దానితో అతడు అలౌకికమైన ఆనందాన్ని అనుభవిస్తాడు. ఇలాంటి ఆనందాన్ని కలిగించే శక్తి కావ్యాద్యుపస్థాపితమైన విభావాదులకు మాత్రమే ఉంది. ఈ విధంగా ఎదుట నున్న వాళ్లను దుష్యంతాదు లనుకొనడం అనే భ్రాంతితో ప్రారంభమైన జ్ఞానం తనలో లేని రత్యాదులను ఆరోపించు కొనడం అనే భ్రాంతికి దారితీసి తద్వారా ఆనందం కలిగిస్తుంది. ఇది ఈ మతం యొక్క సంక్షిప్తరూపం. దీని తరవాత **'పరే తు'** అనే మాటలతో ప్రారంభించి మరొక మతం ప్రతిపాదించబడింది. ఇది కూడ భ్రాంతిత్వాన్ని ప్రతిపాదించే మతం. వెనుక చెప్పిన శుక్తిరజతదృష్టాంతంలో అద్వైతవేదాంతులు అనిర్వచనీయమైన రజతం భాసిస్తూన్నది అని అంటే మరికొందరు దార్శనికులు గృహ – ఆపణాదులలో తాను ఇది వరకు చూచి ఉన్న రజతాన్నే ద్రష్ట ఇక్కడ ముత్యపుచిప్ప మీద చూస్తున్నాడు అంటారు. మొదటిదానికి **అనిర్వచనీయఖ్యాతి** అనీ రెండవదానికి **అన్యథాఖ్యాతి** అనీ పేర్లు. ఈ రెండవ మతం అన్యథాఖ్యాత్యనుసారం ప్రతిపాదించి నట్లు కనబడుతుంది. ఏదైనా రసానుభూతి

భ్రాంతిజన్య మనే ఈ మతం కూడ చెపుతున్నది. బహుశా జగన్నాథునకు మొదటి మతం అంగీకార్యం అయి ఉండవచ్చు.

అయితే ఆరోపితమైనది రత్యాదిక మైతే అది సహజంగా సుఖరూపం గాన ఆనందజనకం అయితే కావచ్చును. శోకాద్యారోపం ఆనందహేతు వెలా అవుతుంది. అన్ని రసాలూ ఆనందస్వరూపాలు కదా అని ప్రశ్న. దీనికి సమాధానంగా జగన్నాథుడు - శోకాదులు కూడ ఆనందజనకాలే అని లోకంలో సహృదయుల అనుభవం అయితే కావ్యాదులకు దుఃఖాన్ని కూడ సుఖంగా మార్చ గల శక్తి ఉందని ఒప్పుకోండి; అలా కాక కరుణాదులవల్ల దుఃఖం కలుగుతుంది అని అనుభవ మైతే తదనుసారంగా కరుణాదులు శృంగారాదుల వలె ఆనందరూపాలు కావు అని అంగీకరించండి అంటాడు. దీనిని పట్టి అన్ని రసాలు సుఖరూపాలే అనే అభినవగుప్తాదుల వాదం జగన్నాథునికి అంగీకార్యం కాదని తెలుస్తూన్నది.

రససంఖ్య : కాళిదాసుని **విక్రమోర్వశీయం** (II. 18) **కావ్యాదర్శం** (II. 392) ఒక నాట్యశాస్త్రపాఠం (IV. 15. 16) మొదలైనవాటిని పట్టి మొదట ఎనిమిది రసాలే అంగీకరించబడి నట్లు తెలుస్తూన్నది. ఉద్భటునిలోను (IV. 5) **విష్ణుధర్మోత్తర పురాణం**లోను తొమ్మిది రసాల నిర్దేశం ఉంది. దీనిని పట్టి ఏడవ శతాబ్దం నాటికి శాంతరసం కూడ చేర్చబడినట్లు తెలుస్తూన్నది. మొట్టమొదట శాంతరసాన్ని ప్రతిపాదించినవాడు వాసుకి అని భావప్రకాశనంలో చెప్పబడింది. శాంతరసానికి కావ్యాలలో స్థానం ఉండవచ్చునేమో కాని రూపకాలలో దీనికి అవకాశం ఉండదు అని కొందరన్నారు **"శమమపి కేచిత్ప్రాహుః పుష్టిర్నాట్యేషు నైతస్య"** (దశరూపకం. IV. 35).

"నాటకాదినిబన్ధే **తు** తపశ్చరణవస్తుని,
అభినేతుమశక్యత్వాత్తద్వాక్యార్థపదార్థయోః,
సామాజికానాం **మనసి** రసః శాన్తో **న జాయతే."** (భా. ప్ర. పే. 47)

ఈ విధంగా శాంతరసానికి రూపకాలలో అనుప్రవేశం లేదనడానికి అనేకకారణాలు చెప్పబడ్డాయి. **మహాభారతంలో** శాంతరసం ప్రధానరసం అని ఆనందవర్ధనుడు నాల్గవ ఉద్ద్యోతంలో ప్రతిపాదించాడు. అయితే **నాట్యశాస్త్రం**లోని కొన్ని పాఠాలలో శాంతరసం కూడ ప్రతిపాదించబడిన దనీ నిజానికి మోక్షహేతువవడంచేత అదే ప్రధానరస మనీ అభినవగుప్తుడు **అభినవభారతిలో** (మొదటి సం. పే. 340) గట్టిగా ప్రతిపాదించాడు. అభినవగుప్త - ధనంజయుల ప్రకారం శాంతరసానికి స్థాయిభావం శమం. వైరాగ్యము, సంసారభీరుత్వము, విభావాలు, మోక్షశాస్త్రచింత అనుభావం. నిర్వేద - మతి - ధృతి -

స్మృతులు వ్యభిచారిభావాలు. నిర్వేదం దీని స్థాయిభావ మని మమ్మటుడు, జుగుప్స లేదా ఉత్సాహం స్థాయిభావం అని కొందరూ అన్నారు. రుద్రటుడు ప్రేయస్ అను పదవ రసం పేర్కొన్నాడు. కొందరు ఆర్ద్రత స్థాయిభావంగా గల స్నేహరసాన్ని, కొందరు లౌల్య - భక్తిరసాలను చెప్పినట్లు అభినవగుప్తుడు (మొ. సం. 341-42 పే) అన్నాడు. అయితే స్నేహం రత్యుత్సాహాలలోను, లౌల్యం హాసంలోను లేదా రతిలోను, భక్తి రతిలోను అంతర్గతం అవుతాయి అని అభినవగుప్తుని అభిప్రాయం. దేవాది విషయకరతి భావమే కాని రసం కాదని మమ్మటు డన్నాడు - **"రతిర్దేవాదివిషయా వ్యభిచారీ తథాఞ్జితః, భావః ప్రోక్తః"** (కా. ప్ర. IV. 35) "నటుడు కేవలం రసం పోసిన పాత్ర వంటివాడు. వానికి దాని ఆస్వాదనం ఉండదు. కొందరు శ్రద్ధ స్థాయిభావంగా గల భక్తిని, లౌల్యాన్ని, స్నేహాన్ని రసాలుగా అంగీకరిస్తారు, అది యుక్తం కాదు" అని **సంగీతరత్నాకరంలో** (370-71 శ్లోకాలు VII పే. 815) ప్రతిపాదింపబడింది. **నాగానందనాటకం**లో శాంత శృంగారాలు వ్యాపించి ఉన్నాయనీ, శాంతరసానికి తృష్ణాక్షయసుఖం స్థాయిభావం అనీ చెపుతూ ఆనందవర్ధనుడు **మహాభారతం** నుండి తృష్ణాక్షయసుఖప్రాధాన్యాన్ని చెప్పే శ్లోకం ఉదాహరించి, దీనియందు అందరికీ ఆసక్తి లేనంత మాత్రాన ఇది స్థాయిభావం కాదని గాని, శాంతరసం నాటకాదులలో ఉండ దని గాని చెప్పడానికి వీలు లేదని అన్నాడు - **"శాన్తశ్చతృష్ణాక్షయ సుఖస్య యః పరిపోషః తల్లక్షణః రసః** ప్రతీయతే. **తథాచోక్తమ్"** -

**"యచ్చ కామసుఖం లోకే యచ్చ దివ్యం మహత్సుఖమ్,
తృష్ణాక్షయసుఖస్యైతే నార్హతః షోడశీం కలామ్."** (శాం. ప. 175-35)

"యది నామ సర్వజనానుభవగోచరతా తస్య నాస్తి నైతావతాసావలోకసామాన్యమహాను భావచిత్తవృత్తివిశేషవత్ ప్రతిక్షేప్తుం శక్యః" (ధ్వన్యా. పే. 219-220). అభినవగుప్తుడు లోచనంలో రూపకాలలో ఒకప్పుడు ధర్మం, ఒకప్పుడు క్రీడలు, ఒకప్పుడు ఐశ్వర్యం, ఒకప్పుడు శమం కూడ చూపవచ్చును అను నాట్యశాస్త్రవాక్యాన్ని ఉదాహరించి శమం కూడ రూపకాలలో నిబద్ధం కావచ్చును అని అంటాడు.

**"త్రైలోక్యస్యాస్య సర్వస్య నాట్యం భావానుకీర్తనమ్,
క్వచిద్ధర్మః క్వచిత్క్రీడా క్వచిదర్థః క్వచిచ్ఛమః."** (నా. శా. VII. 104)

అందరికీ ఇష్టం కాకపోయినంత మాత్రంచేత దానిని కూర్చకూడ దనే మాట లేదు అని అంటూ వీతరాగులకు శృంగారం అంటే ఇష్టం లేకపోయినంత మాత్రంచేత శృంగారం రసం కాదంటామా అని ప్రశ్నిస్తాడు. శాంతం అనేది శమం ద్వారా సాధించబడుతుంది. నటునిలో శమం ఉండదు; అందుచేత రూపకాలలో శాంతానికి అవకాశం లేదు అనే

కొందరి అభిప్రాయాన్ని చెప్పి **సంగీతరత్నాకరంలో** - రసాస్వాదం సామాజికునకే కాని నటునికి కాదు కదా; అందుచేత రూపకాలలో కూడ శాంతం ఉండడానికి అభ్యంతరం ఏమీ ఉండకూడదు అని సమాధానం చెప్పబడింది-

> "శాన్తస్య శమసాధ్యత్వాన్నటే చ తదసంభవాత్,
> అష్టావేవ రసా నాట్యేష్వితి కేచిదచూచుదన్.
> తదచారు యతః కంచి న్న రసం స్వదతే నటః,
> సామాజికాస్తు లిహతే రసాన్, పాత్రం నటో మతః".

(సం. రత్నా. x. 1370-71)

నాట్యశాస్త్రంలో భరతుడు ప్రతిపాదించిన రససిద్ధాంతాన్ని గూర్చిన విమర్శ, ఆ గ్రంథం ఆవిర్భవించినది మొదలు నేటివరకు అనేకనాట్యశాస్త్రవ్యాఖ్యానగ్రంథాలలోను ఎన్నో స్వతంత్రఅలంకారశాస్త్రగ్రంథాలలోను, ఆధునికసాహిత్యవిమర్శకుల గ్రంథాదుల లోను నిరంతరంగా జరుగుతూనే ఉంది. ఇక్కడ కొందరు ప్రాచీనవ్యాఖ్యాతల, ఆలం కారికుల అభిప్రాయాలు మాత్రమే సంక్షిప్తంగా చూపబడ్డాయి.

శ్రీః శ్రీః శ్రీః